स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

दर्शनशास्त्र में परास्नातक

अधि नीतिशास्त्र (MAPH-104 (N))

शान्तिपुरम् (सेक्टर–एफ) फाफामऊ

प्रयागराज

अधि नीतिशास्त्र (MAPH-104 (N))

खण्ड–01 अधि नीतिशास्त्र का स्वरूप और क्षेत्र

इकाई 1 अधिनीतिशास्त्र की परिभाषा
इकाई–2 अधिनीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र
इकाई–3 अधिनीतिशास्त्र की मूल समस्याएं
इकाई–4 अधि नैतिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण

खण्ड–2 संज्ञानात्मक सिद्धान्त

इकाई–5 प्रकृतिवाद
इकाई–6 निप्रकृतिवाद
इकाई–7 अतीन्द्रिय सत्ता पर आधारित

खण्ड–3 संज्ञानात्मक सिद्धान्त

इकाई–8 संवेगवाद
इकाई–9 परामर्शवाद

खण्ड–4 नये आयाम

इकाई–10 नब्ब प्रकृतिवाद
इकाई–11 उचित तर्क सम्बन्धी सिद्धान्त
इकाई–12 नैतिक निर्णयों के निगमन की समस्या

खण्ड – 01

अधि–नीतिशास्त्र का स्वरूप और विषय क्षेत्र

शैक्षिक उद्देश्य :

इस खण्ड का अध्ययन करके आप :

1. अधि–नीतिशास्त्र के स्वरूप, अर्थ एवं परिभाषा आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
2. अधि–नीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र के अंतर के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
3. अधि–नीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र के अंतर के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
4. अधि–नैतिक सिद्धांतों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है, का अध्ययन करेंगे।

खण्ड संरचना :

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

1.3.1 अधि–नीतिशास्त्र की परिभाषा।

1.3.2 अधि–नीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र।

1.3.3. अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याएं।

1.3.4. अधि–नैतिक सिद्धांतों का वर्गीकरण।

1.4 सारांश

1.5 शब्दार्थ सूची

1.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें।

1.7 बोध प्रश्न।

1.1 प्रस्तावना :

हम अपने दैनिक जीवन में जिन नैतिक कथनों का प्रयोग करते हैं, अधि–नीतिशास्त्र उनका स्पष्टीकरण तथा तार्किक विश्लेषण करता है। उदाहरणार्थ हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः कहते हैं कि ''सत्य बोलना 'उचित' है'' ''चोरी करना 'अनुचित' है, 'उस अध्यापक का आचरण' बहुत 'अच्छा' है, ''वृद्ध व्यक्ति को कष्ट पहुँचा कर तुमने बहुत 'बुरा' कर्म किया है', 'अतिथि सत्कार करना हमारा 'कर्तव्य' है', ''शहीदों का अपमान नहीं करना 'चाहिए' था, 'संसार में सुख ही एकमात्र 'शुभ' है और दुःख ही एकमात्र 'अशुभ' है'' इत्यादि। उपर्युक्त कथनों तथा इसी प्रकार के अन्य सभी कथनों को हम 'नैतिक कथन' या 'नैतिक निर्णय' कहते हैं जिनका स्पष्टीकरण और विश्लेषण करना अधि–नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि अधि–नीतिशास्त्र नैतिक दर्शन की वह विधा है जो नैतिक भाषा के सभी पक्षों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन, स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण करती है।

1.2 उद्देश्य :

इस खण्ड का उद्देश्य अधि–नीतिशास्त्र के स्वरुप और विषय क्षेत्र के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त करना है। इस खण्ड का अध्ययन करके :

1. हम 'नैतिक कथन' या 'नैतिक निर्णय' कहे जाने वाले कथनों का स्पष्टीकरण और विश्लेषण जानेंगे,
2. हम यह भी जानेंगे कि अधि–नीतिशास्त्र मानकीय नीतिशास्त्र से किन अर्थों में भिन्न है,
3. अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याएं कौन सी हैं और
4. अधि–नैतिक सिद्धांतों का वर्गीकरण किस प्रकार हुआ है।

उपर्युक्त बिन्दुओं से स्पष्ट हो जाता है कि अधि–नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य नैतिक शब्दों अथवा प्रत्ययों के अर्थ का विश्लेषण करके नैतिक निर्णयों के स्वरुप को स्पष्ट करना तथा उनके प्रमाणीकरण की विधियों का विवेचन करना है।

1.3 पाठ प्रस्तुतीकरण :

1.3.1 अधि–नीतिशास्त्र की परिभाषा :

किसी शास्त्र में अर्थ तथा औचित्य का स्पष्ट ही बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है और नीतिशास्त्र इस सम्बन्ध में कोई अपवाद नहीं हो सकता। यहां यह ध्यातव्य है कि नैतिक उपदेशों का अर्थ समझना या उनका औचित्य निर्धारित करना, नैतिक उपदेश देना या सुनना नहीं होता। अर्थ स्पष्टीकरण या औचित्य निर्धारण तो विश्लेषण एवं विवेचन पर आधारित होता है, और ऐसा कार्य वह व्यक्ति भी कर सकता है जो प्रासंगिक विचाराधीन उपदेशों को स्वीकार नहीं भी कर रहा होता है। मैं यदि कोई नैतिक उपदेश दे रहा होता हूँ, तो मुझसे यह उपदेश उचित ही है कि मैं स्वयं उस उपदेश के प्रति प्रतिबद्ध रहूँ, अन्यथा मैं ढोंगी माना जाऊँगा और उस अवस्था में मेरे उपदेश का सुनने वालों पर कोई असर नहीं पड़ेगा। पर ऐसी प्रतिबद्धता उस चिंतक से अपेक्षित नहीं की जा सकती जो किसी नैतिक उपदेश के अर्थ का विश्लेषण या उसके किसी नैतिक उपदेश के अर्थ का विश्लेषण या उसके औचित्य का निर्धारण कर रहा होता है। किसी निष्पक्ष विवेचक ये यह अपेक्षा करना उचित नहीं है कि वह अपने विवेच्य उपदेश का समर्थन करे और उसी के अनुरुप कार्य करे।

अर्थ विश्लेषण या औचित्य निर्धारक अपने आपमें मात्र एक विवेचक या विचारक होता है। इस रूप में वह कोई नैतिक कर्ता के रूप में कार्य–निष्पादन नहीं होता। अर्थ विश्लेषण तथा औचित्य–निर्धारण ज्ञान संबंधी कार्य होते हैं, इन्हें नीति के अनुरुप जीवनयापन के साथ नहीं मिला देना चाहिए। नैतिकता संबंधी अर्थ विश्लेषण एवं औचित्य निर्धारण को नीतिशास्त्र की परिधि में लाना उचित नहीं है यही कारण है कि इन्हें

नीतिशास्त्र के अन्तर्गत नहीं रखकर अधिनीतिशास्त्र नामक शास्त्र के अन्तर्गत रखा जाता है। इस अध्याय में हम इसी अधिनीतिशास्त्र के संबंध में विस्तार से विचार करेंगे।

नैतिक दर्शन की एक व्यवस्थित और स्वतंत्र विधा के रूप में अधि–नीतिशास्त्र का उदय तथा विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ है। बीसवीं शताब्दी में अधि–नीतिशास्त्र के उद्‌गम का श्रेय जी.ई.मूर को दिया जा सकता है। 1903 में प्रकाशित अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्सपिया एथिका' में सर्वप्रथम उन्होंने ही 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों के अर्थ के विषय में प्रश्न उठाकर नैतिक दर्शन में एक नवीन युग का सूत्रपात किया।

मूर से पूर्व नीतिशास्त्री ''हमारा कर्तव्य क्या है'', ''हमारे कौन से कर्म उचित या अनुचित हैं'' आदि मानकीय नीतिशास्त्र वस्तुएं हमारे लिए शुभ या अशुभ है'' आदि मानकीय नीतिशास्त्र संबंधी प्रश्नों पर ही प्रायः मूर ने सर्वप्रथम अधि–नीतिशास्त्र संबंधी यह प्रश्न भी उठाया कि ''शुभ', 'अशुभ' आदि नैतिक शब्द का अर्थ क्या है – अर्थात् हम इनकी परिभाषा किस प्रकार कर सकते हैं। नैतिक शब्दों की परिभाषा से सम्बन्धित मूर के उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में तार्किक प्रत्यक्षवाद तथा भाषा विश्लेषण विषयक विचारधारा के उदय के फलस्वरुप की अधि–नीतिशास्त्र का पर्याप्त विकस हुआ।

नैतिक कथनों अथवा निर्णयों के सम्बन्ध में मुख्यतः उनके अर्थ, स्वरुप और प्रमाणीकरण को परिभाषित करने वाला शास्त्र अधि–नीतिशास्त्र है। यहां यह उल्लेखनीय है कि नैतिक भाषा का विश्लेषण करते समय अधि–नीतिशास्त्र यथासम्भव तटस्थ रहता है– अर्थात् वह किसी विशेष मानकीय नैतिक सिद्धांत का समर्थन या खण्डन नहीं करता। वह तटस्थ प्रेक्षक तथा आलोचक के रूप में नैतिक भाषा की मूल विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

अधि–नैतिक सिद्धांतों की इसी तटस्थता का उल्लेख करते हुए संवेगवाद के प्रमुख प्रणेता, ए.जे.एयर अपनी पुस्तक 'फिलॉसोफिकल एसेस' में कहते हैं कि ''दार्शनिक

सिद्धांतों के रूप में सभी नैतिक सिद्धांत – अंतःप्रज्ञावाद, प्रकृतिवाद, वस्तुनिष्ठवाद, संवेगवाद तथा अन्य सिद्धांत – वास्तविक आचरण के संबंध में तटस्थ है।'' इन्हीं के समान संवेगवादी सी.एल. स्टीवेन्सन ने भी अपनी पुस्तक 'एथिम्स एण्ड लैंग्वेज में उद्धृत किया है कि – अधि–नीतिशास्त्र से किसी व्यक्ति को यह जानने की आशा नहीं करनी चाहिए कि कौन या आचरण का उद्देश्य सदैव अप्रत्यक्ष होता है – फिर चाहे वह विज्ञान का हो या नीतिशास्त्र का। यह दूसरों को इस योग्य बनाने का प्रयास करता है कि वे समय और शक्ति नष्ट कर सके।' इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अधि–नीतिशास्त्र आचरण की दृष्टि से अधि–नीतिशास्त्र को तटस्थ मानते हैं।

अधि–नीतिशास्त्र की प्रमुख विषय–वस्तुएं चार हैं :

1. नैतिकता का स्पष्टीकरण,
2. नैतिक प्रत्ययों का अर्थ विश्लेषण तथा नैतिक निर्णयों का स्वरुप निर्धारण,
3. नैतिक मनोविज्ञान,
4. नैतिक निर्णयों का औचित्यीकरण।

हम यहां इन सभी विषय वस्तुओं को क्रमशः व्याख्या करेंगे।

नैतिकता का स्पष्टीकरण :

अधिनीतिशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय नैतिकता की अवधारणा की व्याख्या करना और इससे नैतिकता से इतर अवधारणाओं के भेद को स्पष्ट करना है। साधारणतः लोग नैतिका को आध्यात्मिकता, मजहब, परलोकपरक, सुख प्राप्ति, जैसे विषयों के साथ परस्पर मिला देते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि लोग आत्मकल्याणपरक दृष्टि को ही नैतिक दृष्टि मान लेते हैं। परिणामस्वरुप नैतिकता के सम्बन्ध में ऐसे भी निष्कर्ष निकाले जाते हैं जो नैतिकता की परिधि से पूर्णतः बर्हिगत होते हैं। स्पष्ट ही ऐसा निष्कर्ष निकालना कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार या स्वर्गप्राप्ति है नैतिकता की अवधारणा के अनुकूल नहीं है। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि नैतिकता की

अवधारणा का सूक्ष्मता से विश्लेषण हो और नैतिक दृष्टिकोण को अन्य दृष्टिकोण से पृथक कर उसके वास्तविक स्वरुप को समझा जाय। यहां यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के विश्लेषण एवं विवेचन से नैकि नियमों, सिद्धांतों या मूल्यों का निर्धारण नहीं हो जाता, वरन् इनसे तो नैतिकता के प्रत्यय का मात्र स्पष्टीकरण ही होता है।

नैतिक प्रत्ययों का अर्थ–विश्लेषण तथा नैतिक निर्णयों का स्वरुप–निर्धारण :

सामान्यतः लोग नैतिक आचरण के सम्बन्ध में भूल इसलिए कर जाते हैं कि उन्हें महत्वपूर्ण नैतिक संप्रत्ययों का सही–सही ज्ञान उपलब्ध ही नहीं रहता। 'अच्छा' एक नैतिक संप्रत्यय है। 'आपने अच्छा काम किया है', 'आपका चरित्र अच्छा है', 'आपका निश्चय अच्छा है' – इन वाक्यों में 'अच्छा' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन वाक्यों को जानने के लिए ''अच्छा' का सही–सही अर्थ जानना अत्यावश्यक है। इसलिए जब तक हम इस शब्द के विभिन्न प्रयोगों का सूक्ष्मता से विश्लेषण नहीं कर लेते, तब क हम यह कैसे जान सकते है कि इस शब्द का प्रयोग आचरण एवं चरित्र की स्वीकार्यता, अनुकरणीय एवं अनुपालनीयता के लिए भी हो सकता है।

शब्दों के ऐसे ही प्रयोग को नैकि प्रयोग कहा जाता है, और जिन शब्दों या पदों या निर्णयों का नैतिक प्रयोग होता है, उन्हें ही नैतिक शब्द या निर्णय का नैतिक प्रयोग होता है, उन्हें ही नैतिक शब्द या निर्णय कहते हैं। ऐसे शब्दों या पदों का प्रयोग जिन वाक्यों में होता है, वे वाक्य नैतिक निर्णय कहलाते हैं। अतः नैतिक पदों के अर्थ–विश्लेषण के अतिरिक्त नैकि निर्णयों का स्वरुप–निर्धारण भी अधि–नीतिशास्त्र का प्रमुख विषय हो जाता है।

नैतिक मनोविज्ञान :

मनुष्य के द्वारा अनेकानेक प्रकार की क्रियाएं की जाती है, पर उनकी सभी प्रकार की क्रियाओं को नैतिक परिधि के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता है। मनुष्य रात–दिन

साँस लेता है, लेकिन हम उसके इस कार्य की कोई प्रशंसा या भर्त्सना नहीं करते। पर उसके अनेक कर्म ऐसे अवश्य होते हैं जिसके आधार पर हम उसकी या तो प्रशंसा करते हैं या निंदा करते हैं। ऐसा क्यों होता है? कर्म की वह कौन सी विशिष्टा है जिसके कारण उसका कर्ता या तो प्रशंसा का पात्र होता है या निन्दा का। निश्चय ही कर्म की वह विशिष्टता उसके एक विशिष्ट प्रकार के मनोवैज्ञानिक स्वरुप पर आधारित होगी। इसलिए जब तक कर्म के उस मनोवैज्ञानिक स्वरुप को भली–भाँति समझ न लिया जाय, तब तक उसकी विशिष्टता को ठीक प्रकार से समझा नहीं जा सकता। स्पष्ट ही इस संदर्भ में इच्छा, संकल्प, स्वतंत्र, संकल्पन, उत्प्रेरक, अभिप्राय आदि मनोवैज्ञानिक व्यापार विशेष रूप से प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण है। अतः ऐसे मनोवैज्ञानिक व्यापारों का सम्यक् विश्लेषण अधि–नीतिशास्त्र का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग होता है।

नैतिक निर्णयों का औचित्यीकरण :

मनुष्य चूंकि बौद्धिक प्राणी है इसलिए वह अपने जीवनयापन के क्रम में किसी कार्य संपादन के संदर्भ में या फिर चरित्र निर्माण कें संदर्भ में शुभ तथा अशुभ में या नैतिक तथा अनैतिक में भेद का होना समझ ही सकता है और उसे भेद को समझकर ही वह उचित निर्णय ले सकता है और फिर अपने ऐसे निर्णयों के आधार पर ही वह अपनी सही जीवनशैली निरुपित कर ले सकता है। स्पष्ट है कि नैतिक औचित्यीकरण अधिनीतिशास्त्र का प्रमुख विषय हो सकता है।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अधि–नीतिशास्त्र नैतिक भाषा के सभी पक्षों के स्पष्टीकरण एवं तटस्थ तार्किक विश्लेषण का शास्त्र है जो उन सभी प्रश्नों का व्यवस्थित रूप से उत्तर देने का प्रयास करता है जिनका सम्बन्ध नैतिक कथन या निर्णय के अर्थ, स्वरुप और प्रमाणीकरण से है। इसी कारण इसे 'विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र' की भी संज्ञा दी जाती है।

1.3.2 अधि–नीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र :

अमेरिका के प्रसिद्ध नैतिक विचारक सी.एल.स्टीवेन्शन की पुस्तक 'एथिक्स एण्ड लैंग्वेज' सन् 1944 ई. में प्रकाश में आयी। इस कृति में स्टीवेन्शन ने सर्वप्रथम अधि–नीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र की पृथकता की चर्चा की है। स्टीवेन्शन के साथ रूडोल्फ कार्नेप, ए.जे.एयर, ए.ई.टूलमिन, आर.एम.हेयर, पी.एच.नॉवेल स्मिथ इत्यादि अनेक विचारकों ने इस क्षेत्र में कार्य किया है।

मानकीय नीतिशास्त्र की समस्याएं और उद्देश्य अधि–नीतिशास्त्र की समस्याओं और उद्देश्य के साक्षेप प्राथमिक दृष्टि से भिन्न–भिन्न प्रतीत होते हैं। मानकीय नीतिशास्त्र तथा अधि–नीतिशास्त्र के अंतर को हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं।

सामान्यतः हम देखते हैं कि व्यावहारिक जीवन में मनुष्य का मार्गदर्शन करना अधि–नीतिशास्त्र का उद्देश्य नहीं है, इसलिए वह मानवीय आचरण के लिए किसी मानकीय सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं करता। मानकीय नीतिशास्त्र हमें कार्य मानकीय नीतिशास्त्र का है। मानकीय नीतिशास्त्र हमें यह समझाता है कि मनुष्य के लिए स्वतः साध्य शुभ क्या है, उसके कौन से कार्य उचित है और कौन से अनुचित, अपने प्रति और दूसरों के प्रति उसका कर्तव्य क्या है, शुभ, अशुभ तथा उचित–अनुचित अथवा कर्तव्य का निर्धारण किन नैतिक सिद्धांतों के आधार पर किया जा सकता है, इत्यादि। मानव जीवन के लिए परम शुभ तथा कर्तव्य के संबंध में सामान्य एवं सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करना और समुचित तर्कों द्वारा इन सिद्धांतों को युक्तिसंगत सिद्ध करना मानकीय नीतिशास्त्र का उद्देश्य है। इन सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों द्वारा मानकीय नीतिशास्त्र व्यावहारिक जीवन में मनुष्य का मार्गदर्शन करता है।

मानकीय नीतिशास्त्र हमें बताता है कि हमारे लिए शुभ क्या है और क्या करना चाहिए, जबकि अधि–नीतिशास्त्र ''सुख हमारे लिए शुभ है'' तथा ''परोपकार हमारा कर्तव्य है'' जैसे नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं स्वरुप का स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण करता है।

मानकीय नीतिशास्त्र मनुष्य का मार्गदर्शन करने के लिए प्रतिपादित नैतिक सिद्धांतों के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करता है, जबकि अधि–नीतिशास्त्र इन तर्कों के स्वरुप तथा इनकी विधियों पर विचार करता है और इन तकों की प्रामाणिकता की निष्पक्ष रूप से परीक्षा करता है।

इस प्रकार हमने देखा कि अधि–नीतिशास्त्र उन नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरुप का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करता है जो हम मानकीय नीतिशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार अपने व्यावहारिक जीवन में करते हैं। इसी प्रकार अधि–नीतिशास्त्र उन तर्कों के स्वरुप को स्पष्ट करता है जो मानकीय नीतिशास्त्र अपने नैतिक सिद्धांतों के पुष्टि के लिए प्रस्तुत करता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक युग में तार्किक भाववादी जैसे दार्शनिक सम्प्रदाय केवल अधि–नीतिशास्त्र को ही पूर्ण नीतिदर्शन मानने लगे थे। उदाहरणार्थ ए.जे. एयर ने अपनी पुस्तक 'फिलॉसफिक एसेज' में लिखा है कि 'नैतिक दर्शन के लिए प्रश्न यह नहीं है कि कोई विशेष कार्य उचित है या अनुचित, अपितु प्रश्न यह है कि किसी कर्म को उचित अथवा अनुचित कहने का अर्थ क्या है। पी.एच.नावेलस्मिथ इसी तथ्य पर और अधिक जोर देते हुए अपनी पुस्तक 'एथिक्स' में कहते हैं कि 'नैतिक दार्शनिक का मुख्य कार्य नैतिक निर्णय देना नहीं, अपितु उनके स्वरुप का विश्लेषण करना है। इसी मत का समर्थन करते हुए आर.एम.हेयर हैं कि 'नीतिशास्त्र नैतिक भाषा का तार्किक अध्ययन है।

परन्तु प्रो. वेद प्रकाश वर्मा जैसे विचारकों के मतानुसार अधि–नीतिशास्त्र का कार्य मानकीय नीतिशास्त्र के निर्णयों के स्वरुप का विश्लेषण करना है, जिससे उन्हें स्पष्ट रूप से समझा जा सके। अर्थात् अधि–नीतिशास्त्र वास्तव में मानकीय नीतिशास्त्र को समझने का एक महत्वपूर्ण साधन है। मानकीय नीतिशास्त्र के निर्णयों या सिद्धांतों के अभाव में अधि–नीतिशास्त्र की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसलिए इस दृष्टि से वह

अपने अस्तित्व और अपनी सार्थकता के लिए अन्ततः मानकीय नीतिशास्त्र पर ही निर्भर है।

वस्तुतः मानकीय नीतिशास्त्र पर ही निर्भर है। सम्पूर्ण नैतिक दर्शन न होकर नैतिक दर्शन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विधा है, जिसकी सहायता से नैतिक भाषा के अर्थ और स्वरुप को सम्यक् रूपेण समझ सकते हैं। मानकीय नीतिशास्त्र की समस्याओं के समुचित एवं संतोषप्रद समाधान में अधि–नीतिशास्त्र निश्चय ही अत्यधिक सहायक है। अतः इस दृष्टि से मानकीय नीतिशास्त्र के पूरक अथवा सहायक के रूप में अधि–नीतिशास्त्र का अत्यधिक महत्व है।

1.3.3 अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याएं :

अधिनीतिशास्त्र का एक प्रमुख विषय नैतिकता से सम्बद्ध संप्रत्ययों का विश्लेषण होता है, तथा जिन निर्णयों में वे संप्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। उनका स्वरुप निर्धारण होता है। बिना उपर्युक्त विश्लेषण एवं निर्धारण के नैतिक संप्रत्यय एवं नैतिक निर्णयों की सही जानकारी प्रायः संभव नहीं हो सकती है। हम साधारणतय पाते हैं कि नैतिकता के संदर्भ में 'शुभ', 'उचित', 'चाहिये', 'कर्तव्य', 'बाध्यता' आदि संप्रत्यय ही प्रयोग में आते रहते हैं। इसलिए इन नैतिक संप्रत्ययों का सूक्ष्मता से विश्लेषण करना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा नहीं करने से कभी तो उन निर्णयों को जिनमें वे संप्रत्यय प्रयुक्त होते हैं समझना भी कठिन हो जा सकता है और जब तक नैतिक निर्णयों को अभिव्यक्त करने वाले वाक्यों का सही–सही निर्देश पाना भी संभव नहीं हो सकता। इस बिन्दु को एक उदाहरण के द्वारा अधिक अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सकता है। हम प्रायः कहते हैं कि 'चोरी करना अचुचित है।'' इस वाक्य का निहितार्थ है कि चोरी नहीं करना चाहिये। इस प्रकार हम पाते हैं कि 'अनुचित' शब्द में माना मना करने कि एक शक्ति छिपी हुई है। स्पष्ट ही इस छिपी हुई को उजागर करने के लिए 'अनुचित' शब्द का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

विश्लेषण करने से ही यह पता लग सकता है कि ''चोरी करना अनुचित है' एक वर्णनात्मक वाक्य नहीं, वरन् एक नियोजक वाक्य है। और तब यह प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है कि इस प्रकार के नियोजन का औचित्य क्या है? इस प्रकार विश्लेषण के साथ–साथ औचित्य निरुपण भी अपेक्षित हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि नैतिकता से सम्बद्ध संप्रत्ययों के विश्लेषण से तथा इन संप्रत्ययों से युक्त वाक्यों के स्वरुप निर्धारण से नैतिक दिशा–निर्देश का ज्ञान हो सकता है। अतः ऐसे विश्लेषण का स्वरुप निर्धारण नैतिकता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाते हैं और ये कार्य अधिनीतिशास्त्र की मूल समस्या ही बन जाते हैं।

अधि–नीतिशास्त्र की तीन मूल समस्याएं हैं। ये समस्याएं नैतिक कथनों या निर्णयों के सम्बन्ध में उठने वाले मुख्यतः तीन प्रश्न ही हैं, जो निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किए जा सकते हैं :

1. नैतिक कथनों या निर्णयों का अर्थ क्या है?
2. नैतिक कथनों या निर्णयों का स्वरुप क्या है?
3. नैतिक कथनों या निर्णयों का तर्कों द्वारा प्रमाणीकरण क्या संभव है?

अब अधि–नीतिशास्त्र के उपरोक्त तीनों मूल समस्याओं पर क्रमशः विचार किया जायेगा।

1. अधि–नीतिशास्त्र की पहली मूल समस्या का सम्बन्ध नैतिक भाषा के अर्थ का स्पष्टीकरण और विश्लेषण से है। इस हेतु की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम नैतिक शब्दों या प्रत्ययों के अर्थ अथवा उनकी परिभाषा पर विचार किया जाता है। हम अपने दैनिक जीवन में 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि जिन नैतिक शब्दों का प्रयोग करते हैं वे हमें सामान्यतः अध्यधिक सरल प्रतीत होते हैं। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से इन नैतिक शब्दों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इनका कोई स्पष्ट, निश्चित और सर्वमान्य अर्थ बताना लगभग असंभव है।

अनेक दार्शनिकों ने अपने'अपने सिद्धांतों के अनुरुप इन नैतिक शब्दों की है और हमारे व्यावहारिक जीवन में इनके महत्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इन दार्शनिक ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है कि विभिन्न प्रसंगों तथा परिस्थितियां इन शब्दों के नैतिक और निनैतिक उपयोग में क्या अंतर होता है। उदाहरणार्थ हम 'उचित' शब्द का प्रयोग मनुष्य तथा उसके चरित्र के लिए भी करते हैं और भौतिक वस्तुओं के लिए भी। हम कहते हैं कि 'उस व्यक्ति का कार्य न्याय की दृष्टि से उचित है।' इसी तरह से हम यह भी कहते हैं कि 'औषधियों का अनुपात उचित है।' प्रथम कथन में 'उचित' शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में हुआ है तथा दूसरे कथन में इस शब्द का प्रयोग निनैतिक अर्थ में किया गया है।

इसी प्रकार अन्य अनेक नैतिक शब्दों जैसे शुभ, अच्छा, कर्तव्य आदि का प्रयोग भी नैतिक तथा निनैतिक दोनों अर्थों में किया किया जाता है। अधिनीतिशास्त्र ही हमें यह बताता है कि इन शब्दों के उक्त दोनों अर्थों में आधारभूत क्या अंतर है और इस अंतर का कारण क्या है?

2. अधि–नीतिशास्त्र की दूसरी समस्या का सम्बन्ध नैतिक कथनों अथवा निर्णयों के स्वरुप से है। क्या नैतिक निर्णय वैज्ञानिक कथनों की भाँति तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक होते हैं? अथवा क्या ये निर्णय हमारी भावनाओं को व्यक्त करने तथा अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जागृत करने वाले संवेगात्मक या परामर्शात्मक वाक्य है? अथवा क्या ये निर्णय केवल हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं को अभिव्यक्त करने वाले व्यक्तिनिष्ठ कथन हैं। इन सभी प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों पर अधि–नीतिशास्त्र की उपर्युक्त दूसरी समस्या के अन्तर्गत विचार किया जाता है।

यह स्पष्ट है कि दूसरी समस्या के उपर्युक्त प्रश्नों का सम्बन्ध नैतिक निर्णय के स्वरुप तथा उद्‌देश्य से है। इन निर्णयों के स्वरुप का विश्लेषण करते हुए अधि–नीतिशास्त्री हमें यह बताते हैं कि हमारे वास्तविक जीवन में इनका

वास्तविक उपयोग अथवा कार्य क्या है और हम इनका प्रयोग किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करते हैं।

3. अधि–नीतिशास्त्र की तीसरी मूल समस्या नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण से सम्बन्धित है। इस समस्या के अन्तर्गत जिन प्रश्नों पर विचार किया जाता है। उनमें से कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं – क्या कुछ युक्तियां अथवा तर्क दे सकते हैं? यदि हम तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं तो इन तर्कों का स्वरुप क्या होगा? क्या वे उसी प्रकार के तर्क हैं जिस प्रकार के तर्क हमने अपने तथ्यात्मक निर्णयों की पुष्टि के लिए देते हैं? यदि ये तर्क भिन्न प्रकार के हैं तो वे कौन से तत्व हैं जो इन तर्कों को तथ्यात्मक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों से पृथक करते हैं। क्या ये तर्क निगमनात्मक या आगमनात्मक प्रकार के तर्क हो सकते हैं। यदि नही ंतो इन निर्णयों को उचित सिद्ध करने के लिए किस प्रकार के विशेष तर्क दिए जा सकते हैं? नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण की इस समस्या को दार्शनिक विशेष महत्व देते हैं, क्योंकि प्रमाणीकरण के अभाव में इन निर्णयों को तर्क संगत या बौद्धिक नहीं माना जा सकता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि केवल अध्ययन की दृष्टि से ही अधि–नीतिशास्त्र की उपर्युक्त तीनों समस्याओं का पृथक–पृथक विवेचन किया गया है, वास्तव में ये तीनों समस्याएं अलग–अलग न होकर परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णयों का अर्थ, स्वरुप तथा प्रमाणीकरण ये तीनों पक्ष एक दूसरे से पृथक न होकर अन्योन्याश्रित है। इनमें से किसी एक समस्या के समाधान जान लेने के पश्चात हम यह भली–भाँति समझ सकते हैं कि वह अन्य दो समस्याओं का समाधान किस प्रकार करेगा। उदाहरणार्थ यदि कोई दार्शनिक यह कहता है कि ''उचित कर्म वह है जो अधिकतम शुभ को उत्पन्न करता है'' और ''शुभ का अर्थ सुख है'' तो हम यह जान सकते हैं कि वह 'अमुक कर्म उचित है' इस नैतिक निर्णय के प्रमाणीकरण के लिए दार्शनिक यह सिद्ध करने का प्रयास करेगा कि वह विशेष कर्म उन सभी कर्मों की अपेक्षा

अधिक सुख उत्पन्न कर सकता है जो उन परिस्थिति में कर्ता के लिए सम्भव है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि अधि–नीतिशास्त्र की उपर्युक्त तीनों समस्याएं एक दूसरे से पूर्णतः सम्बद्ध हैं, अतः इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए किसी एक विशेष अधि–नैतिक सिद्धांत का आधार लेना अनिवार्य हो जाता है। यहां इतना समझ लेना पर्याप्त है कि उपर्युक्त समस्याओं से हम अधि–नीतिशास्त्र के स्वरुप क्षेत्र तथा उद्देश्य को तीन प्रकार से जान सकते हैं।

1.3.4 अधि–नैतिक सिद्धांतों का वर्गीकरण :

प्रस्तुत शीर्षक में हम संक्षेप में कुछ महत्वपूर्ण अधि–नैतिक सिद्धांतों पर विचार करेंगे। इन सिद्धांतों का प्रतिपादन विभिन्न दार्शनिकों ने अधि–नीतिशास्त्र की तीन मूल समस्याओं के समाधान के लिए किया था। पहली समस्या नैतिक कथनों या निर्णयों का अर्थ क्या है? दूसरी समस्या इनका स्वरुप क्या है? तीसरी समस्या क्या इनका तर्कों द्वारा प्रमाणीकरण संभव है? यहां हम इन अधि–नैतिक सिद्धांतों के गुण–दोषों पर विचार किए बिना केवल इनकी संक्षिप्त रूपरेखा ही प्रस्तुत करेंगे जिससे हम को इन सिद्धांतों के संबंध में कुछ प्रारम्भिक आवश्यक जानकारी प्राप्त हो जाए। यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि सभी अधि–नैतिक सिद्धांत नैतिक निर्णयों के अर्थ तथा स्वरुप का विश्लेषण करते हैं और इन निर्णयों के समर्थन में दिये जाने वाले तर्कों के स्वरुप तथा इनके प्रमाणीकरण की विधियों पर विचार करते हैं।

नैतिक भाषा के सम्बन्ध में अभी तक जिन अधि–नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है उन्हें मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जाता है :

1. संज्ञानात्मक सिद्धांत
2. असंज्ञानात्मक सिद्धांत

इन दोनों प्रकार के अधि–नैतिक सिद्धांतों को क्रमशः वर्णनात्मक सिद्धांत तथा अवर्णनात्मक सिद्धांत भी कहा जाता है। इन दोनों प्रकार के अधि–नैतिक सिद्धांतों का

समर्थन करने वाले दार्शनिकों ने दो मूलतः भिन्न दृष्टिकोणें के आधार पर अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया है।

कुछ विचारक तो नैतिक वाक्यों को वर्णनात्मक या ज्ञान सापेक्ष मानते हैं, परन्तु कुछ अन्य अवर्णनात्मक एवं ज्ञान निरपेक्ष। अर्थात् कुछ विचारक कहते हैं कि नैतिक वाक्यों द्वारा एक विशिष्ट प्रकार की वस्तुस्थितियों का वर्णन ही किया जाता है और उनके संबंध मे उपयुक्त प्रकार से ज्ञान भी प्राप्त किया जाता है। परन्तु कुछ विचारकों के अनुसार नैतिक वाक्यों के द्वारा किसी प्रकार का वर्णन नहीं किया जाता और इस कारण उनके द्वारा कोई ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता। हम इन दोनों प्रकार के सिद्धांतों और उनके प्रकारों का एक–एक करके संक्षेप में विचार करेंगे।

संज्ञानात्मक सिद्धांत वह सिद्धांत है जो नैतिक निर्णय को तथ्यात्मक निर्णय के समान ही किन्हीं तथ्यों का वर्णन करने वाला मानते हैं। उदाहरणार्थ 'असहाय व्यक्ति की सहायता करना उचित है' यह नैतिक निर्णय 'पृथ्वी गोल है' इस तथ्यात्मक निर्णय के समान ही है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के समान ही हमें किन्हीं तथ्यों का बोध कराते हैं और इसी कारण ये निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के समान सत्य अथवा असत्य हो सकते हैं।

संज्ञानात्मक अधि–नैतिक सिद्धांतों को मुख्यतः तीन वगों में विभाजित किया जा सकता है :

1. प्रकृतिवादी सिद्धांत
2. निर्प्रकृतिवादी सिद्धांत
3. अतिन्द्रिय सत्ता संबंधी सिद्धांत

प्रकृतिवादी सिद्धांत वे सिद्धांत हैं जिनके अनुसार नैतिक निर्णय के अर्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन किए बिना हम उसकी परिभाषा का परिवर्तन किए बिना हम उसकी परिभाषा मनोवैज्ञानिक, सामाजिक अथवा किसी अन्य निर्नैतिक प्राकृतिक निर्णय के आधार

पर कर सकते हैं। उदाहरणार्थ 'क्षमा करना उचित है' इस नैतिक निर्णय की व्याख्या करते हुए हम कह सकते हैं कि 'क्षमता करना सुखद है'

नैतिक निर्णयों के विषय की व्याख्या के आधार पर प्रकृतिवादी सिद्धांत मुख्यतः दो प्रकार के हैं :

1. व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवादी सिद्धांत
2. वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवादी सिद्धांत

व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवादी सिद्धांत का प्रथम प्रकार है। व्यक्तिनिष्ठवादियों के विचार में नैतिक निर्णय वस्तुओं अथवा कर्मों के विषय में कुछ न कह कर किसी व्यक्ति या समुदाय के कुछ विशेष मनोदशाओं का वर्णन या समुदाय के कुछ विशेष मनोदशाओं का वर्णन मात्र करते हैं। उदाहणार्थ – 'सत्य बोलना उचित है' का अर्थ केवल यही है कि व्यक्ति अथवा समाज सत्य वचन के अपनी सहमति व्यक्त करता है। डेविड ह्यूम, एडवड वेस्टरमार्क, बरट्रेड रसेल आदि अनेक दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

वस्तुनिष्टवाद प्रकृतिवादी सिद्धांत का दूसरा रूप है। इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णय निर्णीत वस्तुओं अथवा कर्मों का वस्तुपरक मूल्यांकन करते हैं। किसी व्यक्ति या सुदाय की मनोदशाओं का वर्णन नहीं। उपयोगितावाद, सुखवाद, विकासवाद आदि सिद्धांत इसी अर्थ में वस्तुनिष्ठवादी सिद्धांत हैं। समकालीन दार्शनिकों में फिलिया फुट, पी.टी.गीच, जी.जे. वारनांक आदि ने किसी न किसी रूप में इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

निर्प्रकृतिवाद वह सिद्धांत है जिनके अनुसार नैतिक निर्णय अनन्य अथवा अद्वितीय निर्णय हैं जिन्हें हम किसी प्रकार के निनैतिक निर्णयों द्वारा कभी भी परिभाषित नहीं कर सकते हैं। नैतिक निर्णय वस्तुतः कुछ विशेष निप्राकृतिक गुणों अथवा संबंधों का वर्णन करते हैं। जिनका ज्ञान हम इन्द्रियजन्य अनुभव या तर्कबुद्धि द्वारा नहीं अपितु 'अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि से हमारा नैतिक ज्ञान अनुभव अथवा प्रमाणों पर आश्रित

न होकर वास्तव में स्वयंसिद्ध होता है। वर्तमान शताब्दी में जी.ई.मूर, डब्ल्यू.डी.रॉस, एच.ए. प्रिचर्ड, सी.डी. ब्रांड आदि अनेक दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

अतीन्द्रिय सत्ता संबंधी सिद्धांत वह सिद्धांत है जो किसी अतीन्द्रिय सत्ता से सम्बन्धित कथनों के आधार पर ही नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं। कथनों के आधार पर मत विभिन्नता के कारण इस सिद्धांत के दो रूप प्राप्त होते हैं।

1. धर्म शास्त्रीय सिद्धांत
2. तत्वमीमांसीय सिद्धांत

धर्म शास्त्रीय सिद्धांत वह सिद्धांत है जिसके अनुसार नैतिक निर्णयों की व्याख्या ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों के आधार पर ही की जा सकती है। जॉन लॉक, विलियम पैले, कार्ल बार्थ, एमिल बूनर आदि अनेक दार्शनिकों ने इस मत को स्वीकार किया है।

तत्वमीमांसीय सिद्धांत – वह सिद्धांत है जो यह मानता है कि ईश्वर के स्थान पर किसी तत्वमीमांसात्मक अलौकिक अथवा अतीन्द्रिय सत्ता के स्वरुप से सम्बन्धित कथनों के आधार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ को स्पष्ट कर सकते हैं। स्पिनोजा, हेगेल, ब्रैडले, ग्रीन आदि दार्शनिक इस मत के समर्थक हैं।

संज्ञानात्मक अधि–नैतिक सिद्धांतों की संक्षिप्त जानकारी के पश्चात अब असंज्ञानात्मक सिद्धांत के प्रमुख रूपों पर विचार करेंगे।

असंज्ञानात्मक सिद्धांत :

नैतिक कथनों या निर्णयों के संबंध में ऊपर विवेचित संज्ञानात्मक या वर्णनात्मक मतों के विरुद्ध आधुनिक पाश्चात्य नीतिदर्शन में घोर प्रतिक्रिया हुई और इसका परिणाम यह हुआ के अनेक विचारक नैतिक कथनों एवं निर्णयों को जानदायक नहीं मानकर उन्हें

संवेगात्मक एवं भावनात्मक मानने लगे। ऐसे विचार पर आधारित मत को अंग्रेजी में 'इमोटिन थ्योरी' कहा गया है।

इस मत के अनुसार नैतिक भाषा ज्ञान देने वाली या किसी प्रकार की वस्तुस्थिति का वर्णन करने वाली भाषा नहीं होती, वह भी संवेग या भावना को व्यक्त करने वाली भाषा होती है। इस बिन्दु को हम एक उदाहरण की सहायता से समझने का प्रयास करें। मान लीजिए मैनें मोहन को बाजार से जल्द–से–जल्द कुछ आवश्यक वस्तुए खरीद कर लाने को कहा। उसने बहुत देर बाद आकर मुझसे कहा कि वह वस्तु नहीं मिली। मैं उसपर क्रोधित हो गया और मैनें उसे प्रत्युत्त देते हुए कह दिया – 'तुम गधे हो'। अब प्रश्न उठता है कि मेरे द्वारा 'तुम गधे हो' का प्रयोग किस तरह का प्रोग्राम है (क्या मैं इस प्रयोग द्वारा मोहन का सही या झूठा वर्णन' कर रहा हूँ? यदि मेरे कथन 'तुम गधे हो' को वर्णनात्मक मान लिया जाये, तो यह स्पष्ट ही एक झूठा वर्णन है। पर क्या मैं मोहन को वास्तविक गधा ही मान रहा था? अवश्य ही इसका उत्तर नकारात्मक होगा, क्योंकि मैं तो मोहन को अनुपयोगी और बेकार मनुष्य समझकर उसपर अपना शेष प्रकट कर रहा था। यदि मैं उसको वास्तविक गधा मान रहा होता, तो मैं उसपर अपना शेष प्रकट ही नहीं करता।

प्रस्तुत उदाहरण वास्तविक रूप में मेरे द्वारा उच्चारित कोई कथन नहीं हो सकता है। वह तो मात्र एक अभिव्यंजक उद्घोष ही हो सकता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'तुम गधे हो' भी क्रोधपरक संवेग को ही अभिव्यक्त है और इस तरह यह कथन संवेग के विकास का ही एक माध्यम है। भाषा के इस तरह के प्रयोग को असंज्ञानात्मक या अवर्णनात्मक प्रयोग कहते हैं।

अधिनैतिक सिद्धांतों का वह वर्ग है जो यह मानता है कि नैतिक निर्णय वक्ता की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं, अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जाग्रत करते हैं और उन्हें कोई कार्य करने या ना करने का आदेश अथवा परामर्श देते हैं। इस प्रकार

नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों से मूलतः भिन्न होते हैं जिसके कारण ये वस्तुनिष्ठ रूप से न तो सत्य हो सकते हैं और न असत्य। असंज्ञानात्मक सिद्धांत के मुख्यतः दो रूप हैं:

1. संवेगवाद
2. परामर्शवाद

संवेगवाद असंज्ञानवाद का प्रथम प्रकार है। जिसके अनुसार नैतिक निर्णय निर्णीत वस्तु या कर्म के विषय में कोई तथ्यात्मक वर्णन नहीं करते हैं। ये तत् सम्बन्ध में केवल निर्णयकर्ता के भावनाओं को व्यक्त करते हैं और श्रोता में इन भावनाओं को जाग्रत करते हैं। स्पष्ट है कि भावनाओं अभिवृत्तियों या संवेगों की अभिव्यक्तियां मात्र होने के कारण ये निर्णय संज्ञानात्मक या वस्तुनिष्ठ रूप से सत्य या असत्य नहीं हो सकते हैं।

कार्नेप, एयर, स्टीवैन्सन आदि अनेक दार्शनिकों ने इसी संवेगवाद द्वारा नैतिक निर्णयों की व्याख्या की है।

परामर्शवाद असंज्ञानवाद का वह रूप है जो यह मानता है कि नैतिक निर्णय स्वयं हमें या दूसरों को कोई कर्म करने या ना करने का परामर्श के स्थान पर हमारा अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करते हैं। इस सिद्धांत के प्रणेता के रूप में आर.एम.हेयर तथा समर्थक के रूप में पी.एच.नावेलस्मिथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखीय है।

अभी तक हमने प्रमुख संज्ञानात्मक तथा असंज्ञानात्मक अधि–नैतिक सिद्धांतों की संक्षिप्त रूपरेखा को जानने का प्रयास किया है। हमने इस सिद्धांतो की सभी विशेषताओं तथा इनके गुण–दोषों सामग्री के अगले खण्डों में विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे। इन सिद्धांतों की उपर्युक्त संक्षिप्त रूपरेखा का उद्देश्य इनकी कुछ आधारभूत मान्यताओं तथा मूल विशेषताओं के संबंध में प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त करना ही था।

1.4 सारांशः

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अधि–नीतिशास्त्र नैतिक कथनों अथवा निर्णयों के अर्थ को विश्लेषित करता है। यह हमें शास्त्र हमें यह समझाने का प्रयास

करता है कि नैतिक निर्णयों या कथनों में व्यक्त की गई बात का तात्पर्य क्या है इन कथनों से क्या व्यक्त करना चाहते हैं।

अधि–नीतिशास्त्र से पूर्व नीति–दर्शन का कार्य नैतिक आदर्शों की स्थापना से था। इसलिए यह मानकीय नीतिशास्त्र कहा जाता था। मानकीय नीतिशास्त्र शुभ, उचित, कर्तव्य, अच्छा इत्यादि नैतिक पदो ंके माध्यम से नैतिक मानक स्थापित करता था। उदाहरणार्थ 'शुभ सुखद है' अर्थात् 'शुभ प्राप्त करना चाहिए' लेकिन अधि–नीतिशास्त्र ने कहा कि 'है' और चाहिए में कोई तादाम्य संबंध नहीं है। प्रत्येक अवस्था मे 'है' से 'चाहिए' निगमित नहीं हो सकता है।

नैतिक कथनों या निर्णयों का विश्लेषण करना अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्या बनी। अधि–नीतिशास्त्र ने नैतिक भाषा के विश्लेषण के संबंध में तीन मूल समस्याओं पर कार्य किया। पहली मूल समस्या कि नैतिक कथनों या निर्णयों का अर्थ क्या है? दूसरी मूल समस्या कि नैतिक कथनों या निर्णयों का स्वरुप क्या है? और तीसरी मूल समस्या कि क्या नैतिक निर्णय या कथनों में का तर्क द्वारा प्रमाणीकरण संभव है?

नैतिक भाषा के विश्लेषण के संबंध में अभी तक जिन अधि–नीतिशास्त्र सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है उन्हें मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। प्रथम संज्ञानात्मक अथवा वर्णनात्मक सिद्धांत और द्वितीय असंज्ञानात्मक अथवा अवर्णनात्मक सिद्धांत। इस दोनों प्रकार के अधि नैतिक सिद्धांतों का समर्थन करने वाले दार्शनिकों ने दो मूलतः भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया है।

कुछ विचारक नैतिक वाक्यों या निर्णयों को वर्णनात्मक या जतन साक्षेप मानते हैं।

संज्ञानात्मक अधि–नैतिक सिद्धांत के मुख्यतः तीन प्रकार प्रकृतिवादी, विप्रकृतिवादी एवं अतीन्द्रिय सत्ता संबंधी सिद्धांत के विचारक तो नैतिक निर्णयों या कथनों को वर्णनात्मक या ज्ञान साक्षेप मानते हैं, परन्तु असंज्ञानात्मक सिद्धांत के दो रूप संवेगवाद एवं परामर्शवाद के समर्थक नैतिक कथनों या निर्णयों को अवर्णनात्मक या ज्ञान निरपेक्ष

मानते हैं। अर्थात् संज्ञानात्मक सिद्धांत के समर्थक कहते हैं कि नैतिक वाक्यों द्वारा एक विशिष्ट प्रकार की वस्तुस्थितियों का ही वर्णन किया जाता है और उनके संबंध में उपयुक्त प्रकार से ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु असंज्ञानात्मक सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार नैतिक वाक्यों द्वारा किसी प्रकार का वर्णन नहीं किया जाता और इस कारण उनके द्वारा कोई ज्ञान भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हमने इस खण्ड में अधि–नीतिशास्त्र के स्वरुप, विषय क्षेत्र एवं परिभाषा, अधि–नीतिशास्त्र एवं मानकीय नीतिशास्त्र में अंतर, अधो–नीतिशास्त्र की तीन मूल समस्याओं और अधि–नीतिशास्त्रीय सिद्धांतों के वर्गीकरण का एक–एक करके विचार किया है।

1.5 शब्दार्थ :

प्रत्यय – विचार

तटस्थ प्रेक्षक – निरपेक्ष द्रष्टा

मानकीय – आदर्श मूलक

साध्य – उद्देश्य

बोध – ज्ञान

संवेग – भावना

1.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें :

1. जॉन हास्पर्स, दार्शनिक विश्लेषण परिचय, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना, 1974
2. वी.एस.सान्याल, एकथम्स एण्ड मेरा–एथिन्स विकास पब्लिकेशन, 1970
3. वेद प्रकाश वर्मा, अधि–नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धांत, अलाइड पब्लिशर्स लिमि., 1995
4. हृदय नारायण मिश्र, उन्नत नीतिशास्त्र, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000

1.7 संभावित बोध प्रश्न :

1. अधि–नीतिशास्त्र का प्रणेता किसे माना जाता है।
2. अधि–नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य क्या है?
3. अधि–नीतिशास्त्र की तीन मूल समस्याएं कौन सी है?
4. अधि–नैतिक सिद्धांतों को किन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है।
4. असंज्ञानवाद के दो मुख्य रूप कौन से है?

दीर्घ उत्तरीय :

1. अधि–नीतिशास्त्र के परिभाषा, स्वरुप और विषय क्षेत्र क्या है?
2. अधि–नीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र के संबंध की विवेचना कीजिए।
3. अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं की व्याख्या कीजिए?
4. अधि–नैतिक सिद्धांतों के वर्गीकरण और उनके मुख्य लक्षणों को बताइए।

****

खण्ड–02

प्रकृतिवाद

खण्ड संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

2.3.1 प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताएं।

2.3.2 व्यक्तिनिष्ठ की आधारभूत मान्यताएं।
उसके मुख्य समर्थक।

2.3.3 व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद की मुख्य समस्याएं।

2.3.4 वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद का स्वरुप और उसके मुख्य समर्थक।

2.3.5 मूल्यांकन।

2.4 सारांश

2.5 शब्दार्थ सूची।

2.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें।

2.7 बोध प्रश्न।

2.1 प्रस्तावना :

प्रकृतिवाद ऐसा संज्ञानात्मक सिद्धांत है जो नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से मूलतः नहीं मानता। जैसा कि इस सिद्धांत के नाम से ही स्पष्ट है इसके समर्थक नैतिक निर्णयों की परिभाषा निनैतिक प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर ही करते हैं। उनका मत है कि इन्द्रियजन्य अनुभव पर आधारित जैविक, सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक तथ्यों

द्वारा हम सभी नैतिक निर्णयों की ठीक–ठीक व्याख्या कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि अनुभवमूलक प्राकृतिक तथ्यात्मक निर्णयों तथा नैतिक निर्णयों में कोई आधारभूत अंतर नहीं है। प्रस्तुत खण्ड में हम इसी सिद्धांत पर विचारपूर्वक विचार करेंगे।

2.2 उद्देश्य :

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात् आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति में सक्षम होंगे :

- प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताओं को जानने में,
- प्रकृतिवाद के दो प्रमुख रूपों व्यक्तिनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ वाद के स्वरुप, समस्याओं और समर्थकों के सामान्य विचार जानने में,
- प्रकृतिवाद के मूल्यांकन को समझने में।

2.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

2.3.1 प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताएं :

प्रकृतिवाद मत के अनुसार नैतिक विशेष प्रकार की वास्तविक सत्तात्मक परिस्थितियों पर ही आधारित होते हैं। मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की जन्मजात एवं अर्जित इच्छाएँ अवस्थित रहती है। उन इच्छाओं की पूर्ति अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा उपयुक्त परिस्थितियों में ही संभव होती है। ऐसी क्रियाओं तथा परिस्थितियों को ही हम क्रमशः उचित तथा शुभ मान सकते हैं। यह सही है कि क्रियाओं को नैतिक रूप से उचित और परिस्थितियों को नैतिक रूप से शुभ मानने के लिए वैयक्तिक दृष्टि से ऊपर उठकर सामाजिक दृष्टि अपनाना पड़ता है। परन्तु उस अवस्था में भी हम वास्तविक या प्राकृतिक धरातल से ऊपर या बाहर नहीं चले जाते। ऐसी स्थिति में भी हमारी नैतिकता इन्द्रियानुभूति साक्षेप ही होती है। ऐसे सभी विचारक जो नैतिकता को इन्द्रियानुभूति से प्राप्त होने वाले गुणों के माध्यम से ही परिभाषित करते हैं, 'नैतिक प्रकृतिवादी' कहलाते

हैं। वेन्थम, मिल, स्पेन्सर, सिजविक चार्वाक आदि विचारक नैतिक प्रकृतिवादी ही है। इनके अनुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक होते हैं और तथ्य की तथ्यात्मक विशिष्टता के आधार पर ही उनका नैतिक मूल्य निर्धारित होता है। ''परस्पर प्रेम अच्छा है।'' यह एक नैतिक निर्णय है। इस निर्णय का अर्थ यही है कि परस्पर प्रेम करने से समाज का संरक्षण होता है और लोगों को सुखानूभूति प्राप्त होती है। इस निर्णय में अप्राकृतिक या अतिप्राकृतिक कुछ भी नहीं है।

प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताओं को स्पष्ट करने के लिए उसके मुख्य बिन्दुओं को निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं :

– नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णय के समान होते हैं।

– नैतिक निर्णय अनुभव द्वारा सत्यानपीय होते हैं।

– नैतिक समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक विधियों द्वारा कर सकते हैं।

अब उपरोक्त बिन्दुओं को एक–एक करके क्रमशः जानने का प्रयास करेंगे।

प्रकृतिवादियों के अनुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णय के समान होते हैं। जब हम कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो हम सुख, इच्छा, भावना, रूचि, विकास आदि प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर उसके अर्थ को भली–भांति स्पष्ट कर सकते हैं। उदाहरणार्थ ''अमुक कर्म (यथा, सत्य बोलना, परोपकार आदि) उचित है' इस नैतिक निर्णय का अर्थ स्पष्ट करते हुये हम यह कह सकते हैं कि वह कर्म स्वयं वक्ता के लिए अथवा अन्य व्यक्तियों के लिए सुखद है, उनकी किसी इच्छा को संतुष्ट करता है या उनकी रूचि के अनुरूप है। इसी प्रकार 'अमुक कर्म (यथा ईर्ष्या करना, क्रोध करना आदि) अनुचित है' इस नैतिक निर्णय को अर्थ की व्याख्या करते हुए हम यह कह सकते हैं कि वह कर्म स्वतः वक्ता के लिए दुःखद है, उनकी इच्छा पूर्ति में बाधक है अथवा उनके रूचि के विरुद्ध है। अन्य सभी नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या भी हम इसी प्रकार कुछ प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर कर सकते हैं। इन विज्ञानों में प्रयुक्त प्राकृतिक शब्दों की भांति ये

नैतिक शब्द की कुछ प्राकृतिक गुणों की ओर संकेत करते हैं जिनकी उपस्थिति का ज्ञान अनुभव तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

प्रकृतिवाद नैतिक समस्याओं के समाधान हेतु वैज्ञानिक विधियों को सहायक मानता है। प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक शब्द में व्याप्त उपर्युक्त प्राकृतिक गुण, उन कर्मों, अनुभवों तथा मनुष्यों में पाये जाते हैं जिनके विषय में हम नैतिक निर्णय देते हैं। इन प्राकृतिक गुणों पर आधारित होने के कारण नैतिक निर्णय भी वस्तुता अनुभवनात्मक एवं तथ्यात्मक होते हैं और इसी कारण अनुभवात्मक एवं तथ्यात्मक होते हैं और इसी कारण तथ्यात्मक निर्णयों की भांति इन निर्णयों की परीक्षा भी प्रयोग तथा निरीक्षण संबंधी वैज्ञानिक विधियों द्वारा की जा सकती है।

नैतिक शब्दों या निणयों के विषय में प्रकृतिवादियों के विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार नीतिशास्त्र भी सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों की भांति अनुभवमूलक वर्णनात्मक विज्ञान है। रिचर्ड वी ब्रान्ट के शब्दों में, 'प्रकृतिवाद यह मानता है कि नैतिक कथन तथा विज्ञान के कथन में वस्तुतः कोई अंतर नहीं है, नीतिशास्त्र अनुभवात्मक विज्ञान का ही एक भाग है।''

प्रकृतिवाद की उपर्युक्त आधारभूत मान्यताओं से यह स्पष्ट है कि इस सिद्धांत में वैज्ञानिक अथवा अतीन्द्रिय सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के समर्थक ऐसी किसी भी सत्ता से सम्बन्धित कथनों के आधार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या नहीं करते। वे केवल प्राकृतिक कथनों द्वारा ही इन निर्णयों की परिभाषा करते हैं। वै नैतिक निर्णयों को प्राकृतिक तथ्यात्मक निर्णय मानकर इन निर्णय के समर्थन में वैसे ही तर्क देते हैं जैसे अनुभवमूलक तथ्यात्मक निर्णयों की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे नैतिक निर्णयों को ईश्वर विषयक धार्मिक और तत्वमीमांसीय कथनों से मूलतः भिन्न मानते हैं।

प्रकृतिवाद की उपर्युक्त आधारभूत मान्यताओं के विरोध में एक तर्क जो दिया जाता है उसे 'खुला प्रश्न तर्क' का नाम दिया गया है। इस तर्क के अनुसार प्रकृतिवादी

मत नैतिकता की व्याख्या करने में सफल नहीं होता है, क्योंकि उसके द्वारा व्याख्या करने के बाद भी अनेक नैतिकता संबंधी प्रश्न अनुतरित ही रह जाते हैं और वे प्रश्न के रूप में बने रहते हैं। कुछ उदाहरणों के द्वारा हम इस बिन्दु को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति कहता है कि – 'सुख शुभा है।' इस नैतिक निर्णय की प्रकृतिवादी व्याख्या यह हो सकती है कि सुख शुभ इसलिए है कि सुख हमारी इच्छा की पूर्ति का परिणाम है। हमें भूख लगती है, फलस्वरुप हमें भोजन करने की इच्छा होती है, हम भोजन करते हैं और तृप्त होते हैं, और इस प्रकार हमें सुख प्राप्त होता है। यह सुख कोई आश्चर्यजनक वस्तु नहीं है, यह तो एक प्राकृतिक अनुभूति है जो हमें आनन्द प्रदान करती है और इसलिए हम इसे अच्छा कहते है। यह अच्छा होना सुख देने का ही मानों पर्याय है और वह एक प्रकार की वास्तविक सत्तात्मक स्थिति ही है जिसका हम वर्णन कर सकते हैं और जिसका ज्ञान में इन्द्रियानुभूति के द्वारा प्राप्त हो सकता है। लेकिन यदि वह अच्छापन एक प्रकार की वास्तविकता है जो इन्द्रियानुभूति से बोधगम्य है, तो हम भी यह प्रश्न उठा ही सकते है कि क्या हम इस प्रकार की वास्तविकता का अनुभव प्राप्त करना चाहिए और दूसरों को भी इसे प्राप्त करने की सलाह देनी चाहिए। हम मानते हैं कि नैतिक शुभत्व के साथ उसकी ग्राह्यता, स्वीकार्यता, अनुशंसनीयता तथा सार्वजनिकता जुड़ी रहती है। स्पष्ट ही ऐसा करना बिल्कुल असंगत होगा कि मैं सुख को अच्छा मानता हूँ, पर मैं उसे नहीं चाहता, न मैं दूसरों को इसे प्राप्त करने की सलाह दे सकता हूँ और न ही समान परिस्थितियों में दूसरों के लिए भी अच्छा हो सकता है। लेकिन क्या यह सत्य नहीं है कि कुछ ऐसे भी सुख होते हैं जिन्हें अनेकानेक लोग न तो ग्राह्य, न अनुशंसनीय और न ही किसी के द्वारा अनुभूतियोग्य मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृतिवादी व्याख्या के बाद भी यह प्रश्न कि 'क्या सुख अच्छा है? खुला का खुला ही रह जाता है। वास्तविकता यह है कि प्रकृतिवादी प्रकृतिवाद की सीमा में रहकर उपर्युक्त प्रश्न का समुचित और संतोषप्रद उत्तर दे ही नहीं सकते।

2.3.2 व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद का स्वरुप और उसके मुख्य समर्थक :

व्यक्तिनिष्ठवाद का स्वरुप :

व्यक्तिनिष्ठ वह प्रकृतिवादी सिद्धांत है जो नैतिक शब्दों तथा निर्णयों के अर्थों की व्याख्या किसी व्यक्ति या समुदाय की भावनाओं, अभिवृत्तियों, इच्छाओं या रूचियों के आधार पर ही करता है। इस सिद्धांत के अनुसार जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'अमुक वस्तु शुभ है' अथवा 'अमुक कर्म उचित है' तो इन नैतिक निर्णयों को अर्थ यही है कि स्वयं वक्ता अथवा उसका अनुमोदन करता है। इसी प्रकार जब वह यह कहता है कि 'अमुक वस्तु अशुभ है' अथवा 'अमुक कर्म अनुचित है' तो इन नैतिक निर्णयों का अर्थ केवल यही है कि वह स्वयं अथवा कोई समुदाय उस वस्तु या कर्म को पसंद नहीं करता अथवा उसका अनुमोदन नहीं करता। सभी नैतिक या समुदाय की भावनाओं, अभिवृत्तियों अथवा इच्छाओं के आधार पर ही कर सकते हैं।

व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद के अनुसार हमारे नैतिक निर्णयों के विषय निर्णीत वस्तुएं या कर्म न होकर किसी व्यक्ति या समुदाय की कुछ विशेषताएं भी हैं। उदाहरणार्थ जब मैं कहता हूं कि ''आचार्य शंकर एक श्रेष्ठ मनुष्य थे'' तो मैं अपने इस नैतिक निर्णय द्वारा आचार्य शंकर के विषय में कुछ न कह कर उनके प्रति अपने अनुमोदन की भावना का वर्णन मात्र करता हूँ।

वस्तुतः व्यक्ति निष्ठवादियों की आधारभूत मान्यता यह है कि प्रत्येक नैतिक शब्द या प्रत्यय की परिभाषा किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावना, इच्छा, रूचि, अभिव्यक्ति अथवा किसी अन्य मनोदशा के आधार पर ही की जा सकती है। ऐसी स्थिति में हमारे नैतिक निर्णयों के वस्तुनिष्ठ होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इन निर्णयों को मूलतः व्यक्तिनिष्ठ मानकर ही हम इनके अर्थ को भली–भांति स्पष्ट कर सकते हैं।

व्यक्तिनिष्ठवाद के अनुसार नैतिक निर्णय वस्तुनिष्ठ न होते हुए भी सत्य या असत्य हो सकते हैं। इन निर्णयों के सत्य या असत्य होने का आधार किसी व्यक्ति या समुदाय में उन मनोदशाओं की उपस्थिति अनुपस्थिति है जिनका ये निर्णय वर्णन करते

हैं। यदि किसी व्यक्ति अथवा समुदाय में वह मनोदशा विद्यमान है जिसका नैतिक निर्णय वर्णन करता है तो वह निर्णय सत्य है, इसके विपरीत यदि इसमें यह मनोदशा विद्यमान नहीं है तो इस मनोदशा का वर्णन करने वाला नैतिक निर्णय असत्य है।

व्यक्तिनिष्ठवाद के अनुसार उपर्युक्त आधार पर हम नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के लिए व्यक्ति या समुदाय की कुछ विशेष मनोदशाओं से सम्बन्धित तथ्यात्मक तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठवादी नैतिक निर्णय को किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की कुछ विशेष मनोदशाओं का वर्णन करने वाले तथ्यात्मक निर्णय मानते हैं और मुख्यतः इसी आधार पर उनके अर्थ और स्वरुप की व्याख्या तथा उनके प्रमाणीकरण को सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

व्यक्तिनिष्ठ सिद्धांत के रूप :

व्यक्तिनिष्ठ सिद्धांत के मुख्य दो रूप हैं :

व्यक्तिपरक व्यक्तिनिष्ठवाद

समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद

इस सिद्धांत के 'व्यक्तिपरक रूप' के अनुसार 'क शुभ या उचित है' का अर्थ यह है कि 'मैं (अर्थात् स्वयं वक्ता) 'क' को पसन्द करता हूँ' अथवा 'क' के प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव करता हूँ।'' इसी प्रकार ''क अशुभ या अनुचित है'' का अर्थ यह है कि ''मैं क को पसन्द नहीं करता अथवा मैं उसके प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव नहीं करता हूँ। स्पष्ट है कि व्यक्तिनिष्ठवाद के इस रूप के अनुसार समस्त नैतिक निर्णय स्वयं वक्ता के मनोदशाओं का वर्णन करते हैं।

व्यक्तिपरक रूप का एक अन्य प्रकार भी है जिसके अनुसार नैतिक निर्णय वक्ता के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति की भावनाओं, अभिवृत्तियों अथवा इच्छाओं का वर्णन करते हैं। उदाहरणार्थ 'क' शुभ या उचित है' इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कोई यदि

कोई व्यक्ति 'क' के प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव करता है' तो वह व्यक्तिनिष्ठवाद के इस दूसरे व्यक्तिपरक रूप को ही स्वीकार करता है।

व्यक्तिनिष्ठवाद का समुदायपरक रूप उक्त व्यक्तिपरक दोनों रूपों से भिन्न है। इस समुदायपरक रूप के अनुसार 'एक शुभ या उचित है' का अर्थ यह है कि 'किसी समुदाय के सभी अथवा अधिकांश सदस्य 'क' को पसन्द करते हैं अथवा उसके प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं' इसी प्रकार 'क अशुभ या अनुचित है' का अर्थ यह है कि 'किसी समुदाय के सभी या अधिकांश सदस्य 'क' को पसन्द नहीं करते अथवा उसके प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव नहीं करते हैं। यह स्पष्ट है कि समुदायपरक रूप के समर्थक नैतिक निर्णयों को व्यक्ति के स्थान पर किसी समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्यों की भावनाओं, अभिवृत्तियों अथवा इच्छाओं का वर्णन करने वाले तथ्यात्मक निर्णय मानते हैं। यह समुदाय बहुत सीमित एवं छोटा भी हो सकता है और विश्वव्यापी तथा बहुत बड़ा भी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्तिनिष्ठवाद के सभी रूप नैतिक निर्णयों को व्यक्तिनिष्ठ मानकर उनकी वस्तुनिष्ठत को अस्वीकार करते हैं। इसे हम उक्त सिद्धांत की प्रमुख विशेषता मान सकते हैं।

व्यक्तिनिष्ठवाद के प्रमुख समर्थक :

पाश्चात्य नैतिक दर्शन के इतिहास में अनेक दार्शनिकों ने व्यक्तिनिष्ठवाद उपर्युक्त सिद्धांत का समर्थन किया है। इन दार्शनिकों में डेविड ह्यूम, एडवर्ड वेस्टरमार्क, बरट्रेन्ड रसल तथा आर.बी.बैरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी दार्शनिकों ने नैतिक निर्णयों के स्वरुप तथा प्रमाणीकरण के विषय में व्यक्तिनिष्ठवाद के किसी एक रूप अथवा उसके अनेक रूपों को स्वीकार किया है। अब हम उपर्युक्त दार्शनिकों के विचार को एक–एक करके क्रमशः जानेंगे :

डेविड ह्यूम

ह्यूम के नैतिक दर्शन में हमें व्यक्तिनिष्ठवाद तथा संवेगवाद इन दोनों अधि–नैतिक सिद्धांतों का पूर्वाभास प्राप्त होता है। यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम ने विशेष रूप से नैतिक भाषा के स्वरुप पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया, क्योंकि तब तक नैतिक दर्शन की स्वंतत्र विधा के रूप में अधि–नीतिशास्त्र का उदय नहीं हुआ था। परन्तु उन्होंने अपनी पुस्तक 'द ट्रियइज ऑफ ह्यूमन नेचर' में नैतिकता के मूल आधार तथा सद्‌गुणों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तर्कबुद्धि और भावना के विषय जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि वे किसी न किसी रूप में व्यक्तिनिष्ठवाद का समर्थन करते हैं।

ह्यूम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ट्रटिस में कहा है कि 'साधारण नीतिशास्त्र मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य को निर्धारित करने के लिए पहले कुछ तथ्यपरक बातों की चर्चा करते हैं और उसके बाद वे एकाएक यह निष्कर्ष निगमित कर लेते हैं कि मनुष्य को ऐसा करना चाहिए या ऐसा नहीं करना चाहिए। परन्तु तक वहां यह प्रश्न उठ जाता है कि जब आधारवाक्य तथ्यपरक है, तो उससे आदेशपरक या उपदेशपरक या उपदेशपरक निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है।' उदाहरणार्थ 'शराब पीने से आनन्द मिलता है' इस कथन से 'शराब पीना चाहिए' का अर्थ निकाल लेना। ह्यूम इसी ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं कि जब आधारवाक्य में चाहिए विद्यमान नहीं होता तक निष्कर्ष में चाहिए को कैसे निगमित कर लिया जाता है।

ह्यूम के इन विचारों से यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि वे मुख्यतः व्यक्तिनिष्ठवाद का समर्थन करते हैं। परन्तु निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है वे इस सिद्धांत के किस रूप को स्वीकार करते हैं। उन्होंने मुख्यतः सामाजिक उपयोगिता के आधार पर न्याय, उदारता, ईमानदारी आदि की व्याख्या की है। ह्यूम के अनुसार किसी वस्तु को शुभ या अशुभ कहने का अर्थ सम्भवतः यही है कि अधिकतर व्यक्ति उस वस्तु के प्रति अनुमोदन या अननुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं। इस दृष्टि से ह्यूम को व्यक्तिनिष्ठवाद के समुदायपरक रूप का समर्थक माना जा सकता है।

एडवर्ड वैस्टरमार्क

वैस्टरमार्क व्यक्तिनिष्ठवाद के व्यक्तिपरक रूप को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'क शुभ या उचित है' का अर्थ यही है कि स्वयं 'क' प्रति अनुमोदन या अशुभ है' का अर्थ यही है कि 'मैं स्वयं 'क' के प्रति अनुमोदन की भावना व्यक्ति नहीं करता हूँ। दूसरे शब्दों` समस्त नैतिक निर्णय वक्ता अथवा निर्णयकर्ता की कुछ विशेष भावनाओं का वर्णन करते हैं जिनके सम्बन्ध में वह ये निर्णय देता है। वैस्टरमार्क के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों को पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं। इसी कारण उन्होंने इन निर्णयों के सम्बन्ध में वस्तुनिष्ठ का दृढ़तापूर्वक खंडन किया है।

वैस्टरमार्क अपनी पुस्तक 'एथिकल रिलेटिवेटी' का आरम्भ ही वस्तुनिष्ठवाद के खंडन से करते हैं। वस्तुनिष्ठता की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि 'नैतिक मूल्यों की वस्तुनिष्ठता का अर्थ यह है कि मानव मन से स्वतंत्र उनका वास्तविक अस्तित्व है, जिसे शुभ या अशुभ, उचित या अनुचित कहा जाता है, उसकी परिभाषा केवल इसी आधार पर नहीं की जा सकती कि लोग उसे शुभ, अशुभ या अनुचित समझते हैं।' इसके आगे वैस्टरमार्क यह भी कहते हैं कि नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि उनके विचार में सभी नैतिक निर्णय तथा सभी नैतिक अवधारणाएं अंततः संवेगों पर ही आधारित है और जैसा कि प्रायः माना जाता है, संवेगों से वस्तुनिष्ठता को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैस्टरमार्क नैतिक निर्णयों की वस्तुनिष्ठता का निषेध करते हुए उन्हें पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ निर्णय मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनके अनुसार ये निर्णय मनुष्यों तथा उनके कर्मों के विषय में कुछ न कह कर स्वयं वक्ता अथवा निर्णयकर्ता के संवेगों का वर्णन मात्र करते हैं। ऐसी स्थिति में इन निर्णयों के प्रमाणीकरण का अन्तिम आधार भी स्वयं निर्णयकर्ता के संवेग ही हो सकते हैं। वस्तुतः यह व्यक्तिनिष्ठवाद का अनिवार्य परिणाम है जिसे वैस्टरमार्क अपने सिद्धांत में आत्मसंगति बनाए रखते हुए अस्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रकार वैस्टरमार्क नैतिक निर्णयों की

वस्तुनिष्ठता का खंडन करते हुए उनके अर्थ, स्वरुप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या व्यक्तिनिष्ठवाद के व्यक्तिपरक रूप के अनुसार ही करते हैं।

बरट्रैंड रसल

बरट्रैंड रसल अपने विचारों में (जो जे.हास्पर्स द्वारा संपादित 'रीडिग्स इन एथिकल थ्योरी' में संकलित हैं) व्यक्तिनिष्ठवाद का समर्थन करते हैं। अपने प्रारम्भिक विचारों में रसेल मूर से प्रभावित होकर अन्तप्रज्ञात्मक वस्तुनिष्ठवाद का समर्थन करते हैं। परन्तु शीघ्र ही रसल मूर के इस प्रभाव से मुक्त हो गए और वे वस्तुनिष्ठवाद के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठवाद का समर्थन करने लगे। अपने विचारों में इस आमूल परिवर्तन का उल्लेख करते हुए रसल ने स्वयं कहा है कि 'मेरा निबन्ध 'दि एलिमैन्टर ऑफ द एथिक्स' (1910) मूर की पुस्तक 'प्रिन्सिपिया एथिका' (1905) से प्रभावित होकर लिखा गया था। परन्तु इस निबन्ध के प्रकाशन के पश्चात शीघ्र ही मैं उक्त पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धांतों की कुछ महत्वपूर्ण मान्यताओं से असहमत होने लगा। अब मैं यह नहीं मानता कि 'शुभ' की परिभाषा नहीं दी जा सकती और मेरा यह भी विश्वास है कि 'शुभ' नामक नैतिक प्रत्यय में तार्किक दृष्टि से किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता नहीं है।

रसल ने नैतिक निर्णयों की व्याख्या करने के लिए संवेगों अथवा भावनाओं की अपेक्षा मानवीय इच्छाओं को अधिक महत्व दिया है। वे मनुष्य की इच्छाओं की तृप्ति के आधार पर ही शुभ–अशुभ, उचित–अनुचित की परिभाषा करते हैं। अपनी इसी मान्यता के अनुसार इच्छाओं को ही सम्पूर्ण नैतिक आचरण का मूल आधार बताते हुए रसल कहते है कि ''इच्छाओं को प्रभावित करने के कारण ही नैतिक प्रत्ययों का महत्व है, क्योंकि समस्त मानवीय व्यवहार की प्रेरक शक्ति इच्छा ही है। मानवीय इच्छा से पृथक कोई नैतिक मापदण्ड नहीं है। अपने इसी मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''यदि हम में इच्छाएं ना होती तो हम शुभ और अशुभ के विषय में कभी सोच भी नहीं सकते थे। . . . . . यदि हम अपने प्रति उदासीत होते तो हम शुभ–अशुभ,

उचित–अनुचित तथा प्रशंसनीय एवं निन्दनीय के द्वैत में विश्वास न करते और कोई हमें अपने आपको केवल भाग्य के भरोसे पर छोड़ देने में कोई कठिनाई न होती। निर्जीव विश्व में कुछ भी शुभ या अशुभ नहीं होता।..... मैं यह मानता हूँ कि जब कोई घटना अथवा वस्तु हमारी इच्छा को पृत्प करती है तो वह शुभ है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि हम 'इच्छा की तृप्ति' के आधार पर ही 'शुभ' की परिभाषा कर सकते हैं' रसल के इन विचारों को ध्यान में रखते हुए सम्भवतः यह कहना अनुचित न होगा कि वे मुख्यतः व्यक्तिनिष्ठवाद में विश्वास रखते हैं और इसी सिद्धांत के आधार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरुप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या करते हैं।

आर.बी.पैरी

आर.बी.पैरी ने नैतिक निर्णयों की व्याख्या के लिए व्यक्तिनिष्ठवाद का समर्थन किया है। वे नैतिक शब्दों की व्याख्या के लिए 'भावना' या 'इच्छा' के स्थान पर 'रूचि' शब्द का प्रयोग किया है। क्रमशः 1926 और 1954 में प्रकाशित अपनी दो प्रमुख पुस्तकों 'जनरल थ्योरी ऑफ वैल्यू' तथा 'वैल्यूज ऑफ वैल्यू' में पैरी ने मुख्यतः 'रूचि' के आधार पर ही नैतिक शब्दों एवं निर्णयों की व्याख्या की है। पैरी का विचार है कि जब कोई व्यक्ति अथवा समुदाय किसी वस्तु में रूचि लेता है तो वह वस्तु मूल्यवान हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु का मूल्यवान होना या न होना केवल इसी बात पर निर्भर है कि कोई व्यक्ति या समुदाय उस वस्तु में रूचि लेता है या नहीं। कोई भी वस्तु अपने आप में मूल्यवान नहीं होती, उसके प्रति किसी व्यक्ति या समुदाय की रूचि ही उसे मूल्यवान बना देती है।

'रूचि' से अपने ठीक–ठीक तात्पर्य को समझाते हुए पैरी कहते हैं कि 'रूचि' का अर्थ किसी वस्तु के प्रति हमारी विशेष अभिवृत्ति है। जब हम किसी वस्तु को पसन्द करते हैं, इसकी इच्छा तथा आशा करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि हम उसमें रूचि लेते हैं। स्पष्ट है कि जो वस्तु हमें अच्छी लगती है उसी के प्रति हम रूचि रखते

हैं और वही वस्तु मूल्यवान है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने 'शुभ' 'उचित' आदि नैतिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'अमुक वस्तु शुभ है' इस नैतिक निर्णय का अर्थ यही हो सकता है कि 'कोई व्यक्ति या समुदाय उस वस्तु में रूचि लेता है।'

इस प्रकार पैरी व्यक्तिनिष्टवाद के व्यक्तिपरक तथा समुदाय परक इन दोनों रूपों का समर्थन करते हैं। वस्तुतः नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरुप तथा प्रमाणीकरण के विषय में उनका मत वैस्टरमार्क और रसल के मत मूलतः भिन्न नहीं हैं।

व्यक्तिनिष्ठवाद के समर्थक इन सभी दार्शनिकों के उपर्युक्त विचारों ये यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों की वस्तुनिष्ठता, निर्णयक्तिकता और निष्पक्षता का पूर्णतः निषेध करते हैं। हम अगले पाठ में व्यक्तिनिष्ठवाद की कठिनाइयों का विवेचन करते हुए देखेंगे कि उसी कारण इन दार्शनिकों के विचारों में अनेक विसंगतियां आ गई हैं जो इनके सिद्धांत को दोषपूर्ण तथा असंतोषप्रद बना देती है।

2.3.3 व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद की मुख्य कठिनाइयां :

पिछले पाठ शीर्षक में हमने व्यक्तिनिष्ठवाद की प्रमुख आधारभूत मान्यताओं उसके प्रमुख तथा इस सिद्धांत के कुछ महत्वपूर्ण समर्थकों के मत को जाना था। अब इस प्रश्न पर कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे कि नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरुप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या के सम्बन्ध में यह सिद्धांत कहां तक उचित एवं संतोषप्रद है। इस सिद्धांत के व्यक्तिपरक और समुदायपरक इन दोनों रूपों के विरुद्ध अनेक गम्भीर आपत्तियां उठाई जाती हैं जिन पर हम यहां क्रमशः विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के व्यक्तिपरक रूप के अनुसार नैतिक निर्णय निर्णीत वस्तु के विषय में कुछ न कह कर स्वयं निर्णयकर्ता अथवा किसी अन्य व्यक्ति की कुछ विशेष मनोदशाओं का वर्णन मात्र करते हैं। व्यक्तिनिष्ठवाद के इस रूप के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि यदि हमें इसे सत्य मान लिया जाये तो हमें यह स्वीकार करना

पड़ेगा कि कोई भी व्यक्ति नैतिक निर्णय देते समय कभी भूल नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी कर्म को उचित कहता है तो इस सिद्धांत के अनुसार वह इस कर्म के प्रति केवल अपने अनुमोदन की भावना का वर्णन करता है और यदि उसमें यह भावना वास्तविक रूप से विद्यमान है ते उसका यह निर्णय भी उचित है। अन्य कोई भी व्यक्ति किसी तर्क द्वारा उसके इस निर्णय को तब तक अनुचित सिद्ध नहीं कर सकता जब तक उसमें अनुमोदन की यह भावना विद्यमान रहती है। परन्तु नैतिक निर्णयों के विषय में व्यक्तिनिष्ठवाद का निष्कर्ष हमारी सामान्य धारणा के विरुद्ध है। इस सिद्धांत के विपरीत हम प्रायः यह मानते हैं कि कोई भी व्यक्ति नैतिक निर्णयों के संबंध में भूल कर सकता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति किसी समुदाय दुष्कर्म के प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव करने के कारण उसे उचित कहता है तो हम यह कह सकते हैं कि ऐसा कहना निश्चय ही उसकी भूल है, क्योंकि दृष्टि से अनुचित है। इसी आधार पर हम अत्याचारियों के उन सभी दुष्कर्मों को नैतिक दृष्टि से अनुचित एवं निदंनीय मानते हैं जिनके प्रति वे स्वयं अनुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं। इसका अर्थ यही है कि भावना, इच्छा, रूचि तथा अभिवृत्ति नैतिकता का मूल आधार नहीं हो सकती। व्यक्तिनिष्ठवाद नैतिकता के संबंध में इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करता है।

उक्त सिद्धांत के व्यक्तिपरक रूप के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर नैतिक निर्णय तथा स्वाद और पसन्द संबंधी वैयक्तिक निर्णयों में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। परन्तु वास्तव में हम नैतिक निर्णयों को वैयक्तिक निर्णयों से मूलतः भिन्न मानते हैं, क्योंकि वैयक्तिक निर्णयों के विपरीत ये निर्णय वस्तुनिष्ठ, निष्पक्ष, तर्कसंगत एवं सार्वभौमिक होते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति कहता है कि उसे कोल्डड्रिंक अच्छी नहीं लगती तो हम उससे यह नहीं कहते कि वह अपने इस कथन के समर्थन में निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ तर्क प्रस्तुत करें। परन्तु नैतिक निर्णय के संबंध में हम ऐसा नहीं कह सकते। उदाहरण यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह सत्य नहीं बोलेगा तो हम इस निर्णय को मानने के लिए केवल उस व्यक्ति की पसंद नहीं

कोई ऐसा वस्तुनिष्ठ और निवैक्तिक तर्क चाहते जो समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया जा सके।

इस सिद्धांत के व्यक्तिपरक रूप के विरुद्ध तीसरी आपत्ति यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में मतभेद की संभावना समाप्त हो जाती है। यदि 'क' किसी कर्म को उचित कहता है और 'ख' उसी कर्म को अनुचित कहता है तो इस सिद्धांत के अनुसार वे दोनों उस कर्म के विषय में कुछ न कह कर उसके प्रति अपनी विरोधी भावनाओं का वर्णन मात्र करते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस कर्म के औचित्य के विषय में वस्तुतः दोनों में कोई मतभेद नहीं है। परन्तु सामान्यतः हम यह मानते हैं कि इन निर्णयों के विषय में वास्तविक मतभेद संभव है। जब एक ही विषय के संबंध में परस्पर मतभेद उपस्थित रहता है तो हम निश्चित रूप से मानते है कि दोनों निर्णय एक साथ सत्य नहीं हो सकते। इसी कारण हम उन दोनों से अपने विरोधी निर्णयों की पुष्टि के लिए वस्तुनिष्ठ तर्क की अपेक्षा करते हैं। परन्तु व्यक्तिनिष्ठवाद नैतिक निर्णयों को व्यक्ति की भावनाओं पर आधारित मानकर नैतिक निर्णयों के संबंध में वास्तविक मतभेद की संभावना के साथ–साथ उनके वस्तुनिष्ठ प्रमाणीकरण की संभावना को भी समाप्त कर देत है, अतः इसे उचित एवं संतोषप्रद सिद्धांत नहीं माना जा सकता है।

उक्त सिद्धांत के व्यक्तिपरक रूप के विरुद्ध चौथी आपत्ति यह है कि इसके अनुसार पूर्णतया समान परिस्थितियों में एक ही कर्म उचित भी हो सकता है और अनुचित भी। इतना ही नहीं, इस सिद्धांत के अनुसार एक ही व्यक्ति के लिए वही कर्म कभी उचित हो सकता है और कभी अनुचित, क्योंकि वह कभी अनुमोदन की भावना का अनुभव कर सकता है और कभी अनुोदन की भावना का। परन्तु व्यक्तिनिष्ठवाद के ये दोनों निष्कर्ष नैतिक निर्णय के संबंध में हमारी सामान्य मान्यताओं के विरुद्ध है। साधारणतया हम यह मानते है कि एक ही कर्म समान परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति के लिए या दूसरे व्यक्ति के लिए भी कभी उचित और कभी अनुचित नहीं हो सकता, क्योंकि किसी व्यक्ति की भावनाओं के स्थान पर वास्तव में प्रत्येक कर्म की कुछ विशेषताएं ही

उसे समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के लिए उचित या अनुचित बनाती है। परन्तु व्यक्तिनिष्ठवाद नैतिक निर्णयों को व्यक्ति की भावनाओं अथवा तक ही सीमित मानकर उनके संबंध में इस आधारभूत तथ्य की उपेक्षा करता है।

इस सिद्धांत के व्यक्तिपरक रूप के विरुद्ध अंतिम आपत्ति यह है कि इसके अनुसार नैतिक निर्णय निर्णीत वस्तुओं अर्थात् मनुष्यों, उनके चरित्र, अनुभवों तथा कर्मों के विषय में कुछ भी नहीं कहते। उदाहरणार्थ जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'कंस एक बुरा मनुष्य था' तो वह कंस के विषय में कुछ न कुछ न कह कर उसके प्रति स्वयं अपने अनुमोदन की भावना का वर्णन मात्र करते हैं। परन्तु व्यक्तिनिष्ठवादियों की यह मान्यता हमारे इस सामान्य मत का पूर्णतः निषेध करती है कि हमारे नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य किसी व्यक्ति, उसके चरित्र अथवा कर्म का मूल्यांकन करना ही होता है, अपनी भावनाओं का वर्णन करना नहीं। वस्तुतः हम अपनी अथवा अन्य व्यक्तियों की मनोदशाओं को व्यक्त करने वाले कथनों को नैतिक निर्णय से मूलतः भिन्न मानते है और इसी कारण उन्हें इन निर्णयों के पर्यायवाची कथनों के रूप में कभी स्वीकार नहीं करते हैं। व्यक्तिनिष्ठ इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हुए उन्हें पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ कथनों के समान मान लेता है। अतः यह सिद्धांत इस निर्णय की युक्तिसंगत तथा संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता है।

अभी तक हमने व्यक्तिनिष्ठवाद के प्रथम रूप के विरुद्ध कुछ प्रमुख आपत्तियों का उल्लेख किया है। परन्तु इस सिद्धांत के दूसरे रूप समुदायपरक रूप के विरुद्ध भी अनेक गम्भीर आपत्तियां उठाई जा सकती हैं, जिनपर यहां विचार करना आवश्यक है।

समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठपरक के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि यह सिद्धांत कर्मों अथवा प्रथाओं के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय करने के लिए किसी विशेष समुदाय क`मत को स्वीकार करने का कोई युक्तिसंगत आधार प्रस्तुत नहीं करता। सम्पूर्ण विश्व में ही नहीं, अपितु एक ही देश में विभिन्न समुदाय किसी कर्म अथवा प्रथा के औचित्य या अनौचित्य के विषय में भिन्न–भिन्न भावनाएं अथवा इच्छाएं व्यक्त कर

सकते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए इस जटिल समस्या का समाधान करना लगभग असंभव हो जाता है कि हम इन विभिन्न समुदाओं में से किसकी इच्छाओं अथवा भावनाओं के आधार पर कर्मों या प्रथाओं को उचित या अनुचित माने और क्यों? स्पष्ट है कि इस समस्या का संतोषजनक समाधान किये बिना हम कभी भी तर्कसंगत नैतिक निर्णय नहीं दे सकते और समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद को सत्य मान लेने पर वास्तव में इस समस्या का कोई संतोषप्रद समाधान संभव प्रतीत नहीं होता, इसलिए इस सिद्धांत के समर्थकों द्वारा की गयी नैतिक निर्णयों की व्याख्या को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि यह सिद्धांत ऐसे प्रत्येक रूप को नैतिक दृष्टि से उचित मान लेता है जिसके प्रति किसी समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्य अनुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसे कर्म का प्रति एक समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्य अनुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं। फिर भी वह कर्म नैतिक दृष्टि से अनुचित और निदंनीय हो। उदाहरणार्थ अठारहवीं शताब्दी तक हिन्दू समाज के अधिकतर सदस्य सती प्रथा का समर्थन करते थे जिसके अनुसार विधवा को उसके मृत पति के साथ जीवित जल दिया जाता था। यदि समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद को स्वीकार कर लिया जाये तो यह मानना पड़ेगा कि सती प्रथा उचित हो। परन्तु इस सिद्धांत के विरुद्ध आज हम यह निश्चित रूप से मानते हैं कि यह प्रथा अनुचित तथा अवांछनीय थी। इतना ही नहीं, यदि किसी समुदाय की भावना का अनुभव करें तो भी उसका उचित होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि किसी समुदाय के सभी सदस्य एक निर्दोष व्यक्ति की हत्या के प्रति को नैतिक दृष्टि से न्यायोचित नहीं माना जा सकता। इस प्रकार समुदायपरक इस प्रकार समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद नैतिक निर्णय की व्याख्या के लिए हमें कोई युक्तिसंगत आधार प्रदान नहीं करता।

उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त व्यक्तिनिष्ठवाद के समुदायपरक रूप के विरुद्ध कुछ भिन्न प्रकार से वे सभी आपत्तियां भी उठाई जा सकती हैं जो इस सिद्धांत के

व्यक्तिपरक रूप के विरुद्ध उठाई गयी है। उदाहरणार्थ समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद को स्वीकार कर लेने के बाद हमारे लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि कोई भी समुदाय नैतिक निर्णय के संबंध में कभी भूल नहीं कर सकता। इसी प्रकार समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद नैतिक निर्णय के संबंध में विभिन्न समुदाओं में वास्तविक मतभेद को भी अपने दृष्टि से ओझल कर देता है। इसके अतिरिक्त समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद के अनुसार एक ही कर्म उसी समय तथा समान परिस्थितियों में एक समुदाय के लिए उचित और दूसरे समुदाय के लिए अनुचित हो सकता है। इसी प्रकार समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद भी नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता को समाप्त कर देता है।

2.3.4 वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद का स्वरुप और उसके प्रमुख समर्थक :

प्रकृतिवाद के प्रथम रूप व्यक्तिनिष्ठवाद का विस्तृत विवेचन करने के बाद अब हम इसके द्वितीय रूप वस्तुनिष्ठ को जानेंगे। व्यक्तिनिष्ठवाद की भांति यह सिद्धांत भी नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक प्राकृतिक निर्णयों के समान संज्ञानात्मक अथवा वर्णनात्मक ही मानता है और इसी कारण इसे भी प्रकृतिवाद का ही एक रूप माना जाता है। इस दृष्टि से व्यक्तिनिष्ठवाद तथा वस्तुनिष्ठवाद इन दोनों प्रकृतिवादी सिद्धांतों में पूर्ण समानता है। परन्तु इस आधारभूत समानता के होते हुए भी ये दोनों सिद्धांत एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद ऐसा सिद्धांत है जो व्यक्तिनिष्ठवाद के व्यक्तिपरक और समुदायपरक दोनों रूपों का खंडन करता है। व्यक्तिनिष्ठवाद के विपरीत वस्तुनिष्ठवाद नैतिक निर्णयों को किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं, इच्छाओं या रूचियों का वर्णन करने वाले व्यक्तिनिष्ठ निर्णय नहीं मानते। ये निर्णय स्वाद और पसंद संबंधी निर्णय से भिन्न हैं। इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णय वस्तुनिष्ठ, निष्पक्ष तथा सार्वभौमिक होते हैं।

वस्तुनिष्ठवाद की आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक निर्णय किसी व्यक्ति या समुदाय की मनोदशाओं का वर्णन मात्र न करके वास्तव में निर्णीत वस्तुओं अर्थात्

मनुष्यों, उनके गुणों के आधार पर उनका निष्पक्ष मूल्यांकन करते हैं। निर्णीत वस्तुओं के इन गुणों का ज्ञान हमें इन्द्रियजन्य अनुभव अथवा अन्ततनिर्रीक्षण द्वारा ही प्राप्त होता है, इसलिए इन्हें 'प्राकृतिक गुण' कहा जाता है। इसी कारण नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता भी किसी व्यक्ति या समुदाय की भावनाओं अथवा इच्छाओं पर निर्भर होकर निर्णीत वस्तुओं में विद्यमान इन प्राकृतिक गुणों पर ही आधारित होती है।

नैतिक निर्णयों तथा मूल्यों के संबंध में 'वस्तुनिष्ठता' को दो भिन्न अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ यह हो सकता है कि वह किसी ऐसे गुण का वर्णन करता है जिसका मनुष्य के अस्तित्व और उसकी अन्तश्चेतना से कोई संबंध नहीं है। वस्तुनिष्ठता के इस अर्थ के अनुसार वस्तुओं का शुभ या अशुभ होना मनुष्य की इच्छाओं तथा भावनाओं से ही नहीं, अपितु उसके अस्तित्व से भी स्वतंत्र हैं – अर्थात् इस विश्व में मनुष्य का अस्तित्व रहे या न रहे, कुछ वस्तुएं शुभ या अशुभ बनी रहेंगी और उनसे सम्बन्धित निर्णय भी वस्तुनिष्ठ रूप से सदैव सत्य होंगे।

वस्तुनिष्ठता का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि जब हम नैतिक निर्णयों को वस्तुनिष्ठ कहते हैं तो हम इन निर्णयों द्वारा निर्णीत वस्तुओं के कुछ ऐसे प्राकृतिक गुणों का वर्णन करते हैं जो मनुष्य की भावनाओं, इच्छाओं तथा रूचियों से सम्बन्ध होते हुए भी पूर्णतः उनपर निर्भर नहीं है। इन निर्णयों को वस्तुनिष्ठ कहने का अर्थ केवल यही है कि ये निर्णय किसी व्यक्ति या समुदाय की भावनाओं अथवा इच्छाओं का वर्णन मात्र नहीं करते जैसा कि व्यक्तिनिष्ठवादी मानते हैं। हम इन निर्णयों द्वारा निर्णीत वस्तुओं के शुभ या अशुभ तथा उचित या अनुचित होने के विषय में अपना निष्पक्ष मत व्यक्त करते हैं जो इन वस्तुओं की अपनी कुछ विशेषताओं पर ही आधारित होता है। आज अधिकतर दार्शनिक नैतिक निर्णयों की वस्तुनिष्ठता का उपर्युक्त अर्थ ही उचित और तर्कसंगत स्वीकार करते हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद के प्रमुख समर्थक :

अभी तक हमने वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद के स्वरुप तथा इसकी कुछ आधारभूत मान्यताओं का विवेचन किया है। अब संक्षेप में इस सिद्धांत के कुछ प्रमुख समर्थकों के मत पर विचार करेंगे। जो दार्शनिक विकासवाद, सुखवाद तथा उपयोगितावाद में विश्वास करते हैं वे मुख्यतः इसी वस्तुनिष्ठवाद के समर्थक हैं। इन दार्शनिकों के अतिरिक्त वर्तमान युग में एफ.सी.शार्प, रोड्रिक फर्थ, आर.बी.बान्ट आदि विचारकों ने भी वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद का ही समर्थन किया है। उपर्युक्त दार्शनिकों के विचार हम एक–एक करके क्रमशः जानेंगे।

हरबर्ट स्पैन्सर

सुखमूलक विकासवाद के समर्थक स्पैन्सर 'विकसित आचरण' के आधार पर 'शुभ आचरण' की परिभाषा करते हैं। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए स्पैसर ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्सपल्स ऑफ एथिन्ल' में लिखा है कि 'जिस आचरण को हम शुभ कहते हैं वह अपेक्षाकृत 'अधिक विकसित' आचरण होता है और जिस आचरण को हम 'अशुभ' की संज्ञा देते हैं। वह अपेक्षाकृत 'कम विकसित' आचरण होता है।'' उस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि स्पैन्सर के विचार में 'अधिक उत्कृष्ट' तथा 'अधिक विकसित' पर्यायवाची शब्द हैं, अतः नैतिक निर्णयों और प्राकृतिक तथ्यात्मक निर्णयों में कोई मूल भेद नहीं है।

स्पैन्सर विकासवाद के साथ–साथ सुखवाद तथा उपयोगितावाद के समर्थक है और इसी कारण वे 'विकास' के समान ही 'सुख' एवं 'उपयोगिता' को भी आचरण के शुभत्व का आधार मानते हैं। उनका विचार है कि 'शुभ' का अर्थ 'विकसित' के साथ–साथ 'सुखद' अथवा 'सुखोत्पादक' भी है और सद्‌गुण की परिभाषा 'सुख' के ही आधार पर की जा सकती है। स्पैन्सर के अनुसार, 'अमुक आचरण शुभ है' इस नैतिक निर्णय का अर्थ यह है कि ''वह आचरण व्यक्ति अथवा समाज के लिए सुखद या उपयोगी है'' और 'अमुक आचरण अशुभ है' इसका अर्थ यह है कि 'वह आचरण व्यक्ति

या समाज के लिए दुःखद अथवा हानिकारक है।' इस उदाहरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्पैन्सर 'विकास', 'सुख', 'उपयोगिता' आदि प्राकृतिक अवधारणाओं के आधार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं और इन निर्णयेां के प्रामाणिकता के लिए भी वे इन्हीं प्राकृतिक अवधारणाएँ पर आधारित तर्क प्रस्तुत करते हैं।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि नैतिक निर्णयों की व्याख्या के सम्बन्ध में स्पैन्सर का उपर्युक्त सिद्धांत कहां तक उचित और संतोषप्रद है। उनके सिद्धांत के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि वे हमें 'विकास' का कोई स्पष्ट और निश्चित अर्थ नहीं बताते। जब वे कहते हैं कि 'विकसित आचरण शुभ आचरण है' तो यह स्पष्ट नहीं है कि 'विकसित आचरण से उनका क्या तात्पर्य है। सम्भवतः उनका विचार है कि समय की दृष्टि से बाद में आने वाला आचरण 'विकसित आचरण' है। परन्तु ऐसे आचरण का नैतिक दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट होना अनिवार्य नहीं है। कालांतर में आने वाला आचरण नैतिक दृष्टि से निकृष्ट भी हो सकता है, क्योंकि समयावधि नैतिक उत्कृष्टता की कोई कसौटी नहीं है। स्पैन्सर के सिद्धांत के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि जब हम आचरण को शुभ या अशुभ कहते हैं तो सामान्यतः इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि वह आचरण विकसित अथवा अतिविकसित है। इस प्रकार स्पैन्सर ने आचरण की नैतिक उत्कृष्टता का निर्णय करने के लिए विकास सम्बन्धी जो मानदण्ड प्रस्तुत किया है वह उचित नहीं है।

जरमी बैन्थम

जरमी बैन्थम ने भी मुख्यतः वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में बैन्थम के मत पर विचार करने से पूर्व यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्पैन्सर की भांति उनका मुख्य उद्देश्य भी मानवीय आचरण के विषय में मानकीय सिद्धांत का प्रतिपादन करना ही था, नैतिक निर्णयों की व्याख्या करने के लिए किसी विशेष अधि–नैतिक सिद्धांत का प्रतिपादन करना नहीं। परन्तु अपने प्रमुख मानकीय

सिद्धांत उपयोगितावाद की व्याख्या करते हुए उन्होंने 'शुभ', 'उचित' आदि नैतिक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किया है।

बैन्थम का मत है 'उचित' 'अनुचित' 'शुभ' 'अशुभ' इन शब्दों के अर्थ को उपयोगितावाद का आधार माना जा सकता है। अपने इसी मत को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए बैन्थम ने अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू दि प्रिन्सिपल्स ऑफ मारल्स एण्ड लेजिस्लेशन' में कहा है कि 'जो कर्म उपयोगिता के सिद्धांत के अनुरुप है उसके सम्बन्ध में सदैव यह कहा जा सकता है कि यह ऐसा कर्म है जो किया जाना चाहिए, अथवा कम से कम वह ऐसा कर्म नहीं है जो नहीं किया जाना चाहिए।'' इसी प्रकार बैन्थम का यह भी कथन है कि 'शुभ' तथा 'अशुभ' इन शब्दों की सार्थकता अन्ततः इसी बात पर निर्भर है कि हमस ुख को ही अनिवार्यतः अपने आपमें शुभ और दुःख को ही अनिवायतः अपने आप में अशुभ कहते हैं : अन्यथा इन शब्दों का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं हो सकता।

इस प्रकार बैन्थम के अनुसार किसी कर्म को 'उचित' कहने का अर्थ यह है कि वह उपयोगितावादी सिद्धांत के अनुरुप है और किसी कर्म को अनुचित कहने का अर्थ यह है कि वह इस सिद्धांत के विरुद्ध है। इन तथा ऐसे ही अन्य नैतिक शब्दों की सार्थकता इसी आधार पर निश्चित की जा सकती है।

परन्तु बैन्थम के उपर्यक्त व्याख्या को संतोषप्रद नहीं माना जाता। उनके सिद्धांत के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि जब हम किसी कर्म को उचित या अनुचित कहते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य सदैव और अनिवार्यतः यह नहीं होता कि वह कर्म उपयोगिता के सिद्धांत के अनुरुप है अथवा इस सिद्धांत के विरुद्ध। इसी प्रकार किसी कर्म को उचित या अनुचित कहने का अर्थ अनिवार्यतः यह भी नहीं होता कि वह कर्म सुखद है अथवा दुःखद। इससे स्पष्ट है कि केवल 'उपयोगिता' अथवा 'सुख' के आधार पर 'उचित' 'शुभ' आदि नैतिक शब्दों की परिभाषा नहीं की जा सकती। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, बैन्थम ने इसी प्रकार इन नैतिक शब्दों की परिभाषा करने का प्रयास किया है। ऐसी

स्थिति में नैतिक निर्णयों की व्याख्या के विषय में उनके उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आदर्श प्रेक्षक सिद्धांत

समकालीन दार्शनिकों में एफ.सी.शार्प, रोड्रिक फर्थ और आर.बी.व्रान्ट का नाम वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद के समर्थकों में उल्लेखनीय हैं। ये दार्शनिक जिस वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवादी सिद्धांत को स्वीकार करते हैं उसे 'आदर्श प्रेक्षक सिद्धांत' कहा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार 'निष्पक्ष आदर्श–प्रेक्षक' किसी कर्म के समस्त प्रासंगिक परिणामों पर निवैयाक्तिक एवं वस्तुनिष्ठ रूप से विचार करने के पश्चात ही समान परिस्थितियों में उसे सभी व्यक्तियों के लिए उचित या अनुचित कहता है। अब उपरोक्त दार्शनिकों के विचार क्रमशः जानेंगे।

एफ.सी.शार्प

आदर्श प्रेक्षक सिद्धांत के आधार पर 'उचित कर्म' का अर्थ स्पष्ट करते हुए शार्प ने अपनी पुस्तक 'एथिक्स' में कहा है कि हम उचित आचरण की परिभाषा ऐसे आचरण के रूप में कर सकते हैं जिसकी इच्छा तभी की जाती है जब उसपर निर्वैक्तिक दृष्टि से विचार किया जाता है। शार्प के अनुसार जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'अमुक कर्म उचित है' तो इसका अर्थ यह है कि समान परिस्थितियों में वह कर्म उन सभी व्यक्तियों में अनुमोदन की भावना उत्पन्न करता है जो उसके सभी प्रासंगिक परिणामों से भली–भांति अवगत है और उप परिणामों पर निष्पक्ष रूप से विचार करते हैं।

स्पष्ट है कि कर्म के परिणामों पर आधारित होने के कारण यह भावना निर्वैयक्तिक होती है, इसलिए यह व्यक्तिगत पसन्द से मूलतः भिन्न है।

रोड्रिक फर्थ

निष्पक्ष भावना से प्रेरित होकर जब कोई व्यक्ति किसी कर्म को उचित कहता है तो इसके परिणामस्वरुप वह यह भी चाहता है कि समान परिस्थितियों में अन्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें। यही कारण है कि इस प्रकार का निष्पक्ष निर्णय करने वाले व्यक्ति को 'आदर्श प्रेक्षक' की संज्ञा दी जाती है।

इस 'आदर्श–प्रेक्षक' के अनिवार्य गुणों को उल्लेख फर्थ ने अपनी पुस्तक 'एथिकल एत्सोव्युरिज्म' एण्ड दि आइडियल आब्जर्बर' में निम्नलिखित रूप में करते हैं :

1. आदर्श–प्रेक्षक को निर्णीत कर्म से सम्बन्धित सभी तथ्यों एवं परिणामों से भली–भांति अवगत होना चाहिए।
2. आदर्श–प्रेक्षक को इन तथ्यों तथा परिणामों पर पूर्णतः निष्पक्ष रूप से विचार करना चाहिए।
3. अपना निर्णय प्रस्तुत करते समय आदर्श–प्रेक्षक को व्यक्तिगत भावनाओं तथा संवेगों से प्रभावित नहीं होना चाहिए।
4. आदर्श–प्रेक्षक के निर्णय संगतिपूर्ण होने चाहिये अर्थात् समान परिस्थितियों में किये जाने वाले समान कार्यों के विषय में उसे समान निर्णय ही देने चाहिये।

वस्तुतः ऐसा आदर्श–प्रेक्षक जिस कर्म का अनुमोदन अथवा अनुमोदन करता है उसे ही उचित या अनुख्ति कर्म कहा जाता है।

आर.बी.ब्रान्ट

आर.बी.ब्रान्ट भी आदर्श–प्रेक्षक सिद्धांत के समर्थक है। इस सिद्धांत की आधारभूत मान्यताओं के सम्बन्ध में ब्रान्ट का मत शार्प और फ्रर्थ के समान ही है। उक्त सिद्धांत के लाभों का वर्णन ब्रान्ट की उल्लेखनीय विशेषता है। इस सिद्धांत को स्वीकार करने के प्रमुख लाभों का वर्णन करते हुए ब्रान्ट कहते हैं कि :

1. यह सिद्धांत हमें नैतिक दृष्टि से प्रासंगिक सभी आवश्यक तथ्यों पर निष्पक्ष रूप से विचार करने के लिए प्रेरित करता है।
2. यह सिद्धांत उचित तथा अनुचित कर्मों में विद्यमान अंतर की तर्कसंगत व्याख्या करता है।
3. यह हमें बताता है कि नैतिक निर्णय सत्य या असत्य हो सकते हैं और इस दृष्टि से इन निर्णयों का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन सम्भव है।
4. यह इस बात की व्याख्या करता है कि हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण नैतिक निर्णयों के स्थान पर किसी विशेषज्ञ तथा निष्पक्ष व्यक्ति के वस्तुनिष्ठ एवं तर्कसंगत नैतिक परामर्श को क्यों स्वीकार करते हैं।
5. यह नैतिक निर्णयों का तर्कसंगत विश्लेषण करता है और इस दृष्टि से यह संवेगवाद की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद सिद्धांत है।

इस प्रकार ब्रान्ट द्वारा वर्णित आदर्श–प्रेक्षक सिद्धांत के उपर्युक्त लाभों से यह स्पष्ट है कि वे इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं। वे यह मानते हैं कि यह सिद्धांत नैतिक निर्णयों की समुचित एवं तर्कसंगत व्याख्या करता है। अतः अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा यह अधिक संतोषप्रद है।

आदर्श प्रेक्षक सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि इसके समर्थक निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ नैतिक निर्णयों के लिए जिन आदर्श प्रेक्षकों की कल्पना करते हैं उनका अस्तित्व इस संसार में संभव प्रतीत नहीं होता। इस विश्व में ऐसा व्यक्ति शायद ही कोई होगा जिसमें आदर्श–प्रेक्षक के उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हों। परन्तु इस सिद्धांत के समर्थन में यह अवश्य कहा जा सकता है कि यदि आदर्श–प्रेक्षक का अस्तित्व सम्भव हो तो यह नैतिक निर्णयों की निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठता के लिए सैद्धन्तिक दृष्टि से समुचित आधार प्रस्तुत करता है। हनमें अभी तक जिन प्रकृतिवादी सिद्धांतों का विवेचन किया है उन सबमें यह आदर्श–प्रेक्षक–सिद्धांत ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है।

2.3.5 मूल्यांकन :

पिछले पाठों में हम प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताओं तथा उसके प्रमुख रूपों के गुण–दोषों पर विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के मुख्य दोनों रूपों व्यक्तिनिष्ठवाद और वस्तुनिष्ठवाद के विरुद्ध बहुत सी गम्भीर आपत्तियां उठाई जा सकती है। इनमें से कुछ आपत्तियां केवल व्यक्तिनिष्ठवाद के विरुद्ध और कुछ अन्य आपत्तियां केवल व्यक्तिनिष्ठवाद के विरुद्ध है जिनपर हम पिछले दो पाठ शीर्षकों में विचार कर चुके हैं। इन आपत्तियां के अतिरिक्त प्रकृतिवाद के विरुद्ध कुछ ऐसी सामान्य आपत्तियां भी है जो इस सिद्धांत के सभी रूपों पर लागू होती है। प्रस्तुत पारु शीर्षक में प्रकृतिवाद के विरुद्ध इन्हीं सामान्य आपत्तियों पर विचार किया जायेगा।

प्रकृतिवाद के विरुद्ध प्रथम सामान्य आपत्ति यह है कि यह सिद्धांत नैतिक शब्दों को प्राकृतिक गुणों को बोध कराने वाले तथ्यात्मक शब्द मान लेते हैं। प्राकृतिक गुण वे गुण है जिनका ज्ञान हम इन्द्रियजन्य अनुभव अथवा अन्तर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त कर सकते हैं और प्रकृतिवादियों के विचार में नैतिक शब्द हमें ऐसे ही प्राकृतिक गुणों का बोध कराते हैं। परन्तु प्रकृतिवादियों की यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि नैतिक शब्द वस्तुतः गुणबोधक शब्द के विपरीत नैतिक शब्दों का उद्देश्य निर्णीत वस्तुओं के किन्हीं प्राकृतिक गुणों का वर्णन मात्र करना नहीं होता जैसा कि प्रकृतिवादी मानते हैं। इन दोनों प्रकार के शब्दों को पूर्णतः समानार्थक मान लेते के कारण ही उस गम्भीर दोष की उत्पत्ति होती है जिसे मूर ने 'प्रकृतिवादी दोष' की संज्ञा दी है और जिसके आधार पर उन्होंने प्रकृतिवाद का दृढ़तापूर्वक खंडन किया है।

प्रकृतिवाद के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर उस मूल उद्देश्यों की पूर्ति असंभव हो जाती है जिसके लिए हम नैतिक भाषा का प्रयोग करते हैं। इस आपत्ति के साक्षेप हेथर के मतानुसार तत्थात्मक शब्दों के विपरीत नैतिक शब्दों का मुख्य उद्देश्य निर्णीत वस्तुओं का मूल्यांकन करना तथा हमें परामर्श देना है अथवा हमारा मार्गदर्शन करना है। यही कारण है कि तथ्यात्मक शब्दों के आधार

पर नैतिक शब्दों की परिभाषा करना संभव नहीं है। वस्तुतः इन दोनों प्रकार के शब्दों का मुख्य उद्देश्य भिन्न–भिन्न है, किन्तु यदि प्रकृतिवाद को स्वीकार कर लिया जाये तो इन शब्दों के उद्देश्य में कोई अंतर नहीं रह जाता। प्रकृतिवादी सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर हम नैतिक निर्णयों द्वारा मनुष्यों तथा उनके कर्मों का मूल्यांकन–अर्थात उनकी प्रशंसा अथवा निंदा–नहीं कर सकते और न उनका मार्गदर्शन कर सकते हैं जो इन निर्णयों का प्रमुख उद्देश्य है। मुख्यतः इसी आधार पर हेयर ने प्रकृतिवाद का खंडन किया है और इस सिद्धांत के विरुद्ध उनकी यह आपत्ति उचित और तर्कसंगत प्रतीत होती है।

परन्तु इन सामान्य आपत्तियों की चर्चा के साथ यह उल्लेखनीय है कि प्रकृतिवाद में अंशतः सत्य अवश्य विद्यमान है। यह सिद्धांत इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि अन्य विज्ञानों के निर्णयों की भांति नैतिक निर्णयों का भी मानवीय अनुभवों और तथ्यों से अनिवार्य सम्बन्ध है। मनुष्य ही कुछ तथ्यों के आधार पर मनुष्य तथा उसके कर्मों के विषय में नैतिक निर्णय देता है, इसलिए इन्हें मानवीय अनुभवों से पृथक नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से प्रकृतिवाद की यह मान्यता उचित ही प्रतीत होती है कि ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी शक्ति की अवधारणा नैतिक निर्णय का आधार नहीं हो सकती। प्रकृतिवाद नैतिक निर्णयों के इस आधारभूत मान्यता से हमें अवगत कराता है। अतः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उक्त सिद्धांत में आंशिक सत्य विद्यमान है।

प्रकृतिवाद के विरुद्ध उपर्युक्त सामान्य आपत्तियों तथा उसकी उल्लेखनीय विशेषता के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंशतः सत्य होते हुए भी यह सिद्धांत वास्तव में नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरुप तथा प्रमाणीकरण की संतोषप्रद एवं युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाता।

2.6 सारांश :

संक्षेप में हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि संज्ञानात्मक अधि–नैतिक सिद्धांत वे हैं जिनके अनुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों की भांति मुख्यतः वर्णनात्मक अथवा संज्ञानात्मक होते हैं और इसी कारण ये निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के समान ही सत्य या असत्य हो सकते हैं। हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवाद ऐसा ही संज्ञानात्मक सिद्धांत है जो नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से मूलतः भिन्न नहीं मानता। प्रस्तुत खण्ड में हमने इसी सिद्धांत पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

जैसा कि इस सिद्धांत के आधारभूत मान्यता से स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णय के समान होते हैं, नैतिक निर्णय अनुभव द्वारा सत्यापनीय होते हैं और नैतिक समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक विधियों द्वारा कर सकते हैं। नीतिशास्त्र भी सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों की भांति अनुभवमूलक वर्णनात्मक विज्ञान है। परन्तु इस मान्यता के विरोध में उपस्थित 'खुला प्रश्न तर्क' का प्रकृतिवाद की सीमा में रहकर समुचित और संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाते।

प्रकृतिवाद सिद्धांत की व्याख्या उसके दो रूपों व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद और वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद के विचारों से आगे बढ़ी। व्यक्तिनिष्ठ वह प्रकृतिवादी सिद्धांत है जो नैतिक शब्दों तथ निर्णयों के अर्थों की व्याख्या किसी व्यक्ति या समुदाय की भावनाओं, अभिवृत्तियों, इच्छाओं या रुचियों के आधार पर ही करता है। इस परिभाषा से यह भी ज्ञात होता है कि इस सिद्धांत के मुख्य दो रूप–व्यक्तिपरक व्यक्तिनिष्ठवाद तथा समुदायपरक व्यक्तिनिष्ठवाद – दृष्टिगत होते हैं। पाश्चात्य नैतिक दर्शन के इतिहास में डेविड ह्यूम, वेस्टरमार्क, वरट्रैन्ड रसल तथा आर.बी.पैरी आदि दार्शनिकों ने नैतिक निर्णयों के स्वरुप तथा प्रमाणीकरण के विषय में व्यक्तिनिष्ठ के किसी एक रूप अथवा उसके अनेक रूपों को स्वीकार किया है। इन दार्शनकों ने नैतिक निर्णयों वस्तुनिष्ठता निर्वैयक्तिक्ता और निष्पक्षता का पूर्णतः निषेध करते हैं।

प्रकृतिवाद के दूसरे रूप वस्तुनिष्ठवाद की आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक निर्णय किसी व्यक्ति या समुदाय की मनोदशाओं का वर्णन मात्र न करके वास्तव में निर्णीत वस्तुओं अर्थात् मनुष्यों उनके चरित्र, अनुभवों तथा कर्मों की विशेषताओं अथवा उनके गुणों के आधार पर उनका निष्पक्ष मूल्यांकन करते हैं। जो दार्शनिक विकासवाद, सुखवाद तथा उपयोगिता में विश्वास करते हैं वे मुख्यतः इसी वस्तुनिष्ठवाद के समर्थक है। इन दार्शनिकों के अतिरिक्त वर्तमान युग में एफ.सी.शार्प, रोड्रिक फर्थ, आर.बी.ब्रान्ट आदि विचारकों ने भी आदर्श–प्रेक्षक के आधार पर वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद का ही समर्थन किया है।

प्रकृतिवाद के विरुद्ध सामान्य आपत्ति यह है कि नैतिक निर्णय प्रकृतिवादी मान्यता के अनुसार मात्र प्राकृतिक गुणों का वर्णन मात्र नहीं करते इसीलिए इसपर 'प्रकृतिवादी दोष' आरोपित होता है। साथ ही इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर नैतिक निर्णयों की मानकीयता स्वरुप नष्ट हो जाती है।

परन्तु प्रकृतिवाद की यह मान्यता उचित ही प्रतीत होती है कि ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी शक्ति की अवधारणा नैतिक निर्णय का आधार नहीं हो सकती। यह सिद्धांत इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि अन्य विज्ञानों के निर्णयों की भांति नैतिक निर्णयों का भी मानवीय अनुभवों और तथ्यों से अनिवार्य सम्बन्ध है। अतः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रकृतिवादी सिद्धांत में आंशिक सत्य विद्यमान है।

2.5 शब्दार्थ सूची :

अर्जित – प्राप्त,

सत्ता – अस्तित्व,

बोधगम्य – जानने योग्य,

विद्यमान – उपस्थित,

अनुमोदन – स्वीकृति

आत्म संगति – संवादी,

आमूल – पूर्ण,

निर्णीत – परीक्षणीय

संवेग – अभिवृत्ति

2.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तके :

1. डेविड ह्यूम, ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर
2. ऐडवर्ड वैस्टरमार्क, एथिकल रिलेटिविटी
3. एफ.सी.शर्प, एथिक्स
5. वेद प्रकाश वर्मा, अधि–नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धांत।
6. हृदय नारायण मिश्र, उन्नत नीतिशास्त्र।

2.7 बोध प्रश्न :

1. 'नैतिक प्रकृतिवादी' किसे माना जाता है।
2. प्रकृतिवादी नैतिक समस्याओं के समाधान हेतु वैज्ञानिक विधियों को किस प्रकार सहायक मानता हेतु?
3. 'खुला प्रश्न तर्क' से आप क्या समझते हैं?
4. व्यक्तिनिष्ठवाद से क्या तात्पर्य है?
5. 'वस्तुनिष्ठ' शब्द से आप क्या समझते हैं?
6. आदर्श प्रेक्षक सिद्धांत से क्या तात्पर्य है?
7. आदर्श प्रेक्षक के अनिवार्य गुण कौन से हैं?
8. आर.बी.ब्रान्ट आदर्श प्रेक्षक सिद्धांत के लाभों का किस प्रकार वर्णन करते हैं?
9. प्रकृतिवाद सिद्धांत के विरुद्ध सामान्य आपत्तियों कौन सी हैं?

10. प्रकृतिवाद सिद्धांत में अंशतः सत्य कैसे होते हैं?

दीर्घ उत्तरीय :

1. प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताओं का वर्णन करें।

2. व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद के परिभाषा, स्वरुप और विषय क्षेत्र की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

3. व्यक्तिनिष्ठवाद सिद्धांत क्या है? इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थकों के विचारों और उनकी सामान्य त्रुटियों को समझाइए।

4. व्यक्तिनिष्ठ प्रकृतिवाद की मुख्य कठिनाइयां क्या है?

5. वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद के स्वरुप को बताते हुए उसके प्रमुख समर्थकों के विचारों का विश्लेषण कीजिए।

6. आदर्श–प्रेक्षक–सिद्धांत को उसके प्रमुख समर्थकों के विचारों के आलोक में समझाइए।

7. प्रकृतिवाद के गुण–दोषों का मूल्यांकन कीजिए।

*****

खण्ड–03

निर्प्रकृतिवाद

खण्ड संरचना :

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

3.3.1 आधारभूत मान्यताएं

3.3.2 जी.ई.मूर

3.3.3 एच.ए.प्रिचर्ड

3.3.4 डब्ल्यू.डी.रास

3.3.5 मूल्यांकन

3.4 सारांश

3.5 शब्दार्थ सूची

3.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें

3.7 बोध प्रश्न

3.1 प्रस्तावना :

पिछले खण्ड में हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवाद किस प्रकार नैतिक निर्णयों में अर्थ, स्वरुप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या करता है और किन कठिनाइयों अथवा दोषों के कारण उसकी यह व्याख्या आंशिक रूप से सत्य होते हुए भी उचित और संतोषप्रद नहीं

है। इस सिद्धांत के प्रमुख रूपों के विरुद्ध पिछले खण्ड में जो गम्भीर आपत्तियां उठाई गई हैं उन्हें ध्यान में रखते हुए अनेक दार्शनिकों ने नैतिक निर्णय की व्याख्या करने के लिए इसके स्थान पर एक अन्य सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसे निर्प्रकृतिवाद अथवा अंतःप्रज्ञावाद की संज्ञा दी गई है।

टी.ई.हिल ने अपनी पुस्तक 'कन्टेपपरेरी' एथिकल थियरीज' में समकालीन अन्तःप्रजावादी विचारकों को दो भागों में बाँटा है। प्रथम वे विचारक हैं जो यथार्थवादी मूल्य सिद्धांत के पोषक हैं। अर्थात् ये मूल्यों के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं। दूसरे में से नैतिक विचारक आते हैं जो अतत्ववादी परिणाम निरपेक्षवादी (दिआन्टोलॉजिकल) सिद्धांत के पोषक हैं। अर्थात् ये 'उचित' और 'कर्त्तव्य' पर बल देते और किसी कर्म की अच्छाई को उनयसे उत्पन्न होने वाले मूल्यों पर निर्भर नहीं मानते।

हिल के अनुसार प्रथम भाग में अर्थात् यथार्थवादी मूल्य सिद्धांत के अन्तर्गत जी.ई. मूर, हैस्टिंग्स, रैशडल, पिरोलाई, हार्टमैन, जॉन लेयर्ड और इनिंग महत्वपूर्ण समर्थक है। दूसरे भाग में अर्थात् परिणाम निरपेक्षवादी सिद्धांत के अन्तर्गत एच.ए.प्रिचर्ड, ई,एच.कैरिट, सी.डी.ब्राड, डब्ल्यू.डी.रॉस, डब्ल्यू.जी.देवर्ध और हेनरी बर्गसां का नाम आता है।

उपर्युक्त दोनों भागों के विचारकों के मतानुसार इन निर्प्राकृतिक गुणों अथवा सम्बन्धों का स्वरुप क्या है और ये गुण या संबंध प्राकृतिक गुण अथवा संबंधों से किस प्रकार भिन्न हैं? इन्हीं समस्याओं के विश्लेषण पर इस खण्ड में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

3.2 उद्देश्य :

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- निर्प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताओं को जानने में,
- जी.ई.मूर के विचारों को जानने में,
- एच.ई.प्रिचर्ड और डब्ल्यू डी.रॉस के विचारों को जानने में,
- निर्प्रकृतिवाद के मूल्यांकन को समझने में।

3.3 पाठ प्रस्तुतीकरण :

3.3.1 निर्प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताएं :

निर्प्रकृतिवाद या अन्तःप्रज्ञावाद संज्ञानात्मक सिद्धांत का प्रकृतिवाद के भांति एक रूप है। इस सिद्धांत की आधारभूत मान्यताओं के कुछ बिन्दु प्रकृतिवाद के समान है तो कुछ बिन्दु उससे भिन्न है। यह सिद्धांत भी प्रकृतिवाद की इस आधारभूत मान्यता को स्वीकार करता है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के समान ही संज्ञानात्मक या वर्णनात्मक होते हैं – अर्थात् हम इन निर्णयों द्वारा किन्हीं विशेष तथ्यों का वर्णन मात्र करते हैं। प्रकृतिवादियों के भांति निर्प्रकृतिवादी भी यह मानते हैं कि 'शुभ' 'उचित' 'कर्त्तव्य' आदि नैतिक शब्द गुणबोधक या सम्बन्ध बोधक है, क्योंकि ये शब्द हमें कुछ विशेष गुणों अथवा सम्बन्धों का बोध कराते हैं। वस्तुतः प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद दोनों सिद्धांत शब्दार्थ विषयक 'निर्देशात्मक सिद्धांत' पर आधारित है जिसके अनुसार प्रत्येक शब्द हमें अनिवार्यतः किसी वस्तु, तथ्य, स्थिति गुण या सम्बन्ध का बोध कराता है। एक ही सिद्धांत पर आधारित होने के कारण प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद दोनों सिद्धांतों की आधारभूत मान्यताओं में पर्याप्त समानता है।

परन्तु प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद में उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी ये दोनों सिद्धांत वास्तव में एक–दूसरे से बहुत भिन्न है। संज्ञानात्मक या वर्णनात्मक सिद्धांत की परिधि में ही जी.ई.मूर, जे.ई.प्रिचर्ड, डब्ल्यू.डी.रॉस आदि कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो

नैतिक शब्द या नैतिक निर्णयों को प्राकृतिक परिधि से बाहर का विषय मानते हैं। इनके विचार निर्प्रकृतिवादी माने जाते हैं। इन विचारकों का मत है कि नैतिकता वस्तुस्थितियों का ही गुण होती है, पर वह गुण प्राकृतिक नहीं होकर अप्राकृतिक होता है। फलस्वरुप उस गुण को साधारण इन्द्रियानुभूति से नहीं, वरन् एक विशेष प्रकार की अन्तर्दृष्टि से ही जाना जा सकता है। शुभता या अशुभता जैसा नैतिक गुण उसी तरह किसी वस्तु या वस्तुस्थिति का गुण होता है जिस तरह पीलापन किसी फूल का गुण होता है। इन दोनों गुणों में अर्थात् शुभता तथा पीलापन में भेद केवल यह है कि जहां पीलापन एक प्राकृतिक गुण है जिसे आँखों के द्वारा देखा जा सकता है, वहीं शुभता एक अप्राकृतिक गुण है जिसे किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं वरन् अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ही जाना जा सकता है। कोई निर्प्राकृतिक गुण जो नैतिकता की परिधि में आता है। प्राकृतिक गुण में परिवर्तित नहीं हो सकता और न ही वह ऐसा किया जा सकता है। यह अपने ही तरह का एक विशिष्ट तत्त्व होता है। यही कारण है कि नैतिक शब्द या नैतिक निर्णयों की अपनी मौलिकता होती है।

निर्प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक शब्द अनन्य तथा अपरिभाष्य है। इसलिए हम निर्नैतिक तथ्यात्मक शब्दों द्वारा कभी भी नैतिक निर्णयों की व्याख्या नहीं कर सकते। 'भावना' 'इच्छा' 'रूचि' 'सुख' 'विकास' आदि निर्नैतिक तथ्यात्मक शब्दों के आधार पर 'शुभ' 'उचित' 'कर्त्तव्य' आदि नैतिक शब्दों की परिभाषा करने का प्रयास प्रकृतिवादियों की बहुत बड़ी भूल है जिसके फलस्वरुप 'प्रकृतिवादी दोष' की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि निर्प्रकृतिवादी नीतिशास्त्र को पूर्णतः स्वतंत्र विज्ञान मानते हैं जिसके निर्णयों के अर्थ को किसी अन्य विज्ञान के कथनों द्वारा कभी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार विज्ञान के रूप में नीतिशास्त्र की पूर्ण स्वतंत्रता और नैतिक शब्दों की अनन्यता और अपरिभाष्यता प्रकृतिवाद से भिन्न निर्प्रकृतिवाद की मुख्य विशेषता है।

निर्प्राकृतिवाद के समर्थकों के मतानुसार हम अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा शुभ–अशुभ तथा उचित–अनुचित का जो साक्षात् एवं स्वतः सिद्ध नैतिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह गणित सम्बन्धी ज्ञान की भांति पूर्णतः निश्चित या असंन्दिग्ध होता है। इसका अर्थ यह है कि अन्तःप्रज्ञा हमें कभी भी संदिग्ध अथवा मिथ्या नैतिक ज्ञान प्रदान नहीं करती। इसके अतिरिक्त निर्प्रकृतिवादी यह भी मानते हैं कि हमें अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त होने वाला नैतिक ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ ही होता है। इसका कारण यह है कि उक्त अंतःप्रज्ञात्मक नैतिक ज्ञान किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं इच्छाओं, अभिवृत्तियों या रूचियों पर आधारित नहीं होता। इस नैतिक ज्ञान का एकमात्र आधार अंतःप्रज्ञा है जो किसी न किसी रूप में सभी व्यक्तियों में अवश्य विद्यमान रहती है। निर्प्रकृतिवादियों का दृढ़ विश्वास है कि अंतःप्रज्ञा हमें निश्चय ही वस्तुनिष्ठ, नैतिक ज्ञान प्रदान करती है जो गणित विषयक ज्ञान के समान ही पूर्णतः उपर्युक्त असंदिग्ध तथा स्वतः सिद्ध होता है। एक उदाहरण द्वारा उपर्युक्त किया जा सकता है। जिस प्रकार घास को देखते ही हम तत्काल और प्रत्यक्षतः यह जान लेते हैं कि वह हरी है उसी प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा निर्दोष मनुष्य अथवा किसी अन्य प्राणी को अकारण भयंकर यातना देते हुए देखकर हम तुरन्त और प्रत्यक्ष रूप से यह जान लेते हैं कि उस व्यक्ति का वह कर्म अनुचित है। इस दृष्टि से अंतःप्रज्ञात्मक साक्षात् वस्तुनिष्ठ नैतिक ज्ञान प्रत्यक्ष वस्तुनिष्ठ अनुभवात्मक ज्ञान के समान ही है। इन दोनों में अंतर केवल यही है कि अनुभवात्मक ज्ञान हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित होता है और साक्षात् नैतिक ज्ञान हमारी अंतः प्रज्ञा पर।

यद्यपि सभी निर्प्रकृतिवादी वस्तुनिष्ठ साक्षात् नैतिक ज्ञान के लिए अंतः प्रज्ञा को अनिवार्य मानते हैं, फिर भी अंतः प्रज्ञा के स्वरुप तथा उसकी सीमा के विषय में उनमें परस्पर मतभेद हैं। रैल्फ एडवर्थ, सैम्युअल क्लार्क आदि कुछ दार्शनिक अन्तःप्रज्ञा को पूर्ण बौद्धिक मानते हैं। इसके विपरीत फ्रांसिस हचिसन, शैफ्टसबरी आदि कुछ दार्शनिक

अंतःप्रज्ञा को केवल भावनात्मक शक्ति के रूप में ही स्वीकार करते हैं। शैफ्टसबरी तथा हचिसन ने इसे 'नैतिक संवित्त' की संज्ञा दी है। अतः प्रज्ञा के स्वरुप की भांति इसकी सीमा के सम्बन्ध में भी इन दार्शनिकों के विचार भिन्न–भिन्न है। प्रिचर्ड जैसे दार्शनिक का मत है कि हमें अंतःप्रज्ञा द्वारा वस्तुओं और कर्मों के शुभ या अशुभ तथा उचित या अनुचित होने की साक्षात् लाभ प्राप्त होता है। इन दार्शनिकों को कर्मवादी कहा जाता है। परन्तु डब्ल्यू. डी.रॉस जैसे दार्शनिकों का विचार है कि हमें अंतः प्रज्ञा द्वारा केवल कुछ आधारभूत नैतिक नियमों के औचित्य या अनौचित्य का ही साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। इन दार्शनिकों को 'नियमवादी' कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रकृतिवादियों के वस्तुनिष्ठवाद के विपरीत निर्प्रकृतिवादी का वस्तुनिष्ठवाद अंतःप्रज्ञा द्वारा प्रत्यक्षतः ज्ञात हुए विशेष निर्प्राकृतिक गुणों अथवा संबंधों पर ही आधारित है और यही इन दोनों में मूल अंतर है।

3.3.2 जी.ई.मूर :

समकालीन नैतिक विचारकों में मूर का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्होंने समकालीन नैतिक विचारधारा को अपनी अपूर्व देनों से बहुत अधिक प्रभावित किया है। उनके नैतिक विचार उनकी प्रमुख रचनाओं 'प्रिन्सपिया एथिका', 'एथिक्स' और 'फिलॉसिफिक स्टडीज' में नीतिशास्त्र के ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया जिनसे दर्शनशास्त्र में आधुनिक विश्लेषणात्मक आंदोलन को एक नई दिशा मिली अर्थात् परम्परागत रूप में दार्शनिक पद्धति की रचना के स्थान पर उन्होंने दर्शन के मौलिक प्रश्नों के विश्लेषण से चिंतन करना प्रारम्भ किया। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में 'नीतिमीमांसा' का इसीलिए महत्वपूर्ण स्थान है। इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने दो प्रश्नों को पाने का आग्रह किया है। पहला – किस प्रकार की वस्तुओं का अस्तित्व स्वतः अपने लिये होना चाहिये अर्थात् कौन सी वस्तुएं अपने आप में शुभ है। दूसरा – प्रश्न यह है कि

'किस प्रकार की क्रियाएं हमें करनी चाहिए अर्थात् हमें कौन से कार्य करने चाहिये। इन प्रश्नों के साक्षेप हम यह समझ सकते हैं कि मूर ने तीन मुख्य अधिनीतिशास्त्रीय प्रत्ययों प्रकृतिवादी तर्कदोष और उचित एवं कर्तव्य पर सविस्तार उत्तर देने का प्रयास किया है। अब इन तीनों का वे क्रमशः विश्लेषण से हम मूर के विचारों को जानेंगे :

2.3.2.1 शुभ :

मूर अपनी पुस्तक प्रिन्सिपिया एथिका' के प्रथम अध्याय में 'शुभ' का अर्थ क्या है और उसकी ठीक–ठीक परिभाषा कैसे दी जा सकती है? को नीतिशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और मूल प्रश्न मानते हैं। मूर द्वारा किये गये शुभ के अर्थ, परिभाषा, स्वरुप, लक्षण इत्यादि का निम्नलिखित विश्लेषण को हम निम्नलिखित रूप से जान सकते हैं।

शुभ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मूर कहते हैं कि 'शुभ' की परिभाषा देना असंभव है, क्योंकि वह सरल तथा अविश्लेषण निर्प्राकृतिक गुण है। हम किसी प्राकृतिक, अतीन्द्रिय अथवा अलौकिक गुण के आधार पर कभी भी 'शुभ' को परिभाषित नहीं कर सकते। शुभ की अपरिभाष्यता के विषय में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'यदि मुझसे पूछा जाए कि 'शुभ' की परिभाषा कैसे की जा सकती है तो मेरा उत्तर यही है कि 'शुभ शुभ है' और यही इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर है, इस संबंध में मैं केवल यही कर सकता हूँ। परन्तु निराशात्मक प्रतीत होते हुए भी ये उत्तर बहुत महत्वपूर्ण है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मूर के विचार में 'शुभ' अपरिभाष्य है।

शुभ की अपरिभाष्यता से संबंधित मूर के उपर्यक्त मत के विषय में यहां दो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विसार करना आवश्यक है। पहला प्रश्न यह है कि वे 'शुभ' को किस अर्थ में अपरिभाष्य मानते हैं और दूसरा यह है कि उनकी धारणा के अनुसार शुभ की विशेषताएं क्या हैं?

परिभाषा : परिभाषा का प्रयोग मुख्यतः तीन अर्थों में किया जाता है। मूर इन तीनों के बीच अंतर करते हैं। प्रथम प्रकार की परिभाषा शाब्दिक परिभाषा और दूसरे प्रकार की परिभाषा का उपयोग सूचना मूलक परिभाषा के अर्थ में होता है। इन दोनों परिभाषाओं के साक्षेप मूर स्पष्ट से कहते हैं कि 'शुभ' की 'शाब्दिक' अथा 'उपयोगात्मक' परिभाषा में 'शुभ' शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए हम इसके स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार हम अनेक उदाहरणों द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को यह बता सकते हैं कि शुभ शब्द का प्रयोग कैसे किया जाता है। स्पष्ट है कि मूर के विचार में इस दृष्टि से 'शुभ' अपरिभाष्य नहीं है और दार्शनिक दृष्टि से इस प्रकार की परिभाषाओं का कोई महत्व नहीं है।

तीसरे प्रकार की परिभाषा जिसे मूर बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं, वह है विश्लेषणात्मक परिभाषा। जब हम किसी वस्तु के विभिन्न भागों अथवा तत्वों का विश्लेषण करके उसके स्वरुप को भली–भाँति स्पष्ट करते हैं तभी यह कहा जा सकता है कि हमने उसकी परिभाषा की है। परन्तु ऐसी परिभाषा केवल उन्हीं वस्तुओं को हो सकती है जिनके भाग या तत्व हों। परन्तु मूर का मत जा सके। वस्तुतः 'शुभ' एक ऐसा सरल गुण है जो अविश्लेषण है। 'शुभ' की ऐसी विशेषता या लक्षण ही है, जिससे इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। अतएव शुभ की अपरिभाष्यता को जानने के लिए शुभ की विशेषताओं को जानना आवश्यक है।

शुभ के लक्षण :

1. **सरल** – मूर के अनुसार 'शुभ' एक सरल (Simple) प्रत्यय है। 'शुभ' के विषय में अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए मूर ने पीले रंग के साथ उसकी तुलना की है। वे कहते हैं पीले रंग की भांति 'शुभ' भी एक सरल गुण है। यदि किसी व्यक्ति ने

स्वयं कभी भी पीले रंग का अनुीाव नहीं किया है उसे किसी भी उपाय द्वारा यह नहीं समझा सकते कि पीला रंग कैसा होता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने 'शुभ' का स्वयं साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं किया है उसे किसी भी उपाय द्वारा यह समझाना संभव नहीं है कि 'शुभ' का अर्थ क्या है? इसका कारण यह है पीला रंग और 'शुभ' दोनों ही सरल गुण है, जिसके भाग या तत्व नहीं होते। सारांशतः शुभ की प्रथम विशेषता है कि सरल प्रत्यय होने के कारण वह अपरिभाष्य है। मूर के ही शब्दों में 'वे उस सरल प्रकार के प्रत्यय है जिनसे परिभाषा की रचना की जाती है और प्रकार के प्रत्यय है जिनसे परिभाषा की रचना की जाती है और जिनको फिर आगे परिभाषित नहीं किया जा सकता।''

2. अनन्य – मूर अर्थ की दूसरी विशेषता हैं कि वह जिस गुण का ज्ञान कराता है वह अनन्य है। इसका अर्थ यह है कि उसके समान कोई दूसरा गुण नहीं है जिसके द्वारा इसे परिभाषित किया जा सके। दूसरे शब्दों में अनन्य का अर्थ है कि वह अन्य सभी गुणों से भिन्न है। इस प्रकार शुभ अविश्लेषण तथा अनन्य होने के कारण अपरिभाष्य है।

3. निर्प्राकृतिक – मूर के अनुसार शुभ निर्प्राकृतिक हैं। अर्थात् शुभ एक निर्प्राकृतिक गुण है। वह ऐसे गुण का बोध कराता है जिसका प्राकृतिक गुणों की तरह अनुभव नहीं किया जा सकता। अर्थात् इसका प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता। इसका ज्ञान केवल अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही साक्षात् रूप से होता है। सारांश में शुभ सरल, अनन्य और निर्प्राकृतिक गुण है इसलिए इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। शुभ अपरिभाषय है।

'शुभ' और 'शुभ वस्तु' – शुभ की अपरिभाष्यता के सम्बन्ध में विशेष रूप से ध्यान देने के बात है कि मूर केवल 'शुभ' को ही अपरिभाष्य मानते हैं, न कि 'शुभ वस्तु' को। मूर द्वारा निर्दिष्ट विश्लेषणात्मक परिभाषा 'शुभ' के लिए तो संभव नहीं है परन्तु 'शुभ वस्तु' के लिए संभव है, क्योंकि 'शुभ वस्तु' का विश्लेषण किया जा सकता है। 'शुभ' तथा 'शुभ

वस्तु' को एक नहीं माना जा सकता है। इन दोनों का अंतर इससे भी स्पष्ट है कि जब भी किसी वस्तु को शुभ कहते हैं तो इससे यही सिद्ध होता है कि वह वस्तु शुभ से भिन्न है और इस वस्तु में पाएं जाने वाले गुण को शुभ कहते है।

समीक्षा –

1. **'शुभ' गुण का बोध नहीं कराता –** समकालीन दर्शन में कई दार्शनिक ऐसे हैं जो मूर की इस धारणा से सहमत नहीं है कि प्रत्येक विशेषण अनिवार्य रूप से गुण बोधक होता है और वह वस्तु की विशेषता का ही वर्णन करता है। उनकी धारणा है कि कुछ विशेषण वस्तुओं का वर्णन न करके भावनाओं और धारणाओं को प्रकट करते हैं। इसलिए प्रत्येक विशेषण को गुण का बोध कराने वाला नहीं कह सकते हैं। ऐसी स्थिति में मूर के संबंध में यही मानना पड़ेगा कि नैतिक शब्द या 'शुभ' किसी गुण का बोध नहीं कराते।

2. **मैकेन्जी के अनुसार शुभ की परिभाषा सम्भव है –** मूर के विरोध में मैकेन्जी ने अपनी धारणा व्यक्त की है कि शुभ की परिभाषा नैतिक मूल्य के अर्थ संभव हो सकती है और इसकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं – 'मेरे विचार से शुभ की परिभाषा 'परोपकारी कार्य–कलाप' की जा सकती है। अर्थात् परोपकार–परायणता शुभत्व के अन्य रूपों को उत्पन्न करने या उनकी वृद्धि में प्रेरक होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूर की शुभ की अपरिभाष्यता की धारणा उचित नहीं है।

3. टी.ई.हिल ने मूर की शुभ की अपरिभाष्यता की आलोचना करते हुए कहा कि शुभ की व्याख्या अन्य नैतिक प्रत्ययों के सम्बन्ध के आधार पर भी की जस सकती है, क्योंकि शुभ का 'कर्तव्य', 'चाहिए', 'उचित' तथा 'अनुचित' से गहन संबंध है। इस संबंध के आधार पर शुभ की व्याख्या संभव है। मूर ने शुभ को अविष्लेष्य कह कर शुभ और अन्य नैतिक प्रत्ययों के संबंध को महत्वहीन कर दिया है।

अपनी पुस्तक 'प्रिन्सपिया ऐथिका' के अन्तिम अध्याय में मूर ने मानकीय नीतिशास्त्र के इस आधारभूत प्रश्न पर भी विस्तार से विचार किया है कि कौन सी वस्तुएं – अर्थात् मानवीय अनुभव तथा मनोदशाएँ – अपने आप में शुभ और कौन सी अपनी आप में अशुभ हैं। इस प्रष्न के प्रथम भाग का उत्तर देते हुए वे कहते हें कि मनुष्य के आनन्दपूर्ण सौन्दर्यात्मक अनुभव और व्यक्तियों का पारस्परिक स्नेह में दोनों निश्चय ही स्वतः शुभ है। अन्य सभी शुभ वस्तुओं को इन दोनों के साधन के रूप में शुभ माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के समस्त कर्त्तव्य और उचित कर्म अन्ततः इन्हीं स्वतः शुभ वस्तुओं की उत्पत्ति तथा बुद्धि के साधन मात्र है। मूर का विचार है कि अशुभ एवं कुरुप वस्तुओं का आनन्द प्राप्त करना, शुभ तथा सुन्दर वस्तुओं से घृणा करना और तीव्र पीड़ा का अनुभव करना – ये तीनों अपने आप में अशुभ है। अन्य सभी अशुभ वस्तुओं को हम इन तीनों में से स्वतः अशुभ वस्तुओं के साधन के रूप में ही अशुभ मान सकते हैं।

मूर के मतानुसार हम उपर्युक्त को तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा स्वतः शुभ या अशुभ प्रमाणित नहीं कर सकते। हमें अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही इस बात का साक्षात ज्ञान प्राप्त होता है कि कौन सी वस्तु अपने आप में शुभ है तथा कौन सी अपने आप में अशुभ है। इस प्रकार के साक्षात् ज्ञान के लिए अंतःप्रज्ञा के अतिरिक्त हमारे पास कोई अन्य साधन नहीं हैं।

शुभ की परिभाषा दोषयुक्त होगी – मूर की धारणा है कि शुभ की परिभाषा नहीं हो सकती। यदि परिभाषा की जायेगी तो दोष उत्पन्न हो जायेगा उस दोष का नाम प्रकृतिवादी तर्कदोष होगा। इसके विषय में दो आपत्ति की जा सकती है, प्रथम यह है कि मूर के अनुसार प्राकृतिक पदों द्वारा 'शुभ' की परिभाषा नहीं की जा सकती क्योंकि वह अप्राकृतिक है और उसका ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता। परन्तु इसके विरोध में यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि प्राकृतिक पदों का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में होता है तो शुभ का ज्ञान भी अन्तःप्रज्ञा से प्रत्यक्ष रूप में ही होता है। दूसरा जिसे मूर प्रकृतिवादी तर्कदोष कहते हैं, उसे तार्किक दोष न कह कर परिभाषेयता का दोष कहना चाहिए। पुनः शुभ को

अपरिभाष्य कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि मूर इसके ही द्वारा अन्य नैतिक प्रत्यक्षों की परिभाषा करते हैं। प्रश्न है जो अपरिभाष्य है उससे दूसरे की परिभाषा कैसे की जा सकती है?

इस प्रकार उपर्युक्त सभी आपत्तियों को ध्यान में रखते हुये यही कहा जा सकता है कि मूर 'शुभ' के स्वरुप की उचित और युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर सकें।

3.2.2.ii. प्रकृतिवादी तर्कदोष :

किसी वस्तु अथवा गुण तथा शुभ को एक समझ कर 'शुभ' की परिभाषा करने पर जो दोष उत्पन्न होता है, उसे प्राकृतिवादी तर्कदोष कहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी प्राकृतिक या आध्यात्मिक गुण के साथ 'शुभ' की एकाकारता प्रदर्शित करना ही प्रकृतिवादी तर्कदोष है। मूर के शब्दों में 'जब कोई व्यक्ति .....शुभ को (जो प्राकृति पदार्थ नहीं है) और किसी भी प्राकृतिक पदार्थ को, एक समझने की भूल करता है .... तब उसे प्राकृतिवादी तर्कदोष कहते हैं।

प्रकृतिवादी दोष के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए मूर कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति निर्प्राकृतिक गुण को बोध कराने वाले 'शुभ' शब्द को किसी प्राकृतिक गुण के बोधक शब्द के समान ही मान लेता है तो इसे 'प्रकृतिवादी दोष' कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, मूर के अनुसार किसी प्राकृतिक गुणबोधक शब्द के आधार पर 'शुभ' की परिभाषा करने के परिणाम स्वरुप प्रकृतिवादी दोष की उत्पत्ति होती है, क्योंकि 'शुभ' प्राकृतिक गुण का बोध कराने वाला शब्द नहीं है। जो दार्शनिक 'इच्छा', 'सुख', 'विकास' आदि प्राकृतिक गुणों के आधार पर 'शुभ' की परिभाषा करते हैं उनके सिद्धांतों में अनिवार्यतः यही दोष पाया जाता है। मूर के विचार में इस प्रकार की प्रत्येक परिभाषा 'शुभ' नामक निर्प्राकृतिक गुण का किसी ऐसे गुण के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं जो निर्प्राकृतिक गुण नहीं हैं। मूर के अनुसार बहुत से दार्शनिक यह सोचते हैं कि जब वे इन अन्य गुणें की चर्चा करते हैं तो वास्तव में 'शुभ' की परिभाषा'

कर रहे हैं, वे यह सोचते हैं कि ये गुण 'अन्य गुण' न होकर वस्तुतः शुभत्व से अभिन्न है – अर्थात् ये अन्य गुण स्वतः शुभत्व ही है। इसी विचार या मान्यता को मैं 'प्रकृतिवादी दोष' की संज्ञा देता हैं

मूर द्वारा बताये गये उपर्युक्त स्वरुप से यह स्पष्ट है कि 'जब कोई व्यक्ति दो प्राकृतिक पदार्थों को एक समझने का भूल करता है, एक सी परिभाषा दूसरे से करते हुए, तब कोई युक्ति नहीं कि उसे प्रकृतिवादी तर्कदोष कहा जाय। दृष्टान्त के लिए, यदि अपने–आपको, जो स्वयं एक प्राकृतिक पदार्थ है, और प्रसन्नता या सुख को जो दूसरे प्राकृतिक पदार्थ हैं, एक समझने की भूल की जाय, तो इसे प्रकृतिवादी तर्कदोष नहीं कहा जायेगा। परन्तु यदि वह 'शुभ' को जो उस अर्थ में प्राकृतिक पदार्थ नहीं है, और किसी भी प्राकृतिक पदार्थ को एक समझने का भूल करता है, तब तो वहां युक्ति है कि उसे प्रकृतिवादी तर्कदोष कहा जाये।

प्रकृतिवादी तर्कदोष की एक अन्य व्याख्या से इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है। मूर का कहना है कि शुभ की परिभाषा नहीं की जा सकता क्योंकि 'शुभ' जो सरल और अविश्लेष्य है, 'शुभ वस्तु' से अलग है। इन तीनों को शुभ कहते हैं तो स्वतः यह सिद्ध हो जाता है कि वह 'वस्तु' शुभ से भिन्न है। इनको एक नहीं माना जा सकता। ''जब यह कहा जाता है कि 'अमुक वस्तु शुभ है' तो समझा यह जाता है कि स्वयं को एक मान लिया जाता है। इसमें प्रकृतिवादी तर्कदोष है यदि दोनों एक हों तो 'अमुक वस्तु शुभ है' वाक्य में 'शुभ' के स्थान पर 'अमुक वस्तु' रख दे ंतो यह वाक्य बन जायेगा 'अमुक वस्तु (शुभ) अमुक वस्तु है। यह एक निरर्थक वाक्य है। फिर 'शुभ' पद से 'अमुक वस्तु' का संकेत भी नहीं मिलता। पर 'अमुक वस्तु शुभ है' एक सार्थक वाक्य है।'' वाक्य के विश्लेषण के आधार पर 'शुभ' और 'वस्तु' का अलगाव सिद्ध हो जाता है और साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि शुभ का वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर किस प्रकार प्रकृतिवादी तर्कदोष उत्पन्न हो जाता है।

समकालीन नीतिशास्त्र के अन्तर्गत मूर के प्रकृतिवादी तर्कदोष का महत्वपूर्ण स्थान है। मूर ने इस सिद्धांत के आधार पर अनेक नैतिक सिद्धांतों की समीक्षा की है। इसके अनुसार नीतिशास्त्र का मूल विषय शुभ है। शुभ की अनेक नैतिक सिद्धांतों ने दोषपूर्ण की है। शुभ को परिभाषित करने की जिन सिद्धातों ने कोशि की है वे सभी प्रकृतिवादी तर्कदोष से ग्रसित हुए हैं। इतना ही नहीं मूर ने इसी सिद्धांत के आधार पर शुभ की व्याख्या करते हुए उसे निर्प्राकृतिक, अनन्य और सरल गुण स्वीकार किया है। इसकी व्याख्या या परिभाषा नहीं की जा सकती। इसका ज्ञान अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही सीाव है। इनके इसी सिद्धांत के प्राभाव के फलस्वरुप समकालीन नैतिक विचारकों ने नैतिक प्रत्ययों के विश्लेषण का नीतिशास्त्र का प्रमुख कार्य मान लिया। स्वयं मूर ने इसी सिद्धांत के आधार पर आधुनिक नैतिक सिद्धांतों की आलोचना की और अपने नत्य–अन्तःप्रज्ञावाद का समर्थन किया। इसी के आधार पर उन्होंने सुखवाद, विकासवाद और आत्मपूर्णतावादी सिद्धांतों में प्रकृतिवादी तर्कदोष प्रदर्शित करते हैं।

3.2.2.iii. मूर के शुभ, उचित, कर्त्तव्य एवं सद्‌गुण सम्बन्धी विचार :

मूर का एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि 'हमें कौन से कर्म करना चाहिये' विचारणीय है। इस प्रश्न के अन्तर्गत 'उचित' और 'कर्त्तव्य' के विषय में मूर का दृष्टिकोण जानना होगा। यह भी देखना होगा कि 'शुभ' से इन दोनों का क्या सम्बन्ध है। अपनी पुस्तक 'प्रिन्सपिया एथिका' के पाँचवें अध्याय में मूर ने – 'उचित', 'कर्त्तव्य' तथा 'सद्‌गुण' इन नैतिक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है।

कर्त्तव्य – मूर कर्त्तव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं – हमारे 'कर्त्तव्य' की परिभाषा इस कर्म के रूप में की जा सकती है जो किसी सम्भव विकल्प की उपेक्षा विश्व में अधिक शुभ के अस्तित्व का कारण होगा।' अर्थात् मूर के अनुसार मनुष्य का वही कार्य उसका कर्त्तव्य होगा जिससे अधिक से अधिक शुभ उत्पन्न हो। 'कर्त्तव्य' शब्द का प्रयोग

सामान्यतः केवल उन्हीं कर्मों के लिए किया जाता है जो नैतिक जिन्हें न करने के फलस्वरुप नैतिक अनुमोदन की भावना अभिव्यक्त होती है।

कर्त्तव्य की उपर्युक्त विशेषता के अतिरिक्त मूर ने उसकी दो अन्य विशेषताएं भी बताई हैं जो इस प्रकार है। हम उन्हीं कर्मों को 'कर्त्तव्य' की संज्ञा प्रदान करते हैं जिन्हें अधिकतर व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से नहीं करना चाहते और जिन्हें करने के लिए किसी प्रकार की बाध्यता 'कर्त्तव्य' की अनिवार्य विशेषता है। इसके अतिरिक्त 'कर्त्तव्य' की दूसरी विशेषता यह है कि इसका पालन न करना सामान्यतः अन्य व्यक्तियों के लिए दुःखद परिणाम उत्पन्न करता है।

उचित – मूर उचित के विषय में कहते हैं – 'उचित' का तात्पर्य 'एक शुभ परिणाम के कारण' के अतिरिक्त न कुछ है न कुछ हो सकता है। अन्य प्रकार से उचित की परिभाषा देते हुए तथा कर्त्तव्य से उसकी भिन्नता बताते हुए मूर कहते हैं कि 'जो 'उचित' है अथवा नैतिक दृष्टि से अनुमति योग्य है 'वह इससे (कर्त्तव्य) इसी संदर्भ में भिन्न है, कि यह किसी सम्भव विकल्प की अपेक्षा कम शुभ का कारण नहीं होगा।' अर्थात् जो कार्य दूसरे कार्यों की अपेक्षा अधिक शुभ उत्पन्न करेगा वही उचित है, इसके विपरीत अधिक शुभ उत्पन्न करेगा वही उचित है, इसके विपरीत जो कार्य कम शुभ उत्पन्न करेगा वह अनुचित है।

मूर नैतिक रूप से किसी कार्य को करने की बाध्यता को जहाँ उचित मानते हैं वहीं इसके साथ विश्व में अधिक से अधिक सम्भव शुभ परिणाम के होने को भी सम्मिलित कर देते हैं। दूसरे शब्दों में यदि कार्य उचित है तो उसे सर्वाधिक शुभ परिणाम भर उत्पन्न करना होगा। उनके ही शब्दों में 'मैं उस कार्य को करने के लिए नैतिक रूप से आबद्ध हूँ तथा इस कथन में, कि 'यह कर्म विश्व में शुभ का सर्वाधिक सम्भव परिणाम उत्पन्न करेगा' तादात्म्य है।''

सद्‌गुण – सद्‌गुण के अर्थ की व्याख्या करते हुए मूर अरस्तू द्वारा दी गई 'सद्‌गुण' की इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं कि 'सद्‌गुण कुछ कर्मों को करने की

स्वभावगत् प्रवृत्ति है' परन्तु मूर का निश्चिम मत है कि हम मनुष्य की उसी प्रवृत्ति को सद्‌गुण कह सते हैं जो व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी है।

मूर ने एक अन्य दृष्टि से भी सद्‌गुण शब्द को व्याख्या की हैं वे कहते हैं कि सद्‌गुण मूल्यात्मक शब्द भी है – अर्थात् हम इन शब्दों का प्रयेाग किन्हीं वस्तुओं की प्रशंसा अथवा निन्दा करने के लिए भी करते हैं। मूर सद्‌गुणों को शुभ परिणाम उत्पन्न करने के साधन के रूप में ही प्रशंसनीय मानते हैं। स्वतः शुभ के रूप में नहीं।

मूर 'उचित' तथा कर्त्तव्य का प्रयेाग लगभग समान अर्थ में करते हैं और वे इन दोनों में कोई आधारभूत अंतर स्वीकार नही करते। उनका विचार है कि इन दोनों शब्दों की परिभाषा 'शुभ' के आधार पर दी जा सकती है। हम उसी कर्म को उचित अथवा कर्त्तव्य मान सकते हैं जिससे सर्वाधिक शुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं। इन दोनों शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में अपनी उपर्युक्त मान्यता को स्पष्ट करते हुए मूर कहते हैं कि 'जो उचित हैं अथवा जो हमारा कर्त्तव्य है उसकी परिभाषा अवश्य ही शुभ के साधन के रूप में की जानी चाहिए।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन शब्दों के अर्थ के विषय में मूर का दृष्टिकोण पूर्णतः उपयोगितावादी है। किसी कर्म अथवा नियम के उपयोगिता के आधार पर ही वे उसे उचित मानते हैं और इसी आधार पर वे कर्त्तव्य तथा सद्‌गुण की व्याख्या भी करते हैं। यही कारण है कि वे 'शुभ' के विपरीत इन शब्दों को अपरिभाष्य भी नहीं मानते।

इसके अतिरिक्त मूर के अनुसार, 'शुभ' तथा इन शब्दों के अर्थ में एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि किसी वस्तु का अपने आप में शुभ कहने के लिए हम तिर्क नहीं दे सकते, क्योंकि 'शुभ' विषयक हमारा ज्ञान केवल अन्तःप्रज्ञा पर ही आधारित होता है। परन्तु हमारा कौन सा कर्म उचित अथवा हमारा कर्त्तव्य क्या है ? इसे हम तर्क द्वारा अवश्य प्रमाणित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि 'शुभ' के विपरीत 'उचित' 'कर्त्तव्य' और 'सद्‌गुण' के ज्ञान के लिए मूर के सिद्धांत में अन्तःप्रज्ञा का कोई स्थान नहीं हैं।

मूर ने 'उचित' और 'कर्त्तव्य' के अर्थ के विषय में व्यक्तिनिष्ठवाद के सभी रूपों का खंडन किया है। अपनी दूसरी पुस्तक 'एथिक्स' में वे यह प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं कि किसी कर्म को 'उचित' या 'अनुचित' कहने का अर्थ यह नही कि कोई व्यक्ति अथवा समुदाय उस कर्म के प्रति अनुमोदन या अननुमोदन की भावना का अनुसरण करता है। वस्तुतः कर्मों के औचित्य अथवा अनौचित्य का निर्णय उनके शुभ या अशुभ परिणामों के आधार पर ही किया जा सकता है जो किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं, इच्छाओं तथा अभिवृत्तियों पर निर्भर नही होते।

हारॉल्ड आर्थर प्रिचर्ड

3.3. एच.ए.प्रिचर्ड :

बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दार्शनिक प्रिचर्ड का जन्म 1871 में लन्दन में हुआ। प्रिचर्ड लन्दन के ट्रिनटी कॉलेज में दर्षन के प्रोफेसर रहे।

एच.ए.प्रिचर्ड के नैतिक दर्शन से सम्बन्धित लेख उनकी दो पुस्तकों में संकलित है। ये पुस्तके हैं 1949 में प्रकाशित 'मॉरल ऑब्लिगेशन' तथा 1968 में प्रकाशित 'मॉरल अब्लिगेशन ऐंड ड्यूटी ऐंड इंटरेस्ट'। उनका सर्वप्रथम और सर्वाधिक विख्यात लेख 1912 में दर्शन विषयक शीर्षक या 'डच मॉरल फिलासाफी रैस्ट ऑन ए मिस्टेक' अर्थात 'क्या नैतिक दर्शन एक भूल पर आधारित है?' उन्होंने अने इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया और अनेक तर्कों द्वारा इस उत्तर को उचित सिद्ध करने का भी प्रयास किया।

प्रिचर्ड का मानना है कि प्राचीन काल से ही नीतिशास्त्री इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयत्न करते रहे हैं कि जो कर्म उचित अथवा हमारा कर्त्तव्य है उसे करने के लिए हम कौन से कारण या तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, वे सामान्य व्यक्ति के इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते हें कि उसे अपने कर्त्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। परन्तु प्रिचर्ड के विचार में कर्त्तव्य पालन के कारणों को खोजने का प्रयास करना अनुचित एवं अनावश्यक है। हम अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए कोई

कारण अथवा तर्क प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक कम्र उचित अथवा हमरा कर्त्तव्य है तो इसका अर्थ बिना किसी तर्क के केवल यही है कि वह कर्म हमें करना चाहिए। ऐसे कर्म के विषय में हमारा यह प्रश्न नितान्त अनुचित और निरर्थक है कि हमें वह कर्म क्यों करना चाहिए।

प्रिचर्ड के विचार में हमारे कर्त्तव्य–पालन का औचित्य अथवा उसकी बाध्यता स्वत5 सिद्ध हैं, उसे किसी युक्ति द्वारा उचित सिद्ध करना न तो सम्भव है और न आवश्यक। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि हमें अपने कर्त्तव्य का पालन केवल इसिलए करना चाहिए कि वह हमारा कर्त्तव्य हैं। यहां प्रिचर्ड के मत पर काण्ट के नैतिक सिद्धांत 'कर्त्तव्य' के लिए कर्त्तव्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। कांट के समान वे भी निश्चित करते समय हमें उसके वास्तविक अथवा सम्भावित परिणामों की इच्छा से प्रेरित नहीं होना चाहिए। हमारे लिए कर्त्तव्य पालन की बाध्यता स्वतः सिद्ध है।

अपने उपर्युक्त सिद्धांत के आधार पर प्रिचर्ड ने उन सभी दार्शनिकों के मत का खंडन करने का प्रयास किया है जो कर्तव्य पालन के लिए कुछ विशेष कारण या तर्क प्रस्तुत करते हैं। प्रिचर्ड का कथन है कि इन दार्षनिकों ने इस प्रश्न के मुख्य दो उत्तर दिये है कि हमें अपने कर्त्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। प्रथम उत्तर यह दिया गया कि हमें स्वयं अपने अथवा अन्य व्यक्तियों के हित या सुख्या के लिए ही कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। प्रिचर्ड का विचार है कि प्लेटो, हचिसन, विलियम पैले, जे.एस.मिल. आदि दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में इसी मत का समर्थन किया है। परन्तु प्रिचर्ड परिणाम सापेक्षवादी सभी सिद्धांतों का खंडन करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार कर्त्तव्य पालन स्वयं व्यक्ति अथवा दूसरे के लिए वास्तविक संभावित परिणामों के विचार पर आधारित नहीं होता।

कर्त्तव्य–पालन सम्बन्धी उपर्युक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि कर्म के स्वतः शुभत्व के कारण ही हमें वह कर्म करना चाहिए। इस मत के विरुद्ध प्रिचर्ड का तर्क है कि जब हम किसी स्वतः शुभ कर्म को अपना कर्त्तव्य समझकर करते हैं तो कर्त्तव्य–पालन सम्बन्धी हमारी यह अभिप्रेरणा उस कर्म के स्वतः शुभत्व पर निर्भर

नहीं होती, इसके विपरीत उस कर्म का स्वतः शुभत्व ही हमारी इस अभिप्रेरणा पर आधारित रहता है। इस प्रकार प्रिचर्ड यह मानते हैं कि कर्त्तव्य पालन के कारणों के विषय में उपर्युक्त दोनों मत भ्रामक तथा अमान्य है क्योंकि वे ऐसे प्रश्न का उत्तर देना चाहते हें तो वास्तव में अनुचित प्रश्न है।

कर्त्तव्य–पालन के गुण के सम्बन्ध में यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि यदि कर्तव्य समझे जाने वाले कर्म में विद्यमान रहता है अथवा इस कर्त्तव्य का पालन करने वाले व्यक्ति में। इस सन्दर्भ में प्रिचर्ड की मान्यता है कि कर्त्तव्य–बाध्यता का यह विशेष गुण वस्तुतः कर्त्तव्य पालन करने वाले व्यक्ति में ही निहित होती है, किसी कर्म में नहीं। अपनी इस मान्यता के लिए उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है जो कर्म हमारा कर्त्तव्य माना जाता है वह ऐसा कर्म है जिसे हमने अभी तक किया ही नहीं है। इसका अर्थ है कि किए जाने से पूर्व ऐसे कर्म का वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है। स्पष्ट है कि जिस कर्म का अस्तित्व ही नहीं है उसमें कर्त्तव्य बाध्यता का गुण विद्यमान नही हो सकता है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि यह विशेष गुण कर्त्तव्य का पालन करने वाले व्यक्ति में ही विद्यमान रहता हैं वस्तुतः स्वंय व्यक्ति ही किसी विशेष परिस्थिति में कर्त्तव्य बाध्यता का अनुभव करता है।

प्रिचर्ड के अनुसार कर्त्तव्य बाध्यता की प्रेरणा का कोई उद्‌देश्य नहीं होता – अर्थात् जब कोई मनुष्य इस कर्त्तव्य–बाध्यता से प्रेरित होकर कर्म करता है तो उसका कोई उद्‌देश्य नहीं होता। बस इस कर्म के द्वारा स्वयं अपने लिए अथवा दूसरों के लिए कुछ विशेष परिणाम प्राप्त नहीं करना चाहता। ऐसा मनुश्य केवल कर्त्तव्य पालन के लिए ही उस कर्म को करता है जिसे वह अपना कर्त्तव्य मानता है। प्रिचर्ड के अनुसार कर्त्तव्य–बाध्यता एक ऐसी अभिप्रेरणा है जो किसी अन्य उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए साधन न होकर स्वतः साध्य होती है।

प्रिचर्ड कर्त्तव्य–बाध्यता की अनन्य, अविश्लेष्य तथा निर्प्राकृतिक गुण मानते हैं। उनका मानना है कि हमें अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही इस विशेष गुण का साक्षात ज्ञान प्राप्त होता है। अनुभव अथवा तर्कबुद्धि द्वारा नहीं। उनका कथन है कि जिस प्रकार हम

त्रिकोण को देखकर उसकी तीन भुजाओं के कारण प्रत्यक्षतः यह जान लेते हैं कि उसके तीन कोण हैं जो उसी प्रकार किसी विशेष परिस्थिति में दूसरेां के साथ अपने विशेष सम्बन्धों के कारण हम प्रत्यक्ष रूप से तत्काल यह जान लेते हैं कि उस परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य क्या है?

प्रिचर्ड के विचार में हमारे विभिन्न कर्त्तव्यों का आधार दो प्रकार के हैं – **1.** दूसरों के साथ हमारे भिन्न–भिन्न प्रकार के सम्बन्ध तथा स्वयं हमारे अपने भूतकालीन कर्म। **2.** स्वयं हमारे अपने प्रति कर्म। उदाहणार्थ हमारे कुछ कर्त्तव्य हमारे लिए दूसरों द्वारा किये गये कुछ विशेष कर्मों पर आधारित रहते है। यदि किसी व्यक्ति ने हमारा उपकार किया है तो उसके प्रति कृतज्ञता का अनुभव करना और अवसर आने पर उसे उसके उपकार का प्रतिदान देना हमारा ऐसा ही कर्त्तव्य है। इसी वर्ग के हमारे कुछ कर्त्तव्य स्वयं हमारे अपने कर्मों के परिणामस्वरुप उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए यदि हमने किसी व्यक्ति से कोई वस्तु या सेवा प्राप्त करने पर उसे पारश्रमिक देने का वादा किया है तो उसे यथासमय उचित पारिश्रमिक देना हमारा कर्त्तव्य है।

इन दो प्रकार के अतिरिक्त कुछ कर्त्तव्य ऐसे भी हैं जो दूसरों के साथ हमारे किसी प्रकार के सम्बन्धों पर आधारित नहीं होते स्वयं अपनी कायरता अथवा लालच पर विजय प्राप्त करने से सम्बन्धित हमारा कर्त्तव्य ऐसा ही कर्त्तव्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रिचर्ड के मतानुसार मनुष्य के अधिकतर कर्तव्य दूसरों के साथ उसके संबंधों से ही उत्पन्न होते हैं। किंतु उसके कुछ कर्तव्य ऐसे भी हैं जो उसके स्वयं अपने प्रति होने के करण इन संबंधों से मुक्त है। प्रिचर्ड का विचार है कि हमें अपनी अंतर्ज्ञान द्वारा ही इन सभी कर्तव्यों का तत्काल और साक्षात ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार प्रिचर्ड कर्तव्य और शुभ इन दोनों को समान रूप से नीतिशास्त्र के मूल प्रत्यय मानते हैं। उनका मत है कि हम इन दोनों प्रत्ययों में से किसी एक की परिभाषा दूसरे के आधार पर नहीं कर सकते इस दृष्टि से प्रिचर्ड का सिद्धांत मूर के सिद्धांत से

भिन्न है। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि मूर के नैतिक सिद्धांत की अपेक्षा प्रिचर्ड के नैतिक सिद्धांत मैं अंतःप्रज्ञा को कहीं अधिक महत्व दिया गया है।

अभी तक हमने प्रिचर्ड के नैतिक सिद्धांतों की प्रमुख मान्यताओं का उल्लेख किया है। अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उनका यह सिद्धांत कहां तक उचित एवं संतोषप्रद है। इस सिद्धांत के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो कर्तव्यों के संबंध में विभिन्न व्यक्तियों के मतभेद का निराकरण असंभव हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रिचर्ड 'शुभ' के साथ–साथ 'कर्तव्य' संबंधी ज्ञान को भी पूर्णतः अतःप्रज्ञात्मक ही मानते है और अंतःप्रज्ञा केवल व्यक्तिनिष्ठ मानसिक शक्ति है जिसकी वस्तुपरक रूप से परीक्षा करना संभव नहीं है।

प्रिचर्ड के उक्त सिद्धांत के विरुद्ध दूसरी मुख्य आपत्ति यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर कर्तव्यों में संघर्ष से संबंधित गंभीर समस्या का समाधान करना हमारे लिए असंभव हो जाता है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि कई बार हमारे दो या दो से अधिक कर्तव्य में संघर्ष होता है और हमारे लिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि हम अपने इन कर्तव्यों में से किस कर्तव्य का पालन करें। सामान्यतः हम इस समस्या का समाधान विभिन्न कर्तव्यों के शुभ–अशुभ परिणाम की तुलना के आधार पर ही करते हैं। परंतु प्रिचर्ड के सिद्धांत में कर्तव्यों के परिणामों की ऐसी तुलना के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वे कर्तव्य पालन के लिए परिणामों पर विचार करना अनुचित और अनावश्यक मानते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि उनके अतःप्रज्ञात्मक सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो कर्तव्य–पालन करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं रह जाता है। इस प्रकार प्रिचर्ड का सिद्धांत समस्त नैतिक निर्णय को अंततः प्रत्येक व्यक्ति की अतःप्रज्ञा पर आधारित केवल व्यक्तिनिष्ठ निर्णय बना देता है।

प्रिचर्ड के सिद्धांत के विरुद्ध उठाई गई उपर्युक्त सभी आपत्तियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूर के सिद्धांत के भांति उनका सिद्धांत भी नैतिक

निर्णय के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की समुचित एवं युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाता है।

3.3.4 डब्ल्यू.डी.रास

बीसवीं शताब्दी के दार्शनिक डब्ल्यू०डी० रॉस ने भी निर्प्रकृतिवाद अथवा अंतःप्रज्ञावाद का ही समर्थन किया है। नैतिक दर्शन की विभिन्न महत्त्वपूर्ण समस्याओं के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार दो प्रमुख पुस्तकों 'दि राइट एण्ड दि गुड' तथा 'फ़ाउंडेशऩ ऑफ़ ऐथिक्स' में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किए हैं जो क्रमशः 1930 और 1939 में प्रकाशित हुई थीं। इन पुस्तकों में उन्होंने 'उचित', 'कर्तव्य', 'शुभ' आदि नैतिक शब्दों के अर्थ एवं स्वरूप के साथ–साथ मानकीय नीतिशास्त्र के इन प्रश्नों पर भी विस्तार से विचार किया है कि हमें कौन से कर्म करने चाहिए अथवा हमारे मूल कर्तव्य क्या हैं और कौन सी वस्तुएं अपने आप में शुभ या मूल्यवान हैं। यहां हम मुख्यतः नैतिक शब्दों के अर्थ और स्वरूप के विषय में रॉस के मत का अध्ययन करेंगे।

रॉस 'उचित', 'कर्तव्य' एवं 'शुभ' को अपरिभाष्य तथा अविश्लेष्य मानते हैं और इन शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में वे परिणामनिरपेक्षवाद को स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि कर्मों के शुभ–अशुभ परिणामों के आधार पर 'उचित' और 'कर्तव्य' की परिभाषा नहीं की जा सकती। रॉस ने 'उचित' तथा 'कर्तव्य' इन दोनों शब्दों का प्रयोग लगभग समानार्थक शब्दों के रूप में ही किया है। 'उचित' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि नैतिक दृष्टि से हम इस शब्द का प्रयोग मानवीय कर्मों के संदर्भ में ही करते हैं। जब हम किसी व्यक्ति के कर्म को 'उचित' या 'अनुचित' कहते हैं तभी यह कहा जा सकता है कि इन शब्दों का प्रयोग नैतिक अर्थ में किया गया है। परन्तु जब हम किसी तर्क अथवा समाधान को 'उचित' या 'अनुचित' कहते हैं तो हम इन शब्दों का प्रयोग निर्नैतिक अर्थ में ही करते हैं। रॉस के मतानुसार नैतिक अर्थ में 'उचित' शब्द का 'चाहिए' और कर्त्तव्य' इन दोनों नैतिक शब्दों के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। किसी कर्म

को 'उचित' कहने का अर्थ यही है कि वह ऐसा कर्म है जो हमे करना चाहिए अथवा जो हमारा कर्त्तव्य है।

रॉस इस मत का दृढ़तापूर्वक खंडन करते हैं कि 'शुभ' के आधार पर 'उचित' की परिभाषा की जा सकती है। इस मत के विरुद्ध रॉस का कथन है कि 'शुभ' की परिभाष्यता का खंडन करने के लिए मूर ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे ही तर्क 'उचित' की परिभाष्यता का भी खंडन करते है। किसी कर्म के उचित होने का अर्थ यह नहीं है कि वह शुभ परिणाम उत्पन्न करता है। इसका कारण यह है कि किसी कर्म का उचित होना उसके शुभ परिणाम उत्पन्न करने से मूलतः भिन्न है। रॉस के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वे परिणाम निरपेक्षवाद का समर्थन करते है।

रॉस व्यक्तिनिष्ठ–वादियों के मत कि – निर्नेतिक प्रत्यय या अवधारणा के आधार पर 'उचित' की परिभाषा कर सकते हैं का समर्थन नहीं करते। वे यह स्वीकार करते हैं कि जब हम किमी कर्म को 'उचित' कहते हैं तो हमारे मन में उसके प्रति अनुमोदन की भावना अवश्य विद्यमान रहती है। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट कथन है कि "अनुमोदन की भावना का अनुभव किए बिना हम किसी कर्म को कभी भी उचित नहीं कह सकते।" परन्तु रॉस के मतानुसार इसका अर्थ यह नहीं है कि अनुमोदन की मावना के आधार पर 'उचित' को परिभाषित कर सकते हैं। हम ऐसी वस्तुओं के प्रति भी अनुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं जिनका नैतिक औचित्य अथवा कर्तव्य बाध्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। साहित्य और कला सम्बन्धी कृतियां इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी कर्म को 'उचित' कहना उसके प्रति अनुमोदन की भावना का अनुभव करने के अतिरिक्त कुछ और भी है। इस बात को रॉस ने यह कह कर स्पष्ट किया है कि जब हम किसी कर्म को 'उचित' कहते हैं तो हम उसके प्रति केवल अनुमोदन की भावना का ही अनुभव नहीं करते; हम उस कर्म के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात ही उसे

'उचित' कहते हैं और उसके प्रति हमारे अनुमोदन की भावना इमी विचार पर आधारित होती है।

रॉस का विचार है कि उचित का अर्थ व्यक्ति की विशेष परिस्थिति के अनुसार उसके कर्म की नैतिक उपयुक्तता है। उदाहरणार्थ अपने वचन का पालन करना नैतिक दृष्टि से उपयुक्त और उसे भंग करना नैतिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। अपने ऋण का भुगतान करना नैतिक दृष्टि से उपयुक्त और उसका भुगतान न करना नैतिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। इसी प्रकार सत्य बोलना नैतिक दृष्टि से उपयुक्त तथा झूठ बोलना नैतिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। निर्दोष व्यक्ति को दंड न देना नैतिक और उसे दंडित करना नैतिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। इस प्रकार रॉस किसी कर्म को नैतिक उपयुक्तता के आधार पर उसके औचित्य की व्याख्या करते हैं। उनका मत है कि किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति के लिए जो कर्म नैतिक दृष्टि से उपयुक्त है उसे ही उचित कर्म कहा जा सकता है। इस नैतिक उपयुक्तता का ज्ञान हमें अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्रत्यक्षतः प्राप्त होता है।

'उचित' के अर्थ के साथ–साथ रॉस ने नैतिक दृष्टि से 'शुभ' के अर्थ पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। वे 'उचित' और 'शुभ' इन दोनों को ऐसे मूल नैतिक प्रत्यय मानते हैं जिनमें से किसी एक की परिभाषा दूसरे के आधार पर नहीं की जा सकती। परन्तु इन दोनों को समान रूप से मूल प्रत्यय मानते हुए भी रॉस यह कहते हैं कि 'शुभ' का अर्थ 'उचित' के अर्थ से बहुत भिन्न है। इन दोनों के अर्थ की यह भिन्नता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि हम सामान्यतः अपने नैतिक निर्णयों में 'शुभ' के स्थान पर 'उचित' का सार्थकता पूर्वक प्रयोग नहीं कर सकते। 'शुभ' और 'उचित' के अंतर के सम्बन्ध में रॉस का यह मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है। हिन्दी में हम 'शुभ' के पर्यायवाची शब्द के रूप में 'अच्छा' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ 'उचित' के अर्थ से निश्चय ही भिन्न है। उदाहरणार्थ "वह एक अच्छा व्यक्ति है" के स्थान पर हम सार्थकतापूर्वक यह नहीं कह सकते कि "वह एक उचित व्यक्ति है"। इसी प्रकार "उस

व्यक्ति का चरित्र अच्छा है" के स्थान पर भी हम सार्थक रूप से यह नहीं कह सकते कि "उस व्यक्ति का चरित्र उचित है"। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि 'अच्छा' या 'शुभ' का अर्थ 'उचित' के अर्थ से भिन्न है। इसी कारण रॉस यह कहते हैं कि नैतिक दृष्टि से 'शुभ' तथा उचित' के अर्थ में पर्याप्त अंतर है।

'शुभ' और 'उचित' के अर्थ में पाए जाने वाले उक्त अंतर को रॉस ने एक अन्य तर्क द्वारा भी प्रमाणित किया है। उनका कथन है कि केवल वे ही कर्म नैतिक दृष्टि से शुभ माने जाते हैं जो किसी शुभ अभिप्रेरणा से प्रेरित होकर किए जाते है। इसका अर्थ यह है कि किसी कर्म के शुभत्व का निर्णय उस अभिप्रेरणा के आधार पर ही किया जा सकता है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य वह कर्म करता है। परन्तु रॉस के अनुसार जब हम किसी कर्म को 'उचित' कहते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि वह कर्म शुभ अभिप्रेरणा से प्रेरित होकर किया गया है। इसी कारण यह संभव है कि उचित कर्म नैतिक दृष्टि से अशुभ हो और अनुचित कर्म नैतिक दृष्टि से शुभ हो। इससे यही प्रमाणित होता है कि नैतिक दृष्टि से 'शुभ' का अर्थ 'उचित' के अर्थ से भिन्न है।

'शुभ' और 'उचित' के अर्थ में अंतर स्पष्ट करने के अतिरिक्त रॉस ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि हम किस अर्थ में 'शुभ' के प्रयोग को नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका कथन है कि 'शुभ' का अर्थ बहुत ही व्यापक है, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग हम विविध प्रसंगों में विभिन्न वस्तुओं, व्यक्तियों तथा उनके कर्मों के लिए करते हैं। यह स्पष्ट है कि इन सभी प्रसंगों में हम 'शुभ' का प्रयोग नैतिक अर्थ में नहीं करते। जब हम भौतिक वस्तुओं तथा व्यावसायिक दृष्टि से व्यक्तियों की प्रशंसा करने के लिए 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इन सभी प्रसंगों में इस शब्द का अर्थ निर्नैतिक ही होता है। 'शुम दिन', 'शुभ अवसर', 'अच्छा घर', 'अच्छी कविता', 'अच्छी पुस्तक', 'अच्छा वकील', 'अच्छा चिकित्सक' आदि उदाहरण इस शब्द के निर्नैतिक अर्थ के ही उदाहरण हैं। इन सभी निर्नेतिक प्रसंगों में हम 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग

स्वतःसाध्य के अर्थ में न करके किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के साधन के अर्थ में ही करते हैं, अतः इन प्रसंगों में इस शब्द के प्रयोग का नैतिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः रॉस का मत है कि केवल उन्हीं प्रसंगों में 'शुभ' का नैतिक अर्थ होता है जिनमें हम इस शब्द का प्रयोग केवल स्वतःसाध्य के अर्थ में करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "अमुक कर्म शुभ कर्म है" अथवा "अमुक व्यक्ति अच्छा मनुष्य है" तो हम उस कर्म तथा व्यक्ति को अपने आप में साध्य मानते हैं, किसी अन्य वस्तु या उद्देश्य की प्राप्ति का साधन नहीं। ऐमे प्रसंगों में ही हम 'शुम' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में करते हैं। इस दृष्टि मे नीतिशास्त्र के लिए 'शुभ' की अवधारणा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए रॉस कहते हैं कि "अंतिम शुभ की अवधारणा – अर्थात् ऐसी वस्तु की अवधारणा जो अपने परिणामों के कारण नहीं, अपितु केवल अपने आप में शुभ है – सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल अवधारणा है। जो अंतिम शुभ है वह स्वतः शुभ भी है – अर्थात् वह अपने परिणामों के कारण शुभ न होकर केवल अपने आप में ही शुभ है।" रॉस के अनुसार जब हम इस अर्थ में 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग करते हैं तभी हमारे लिए नैतिक दृष्टि से उसका महत्व होता है और इसी अर्थ में 'शुभ' की अवधारणा नैतिक दर्शन के लिए मूल अवधारणा है।

रॉस यह मानते हैं कि 'उचित', 'कर्तव्य', 'शुभ' आदि नैतिक शब्द विशेष निर्प्राकृतिक गुणों की ओर संकेत करते हैं जो अनन्य तथा अविश्लेष्य हैं और जिनका ज्ञान हमें केवल अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्रत्यक्षतः प्राप्त होता है। हम अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्रत्यक्ष रूप से तत्काल यह जान लेते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति में हमारा मूल कर्तव्य क्या है, हमारा कौन–या कर्म उचित है और कौन–सी वस्तु नैतिक दृष्टि से शुभ है। हमारा यह अंतः–प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान गणित सम्बन्धी ज्ञान की भांति पूर्णतः निश्चित एवं स्वतः– मिद्ध होता है, अतः इसके लिए किसी प्रकार के तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि रॉस हमारे सभी कर्तव्यों को

स्वतःसिद्ध नहीं मानते । उनका कथन है कि हमारे कुछ विशेष प्रकार के कर्त्तव्य ही स्वतःसिद्ध हैं जिनका ज्ञान हमें प्रत्यक्षतः अंतःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त होता है। इन कर्तव्यों को रॉस ने 'मूल कर्तव्य' कहा है जिनका सामान्य परिस्थितियों में पालन करना उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है।

ये **'मूल कर्तव्य'** निम्नलिखित हैं–

(1) हमारे कुछ कर्तव्य ऐसे हैं जो भूतकाल में किए गए स्वयं हमारे अपने कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं अपने वचन का पालन करना, झूठ न बोलना तथा दूसरों को पहुंचाई गई क्षति की पूर्ति करना ऐसे ही कर्तव्य हैं।

(2) हमारे कुछ कर्तव्य भूतकाल में हमारे लिए दूसरों द्वारा किए गए कर्मों कारण उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ दूसरों की सेवा और सहायता के लिए कृतज्ञता का अनुभव करना हमारा ऐसा ही कर्तव्य है।

(3) हमारे कुछ कर्तव्यों का सम्बन्ध सुख और उसके साधनों के न्यायपूर्ण वितरण से है। इन्हें 'न्याय सम्बन्धी कर्तव्य' कहा जा सकता है।

(4) हमारे कुछ कर्तव्य इस तथ्य पर निर्भर हैं कि संसार में हमारे अतिरिक्त अन्य प्राणी भी हैं जिनकी स्थिति में हम सुधार कर सकते हैं। इन कर्तव्यों को 'परोपकार सम्बन्धी कर्तव्य' कहा जा सकता है।

(5) हमारे कुछ कर्तव्यों का सम्बन्ध सद्‌गुण और ज्ञान की दृष्टि से स्वयं अपना सुधार करने से है। इन कर्तव्यों को हम 'आत्म–सुधार सम्बन्धी कर्तव्य' कह सकते हैं।

(6) हमारे कुछ कर्तव्यों का सम्बन्ध जान–बूझ कर दूसरों को किसी प्रकार की हानि या क्षति न पहुंचाने से है। ये वर्तव्य परोपकार सम्बन्धी कर्तव्यों के पूरक हैं।

रॉस यह स्वीकार करते हैं कि मूल कर्तव्यों की उपर्युक्त सूची पूर्ण और अंतिम नहीं है, किन्तु उनका मत है कि इन सभी मूल कर्तव्यों के परिणामों पर ध्यान दिए बिना हमारे लिए इनका पालन करना आवश्यक है।

मनुष्य के मूल कर्तव्यों के अतिरिक्त रॉस ने मानकीय नीतिशास्त्र के इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर भी विचार किया है कि कौन–सी वस्तुएं अपने आप में शुभ है। रॉस के मतानुसार सद्गुण, सुख, सुखों का न्यायपूर्ण वितरण तथा ज्ञान ये चारों वस्तुएं अपने आप में शुभ हैं। सद्गुण' से उनका तात्पर्य शुभ अभिप्रेरणा से है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है। अपने कर्तव्य का पालन करने की इच्छा तथा दूसरों को सुख देने अथवा उनके दुःख का निवारण करने की इच्छा ऐसी ही शुभ अभिप्रेरणाएं हैं जिन्हें रॉस सद्गुण मानते हैं। सुख के संबंध में रॉस यह स्वीकार करते हैं कि सुख सदैव शुभ और दुःख सदैव अशुभ नहीं होता। उनका मत है कि मनुष्य जिस सुख का अधिकारी है वही शुभ है; इसी प्रकार जो दुःख मनुष्य को अकारण प्राप्त होता है वही अशुभ है। इसका अर्थ यही है कि कुछ परिस्थितियों में सुख अशुभ तथा दुःख शुभ होता है और रॉस इस तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे सुखवाद के समर्थक नहीं हैं। सद्गुण और सुख के अतिरिक्त रॉस सुख के न्यायपूर्ण वितरण को भी अपने आप में शुभ मानते हैं। उनका विचार है कि सद्गुणयुक्त व्यक्ति को उसके सद्गुणों के अनुपात में सुख की प्राप्ति और दुर्गुणयुक्त व्यक्ति को उसके दुर्गुणों के अनुपात में दुःख की प्राप्ति का होना अपने आप में शुभ है। वस्तुतः हमारे न्याय सम्बन्धी कर्तव्य इसी तथ्य पर आधारित हैं। अंत में रॉस ज्ञान को भी स्वतः शुभ के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार हमारा उचित विचार ज्ञान में ही सम्मिलित है, अतः वह भी अपने आप में शुभ है। रॉस का कथन है कि "मैं ऐसी किसी स्वतः– शुभ वस्तु को खोजने में असमर्थ हूं जो या तो इन वस्तुओं में से एक नहीं है अथवा इनमें से दो या दो से अधिक का सम्मिलित रूप नहीं है।

रॉस शुभत्व तथा औचित्य को ऐसे अविश्लेष्य, अनन्य और निर्प्राकृतिक गुण मानते हैं जिनका स्वतः सिद्ध ज्ञान हमें प्रत्यक्ष रूप मे अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है। वे यह भी मानते हैं कि इन्हीं विशेष निर्प्राकृतिक गुणों के कारण हम किसी वस्तु या कर्म को

शुभ अथवा उचित कहते हैं। परन्तु उनका मत है कि ये विशेष निर्प्राकृतिक गुण वास्तव में उस वस्तु या कर्म के कुछ प्राकृतिक गुणों पर निर्भर होते हैं जिसे शुभ या उचित कहा जाता है। इस दृष्टि से शुभत्व तथा औचित्य इन निर्प्राकृतिक गुणों का शुभ वस्तुओं और उचित कर्मों के कुछ प्राकृतिक गुणों के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। जिसे 'निर्भरता का सम्बन्ध' कहा जा सकता है। वस्तुओं तथा कर्मों के प्राकृतिक गुणों पर आधारित होने के कारण शुभत्व एवं औचित्य को रॉस ने 'निर्भर गुण' कहा है। इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु या कर्म को शुभ अथवा उचित कहने के लिए केवल यह जानना ही पर्याप्त नहीं है कि उसमें शुभत्व या औचित्य निर्प्राकृतिक गुण है; इसके लिए उस वस्तु अथवा कर्म के कुछ प्राकृतिक गुणों को जानना भी आवश्यक है। परन्तु रॉस के विचार में शुभत्व तथा औचित्य निर्प्राकृतिक गुण होने के कारण प्राकृतिक गुणों से मूलतः भिन्न हैं, अतः इन गुणों प्राकृतिक गुणों के समान मानना और प्राकृतिक गुणों के आधार पर इनकी परिभाषा करना उचित नहीं है।

यदि रॉस के इस मत को स्वीकार कर लिया जाए कि शुभत्व एवं औचित्य निर्प्रातिक गुण होते हुए भी प्राकृतिक गुणों पर ही निर्भर हैं तो अनिवार्यतः यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों प्रकार के गुणों में क्या सम्बन्ध है और हम इस सम्बन्ध को कैसे जानते हैं। रॉस इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई पुक्तिसंगत और संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सके। वे केवल यही कहते हैं कि हम अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा निर्प्राकृतिक तथा प्राकृतिक गुणों के विशेष संबंध को प्रत्यक्षतः तुरन्त जान् लेते हैं। परन्तु उनका यह उत्तर बहुत अस्पष्ट होने के कारण संतोषप्रद नहीं है। उदाहरणार्थ रॉस यह मानते हैं कि वचन का पालन करने का कर्म अनिवार्यतः उचित है, किन्तु वे हमें यह नहीं बताते कि वचन का पालन करने तथा उसके उचित होने में किस प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध है और क्यों।

रॉस के अंतःप्रज्ञावादी सिद्धांत के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि उनका सिद्धांत प्रिचर्ड के सिद्धांत से बहुत भिन्न नहीं है। हम देख चुके हैं

कि 'उचित', 'कर्तव्य' तथा 'शुभ' के अर्थ और निर्प्राकृतिक गुणों के स्वरूप एवं उनके अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान के सम्वन्ध में इन दोनों दार्शनिकों के विचारों में पर्याप्त समानता है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि पिछले खंड में हमने प्रिचर्ड के सिद्धांत के विरुद्ध जिन आपत्तियों का उल्लेख किया है वे सभी रॉस के मिद्धांत पर भी लागू होती है, अंतःप्रज्ञावाद की गंभीर समस्याओं पर हम मूर के सिद्धांत के संदर्भ में पहले ही विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं अतः यहां इन आपत्तियों की पुनः चर्चा करना अनावश्यक है।

रॉस के सिद्धांत के संबंध में संक्षेप में इन सभी आपत्तियों तथा कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि मूर और प्रिचर्ड के सिद्धांतों की भांति रॉस का सिद्धांत भी नैतिक शब्दों और निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप की उचित तथा तर्क–संगत व्याख्या नहीं कर पाता ।

3.3.5 मूल्यांकन

पिछले खंडों में हम निर्प्रकृतिवाद अथवा अंतःप्रज्ञावाद की मुख्य आधारभूत मान्यताओं तथा इस सिद्धांत के कुछ प्रमुख समर्थकों के मत का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि नैतिक निर्णयों के अर्थ स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या की दृष्टि से यह सिद्धांत कहां तक नैतिक, उचित और संतोषप्रद है।

इस सिद्धांत के समर्थकों का यह मत निश्चय ही उचित है कि नैतिक निर्णयों का सभी निर्नैतिक निर्णयों से पृथक और स्वतन्त्र महत्व है, अतः किसी प्रकार के निर्नैतिक निर्णयों के आधार पर इन निर्णयों की परिभाषा अथवा व्याख्या नहीं की जा सकती। नैतिक निर्णयों को इस अर्थ में अनन्य या अद्वितीय कहा जा सकता है कि वे अभिवृत्तियों, भावनाओं अथवा संवेगों की अभिव्यक्तियों, आदेशों, अनुभवाश्रित तथ्यात्मक कथनों और

सौदर्यात्मक निणयों से भिन्न होते हैं। नैतिक निर्णयों को इनमें से किसी के समान मान कर उनके अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र सभी विज्ञानों तथा शान्त्रों से पृथक और स्वतन्त्र विधा है। निर्प्रकृतिवादियों ने इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करके नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप को सनभने में हमारी बहुत सहायता की है।

प्रकृतिवाद के विरुद्ध उनकी यह आपति उचित है कि यह सिद्धांत निर्नैतिक कथनों के आधार पर नैतिक निर्णयों की परिभाषा करके इन निर्णयों के अपने पृथक और स्वतन्त्र महत्त्व को समाप्त कर देता है। प्रिचर्ड तथा रॉस जैसे परिणाम निरपेक्षवादियों के समर्थन में शायद यह भी कहा जा सकता है कि हम सभी कर्मों और नियमों के उचित या अनुचित होने का निर्णय केवल उनके परिणामों के आधार पर ही नहीं करते; हम कुछ विशेष कर्मों को उनके परिणामों पर विचार किए बिना भी उचित या अनुचित मानते हैं। इतना ही नहीं, हम यह भी मानते हैं कि केवल शुभ परिणामों के आधार पर ही किसी कर्म को सदैव तथा अनिवार्यतः उचित नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ यदि हमें यह विश्वास हो जाए कि किसी निर्दोष व्यक्ति को दंड देने से समाज का हित होगा तो भी हम उसे दंडित करना न्यायोचित नहीं मानते। इससे यह स्पष्ट है कि सभी कर्मों और नियमों का औचित्य केवल उनके शुभ परिणामों पर ही निर्भर नहीं है। निर्प्रकृतिवादियों ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्प्रकृतिवाद में आंशिक सत्य निश्चय ही विद्यमान है।

परन्तु, जैसाकि हम लोगो ने अब तक के अध्ययन में देखा है कि, अंशतः :सत्य होते हुए भी निर्प्रकृतिवाद अथवा अंत प्रज्ञाबाद नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की समुचित एवं संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता। मूर, प्रिचर्ड तथा रॉस के मत के विरुद्ध पूर्वोलिखित कठिनाइयों अथवा समस्याओं के अतिरिक्त इस सिद्धांत के

विरुद्ध कुछ अन्य गम्भीर आपत्तियां भी उठाई जा सकती है जो इसे दोषपूर्ण और असन्तोषप्रद सिद्धांत बना देती है। इनमें से कुछ प्रमुख आपत्तियां निम्नलिखित हैः–

(1) प्रकृतिवाद की भांति निर्प्रकृतिवाद भी शब्दार्थ विषयक निर्देशात्मक विद्वान्त को स्वीकार करते हुए सभी नैतिक शब्दों को अनिवार्यतः गुणवोधक ही मान लेता है। हम देख चुके है कि इस सिद्धान्त के समर्थकों के मतानुसार शुम', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्द हमें कुछ विशेष निर्प्राकृतिक गुणों या सम्बन्धों का बोध कराते हैं जो अनन्य, अविश्लेष्य तथा अपरिभाष्य है और जिनका ज्ञान हमें प्रत्यक्षतः अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है। परन्तु निर्प्रकृतिवादियों की यह मान्यता अनुचित और दोषपूर्ण है, क्योंकि नैंतिक शब्दों का कार्य हमें किन्हीं गुणों अथवा सम्वन्धों का बोध कराना नहीं है। इस तथ्य का उल्लेख पूर्व में हो चुका है, अतः यहां इन पर पुनः विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में यहां इतना कह देना ही पर्याप्त है कि उक्त दोषपूर्ण मान्यता पर आधारित होने के कारण निर्प्रकृतिवाद भी प्रकृतिवाद की भांति नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप को भली–भांति स्पष्ट नहीं कर पाता। प्रकृतिवाद के समान ही यह सिद्धान्त भी इन निर्णयों हो केवल वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक मानने की गम्भीर भूल करता है।

(2) निर्प्रकृतिवाद का मूल आधार 'अंतःप्रज्ञा' बहुत ही संदिग्ध तथा विवादास्पद है। पिछले खंडों में हम देख चुके हैं कि इस सिद्धान्त के समर्थक अंतःप्रज्ञा को निर्प्राकृतिक गुणों या सम्बन्धों के साक्षात् ज्ञान के लिए अनिवार्य मानते हुए उसे विशेष महत्त्व देते हैं। परन्तु अंतःप्रज्ञा के अस्तित्व और स्वरूप के सम्वन्ध में हमारे समक्ष अनेक गम्भीर समस्याएं उपस्थित होती है जिनका सन्तोषप्रद समाधान असंभव है। सर्वप्रथम मनुष्य के मन में ऐसी रहस्यमयी विशेष मानसिक शक्ति का अस्तित्व अत्यंत संदिग्ध है जिसे निर्प्रकृतिवादी अंतःप्रज्ञा' कहते हैं। हमारे पास यह स्वीकार करने का कोई वस्तुगत और तर्क–संगत आधार नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह अंतःप्रज्ञा विद्यमान रहती है जो उसे शुभ–अशुभ और उचित–अनुचित का साक्षात् ज्ञान प्रदान करती है।

जिसे निर्धकृतिवादी 'अंतःप्रज्ञा' की संज्ञा देते हैं वह वास्तव में मनुष्य की ऐमी मनोवृत्ति है जो पारिवारिक तथा सामाजिक वातावरण के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और जिसका स्वरूप इस वातावरण के अनुसार विभिन्न समुदायों के व्यक्तियों में अलग–अलग हो सकता है। इसी भिन्नता के कारण यह अंतःप्रज्ञा अलग–अलग बातावरण में रहने वाले व्यक्तियों को शुभ–अशुभ तथा उचित–अनुचित के विषय में पृथक् पृथक् ही नहीं, अपितु कभी–कभी परस्पर विरोधी आदेश भी देती है। ऐसी स्थिति में यदि अंतःप्रज्ञा के अस्तित्व को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी इस वैयक्तिक मनोवृत्ति को नैतिकता का तर्कसंगत आधार नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त हम यह देख चुके हैं कि अंतःप्रज्ञा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी स्वयं अंतःप्रज्ञावादियों में पर्याप्त मतभेद है जिसके कारण इसकी वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता समाप्त हो जाती है। यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसी व्यक्तिनिष्ठ अंतःप्रज्ञा हमें कभी भी वस्तुनिष्ठ नैतिक ज्ञान प्रदान नहीं कर सकती जिसका अंतःप्रज्ञावादी दावा करते हैं। तथा– कथित अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान को वास्तव में 'ज्ञान' की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि ऐसे व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान को सत्य प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कोई वस्तुनिष्ठ कसौटी नहीं है। अंतःप्रज्ञा मनुष्य को जो ज्ञान प्रदान करती है उसे 'व्यक्तिगत विश्वास' के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि यह वैयक्तिक विश्वास नैतिकता का तर्कसंगत आधार नहीं हो सकता। इस प्रकार यह हता अनुचित न होगा कि अंतःप्रज्ञा की प्राक्कल्पना– जो निर्प्रकृतिवाद का मूल आधार है बहुत ही दोषपूर्ण तथा असन्तोषप्रद है।

3. व्यक्तिनिष्ठवाद की भांति निर्प्रकृतिवाद नैतिक निर्णयों के विषय में ˙ विभिन्न व्यक्तियों के मतभेद के निराकरण तथा इन निर्णयों की प्रामाणिकता की संभावना को समाप्त कर देता है। हम सविस्तार यह स्पष्ट कर चुके हैं कि निर्प्रकृतिवादियों के अनुमार हमारे नैतिक ज्ञान का अंतिम आधार अंतःप्रज्ञा ही है और हम यह भी देख चुके हैं कि यह अंतःप्रज्ञा व्यक्तिनिष्ठ मानसिक शक्ति है। इसका अर्थ यही है कि नैतिक ज्ञान के सत्य

या असत्य होने की जांच करने के लिए हमारे पास अंतःप्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि एक व्यक्ति 'क' को शुभ अथवा उचित कहता है और दूसरा व्यक्ति उसी समय तथा उन्हीं परिस्थितियों में उसे अशुभ या अनुचित कहता है तो वे दोनों ये नैतिक निर्णय अपनी–अपनी अंतःप्रज्ञा के आधार पर ही देते हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों व्यक्तियों के मतभेद का निराकरण करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत तथा वस्तुगत कसौटी नहीं रह जाती, क्योंकि केवल अंतःप्रज्ञा द्वारा हम यह कभी नहीं जान सकते कि इन दोनों व्यक्तियों में से किसका नैतिक निर्णय सत्य है। और क्यों। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंतःप्रज्ञावाद को स्वीकार कर लेने पर नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में मतभेद का निराकरण करना हमारे लिए असंभव हो जाता है।

यही बात नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता के विषय में भी कही जा सकती है। हम देख चुके हैं कि मूर के अनुसार किसी वस्तु के स्वतः शुभत्व के सम्बन्ध में और प्रिचर्ड तथा रॉस के अनुसार कर्मों के औचित्य एवं मूल कर्तव्यों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के तर्क देना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि मूर स्वतः शुभत्व को और प्रिचर्ड तथा रॉस कर्मों के औचित्य एवं कर्तव्य–बाध्यता को स्वतःसिद्ध मानते हैं। यदि इन दार्शनिकों की उक्त मान्यता उचित है तो हमें अनिवार्यतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हम नैतिक निर्णयों को कभी भी तर्कसंगत रूप से सत्य या असत्य प्रमाणित नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में अलग–अलग व्यक्तियों की अंतःप्रज्ञा पर आधारित परस्पर विरोधी नैतिक निर्णयों को समान रूप से सत्य मानना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। परन्तु नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता के विषय में निर्प्रकृतिवाद के इस अनिवार्य परिणाम का तर्कसंगत रूप से समर्थन करना संभव नहीं है। वस्तुतः इसे एक विचित्र विडंबना ही कहा जाएगा कि जो निर्प्रकृतिवादी दृढ़तापूर्वक व्यक्तिनिष्ठवाद का खंडन करते हैं स्वयं उन्हीं के अपने सिद्धान्त का अंतिम तथा अनिवार्य निष्कर्ष यही है कि मतभेद के निराकरण और प्रामाणिकता की दृष्टि से नैतिक निर्णय व्यक्ति–निष्ठ निर्णयों में मूलतः भिन्न नहीं हैं।

(4) निर्प्रकृतिवाद के समर्थकों ने नैतिक निर्णयों तथा निर्नैतिक निर्णयों में पाए जाने वाले अंतर की जो व्याख्या की है वह उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। उनका यह मत निश्चय ही उचित है कि नैतिक निर्णय निर्नैतिक निर्णयों से भिन्न होते हैं, किन्तु इस भिन्नता का उन्होंने जो कारण बताया है उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। हम देख चुके हैं कि निर्प्रकृतिवादियों के अनुसार वस्तुओं एवं कर्मों के अनन्य तथा अविश्लेष्य निर्प्राकृतिक गुणों का वर्णन करना नैतिक निर्णयों की अनिवार्य और आधारभूत विशेषता है जो उन्हें अन्य सभी प्रकार के निर्णयों से पृथक करती है। परन्तु उनकी यह मान्यता नैतिक निर्णयों और निर्नैतिक निर्णयों के अंतर को स्पष्ट नहीं कर पाती, क्योंकि वास्तव में इन दोनों प्रकार के निर्णयों में वह अंतर नहीं है जो निर्प्रकृतिवादी बताते हैं। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि गुणबोधक न होने के कारण नैतिक शब्द हमें किसी प्रकार के प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुणों का बोध नहीं कराते। ऐसी स्थिति में इस आधार पर नैतिक निर्णयों को अन्य निर्णयों से भिन्न मानने का कोई औचित्य नहीं है। इसके अतिरिक्त निर्प्राकृतिक गुणों का अस्तित्व भी अत्यंत संदिग्ध है। हमारे पास यह स्वीकार करने का कोई पर्याप्त और विश्वसनीय कारण नहीं है कि वास्तव में इन रहस्यमय गुणों का अस्तित्व है। फिर यदि इन गुणों के अस्तित्व को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी हमारे समक्ष इनके स्वरूप की जटिल समस्या बनी रहती है। हम पिछले खंडों में यह बता चुके हैं कि स्वयं निर्प्रकृतिवादी इन निर्प्राकृतिक गुणों के स्वरूप को भली–भांति स्पष्ट नहीं कर सके। इतना ही नही, वे हमें यह भी नहीं बताते कि इन निर्प्राकृतिक गुणों तथा प्राकृतिक गुणों में परस्पर क्या सम्बन्ध है और निर्प्राकृतिक गुण प्राकृतिक गुणों पर किस प्रकार निर्भर है। वे केवल यही कहते है कि हम निर्प्राकृतिक गुणों के अस्तित्व और प्राकृतिक गुणों के साथ उनके सम्बन्ध को अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा प्रत्यक्षतः तुरन्त जान लेते हैं। परन्तु उनका यह कथन बहुत ही अस्पष्ट है और इसकी सत्यता एवं प्रामाणिस्ता भी अत्यंत संदिग्ध तथा विवादास्पद है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी अस्पष्टताओं और

अनिश्चितताओं के कारण निर्प्रकृतिवादी नैतिक निर्णयों तथा नितिक निर्णयों के अंतर को स्पष्ट करने में असफल रहे हैं।

(5) इसके अतिरिक्त निप्रकृतिवादी नैतिक शब्दों के अर्थ की भी ठीक–ठीक व्याख्या नहीं कर सके। सामान्य व्यक्ति उनसे यह जानना चाहता है कि नैतिक शुभत्व, औचित्य तथा कर्तव्य वाध्यता क्या है। परन्तु उसके इस प्रश्न के उत्तर से वे केवल यही कहते हैं कि ये सभी गुण निर्प्राकृतिक, अनन्य और अपरिभाष्य हैं। यह समझता कठिन नहीं है कि निर्प्रकृतिवादियों के इस उत्तर से सामान्य व्यक्ति को बहुत निराशा होती है और हम देख चुके हैं कि मूर ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है। वस्तुतः 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों का अर्थ हम यह कह कर स्पष्ट नहीं कर सकते कि ये शब्द हमें निर्प्राकृतिक, अनन्य तथा अपरिभाष्य गुणों का बोध कराते हैं। ऐसे अस्पष्ट कथन द्वारा सामान्य व्यक्ति इन शब्दों के अर्थ को कभी नहीं समझ सकता। परन्तु निर्प्रकृतिवादी इन शब्दों के अर्थ के विषय में उसे इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बताते। वे नैतिक शब्दों को रहस्यमय निर्प्राकृतिक गुणों का बोध कराने के लिए वर्णननात्मक शबद मान लेतेक हैं जिनका अर्थ बहुत ही अस्पष्ट है और इसी कारण जो मनुष्य के लिए नितांत अबोधगम्य हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनके सिद्धांत से सामान्य व्यक्ति को अत्यधिक निराशा तया असंतोष का होना स्वाभाविक और अनिवार्य हैं। इस प्रकार यह कह देना ही पर्याप्त है कि प्रकृतिवाद की भांति निर्प्रकृतिवाद भी नैतिक निर्णयों के मूल्यात्मक कार्य की उपेक्षा करता है जो वास्तव में उनका प्रमुख कार्य है।

(6) निर्प्रकृतिवाद नैतिक निर्णयों तथा मानवीय आचरण के संबंध की भी उचित एवं युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाता। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के अनुसार शुभत्व, औचित्य, कर्तव्य–बाध्यता आदि निर्प्राकृतिक गुण हैं जो वस्तुओं, व्याक्तियों अथवा कर्मों में पाए जाते हैं। जब हम किसी वस्तु और कर्म को शुभ तथा उचित कहते हैं तो हम प्रत्यक्षतः यह जानते हैं कि उस वस्तु तथा कर्म में शुभत्व एवं औचित्य नामक निर्प्राकृतिक

गुण हैं। दूसरे शब्दों में, नैतिक निर्णयों द्वारा हमें एक विशेष प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान ही प्राप्त होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इस विशेष तथ्यात्मक ज्ञान का हमारे आचरण से क्या संबंध है– अर्थात् यह ज्ञान हमारे आचरण को किस प्रकार प्रभावित कर सकता है। मान लीजिए हम अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा यह जान लेते हैं कि किसी कर्म में 'औचित्य' नामक निर्वाकृतिक गुण है। इससे हमारे तथ्यात्मक ज्ञान में तो वृद्धि होती है, किंतु इस तथ्यात्मक ज्ञान के आधार पर हम यह निष्कर्ष कैसे निकाल सकते हैं कि हमे वह कर्म करना चाहिए? किसी कर्म या वस्तु के विषय में एक विशेष तथ्य को जान लेने से यह सिद्ध नहीं होता कि वह वस्तु 'शुभ' है अथवा वह कर्म हमें करना चाहिए। इसका कारण यह है कि तथ्यात्मक ज्ञान और हमारे नैतिक आचरण में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। यदि निर्प्रकृतिवादियों के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो भी इसके आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि कुछ वस्तुओं एवं कर्मों में 'शुभत्व' तथा 'औचित्य' नामक निर्प्राकृतिक गुण पाए जाते हैं जिनका हमें प्रत्यक्षतः अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान प्राप्त होता है; इससे आचरण संबंधी हमारी मूल समस्या का समाधान नहीं होता। निर्प्रकृतिवादी हमें यह नहीं बताते कि निर्प्राकृतिक गुणों के अंतःप्रज्ञात्मक ज्ञान का हमारे आचरण से क्या संबंध है। यही कारण है कि वे नैतिक निर्णयों तथा मानवीय आचरण के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करने में सफल नहीं हो सके। प्रकृतिवादियों की भांति वे भी नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों के समान ही केवल वर्णनात्मक मान लेते हैं जिनका हमारे आचरण से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। निर्प्रकृतिवादियों के सिद्धांत में यह निश्चय ही गंभीर दोष है जिसके कारण उनका सिद्धांत बहुत असंतोषप्रद हो जाता है।

(7) ऊपर हमने जिन गंभीर आपत्तियों की चर्चा की है वे किसी न किसी रूप में सभी निर्प्रकृतिवादियों के विरुद्ध उठाई जा सकती हैं। अब अंत में यहां उन आपत्तियों पर भी विचार करना आवश्यक है जो विशेष रूप से यह जानना चाहता है कि अमुक कर्म करने अथवा अमुक कर्तव्य का पालन करने के फनस्वरूप कुछ परिणाम उत्पन्न होंगे या

नहीं।यह प्रश्न निश्चय ही अनुचित और निरर्थक नहीं है जैसा कि परिणामनिरपेक्षवादी मानते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में हम युक्तिसंगत रूप से यह कह सकते हैं कि सामान्यतः उन्हीं कर्मों को उचित और कर्तव्य माना जाता है जिनके परिणाम कुल मिलाकर अंततः संपूर्ण मानव–समाज के लिए शुभ अथवा हितकर होते हैं। हमारे कर्तव्यों तथा उचित कमों के विषय में यह उत्तर उन्हें केवल स्वतःसिद्ध या अपने आप में उचित मानने की अपेक्षा कहीं अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

यदि परिणामनिरपेक्षवादियों का यह मत स्वीकार लिया जाए कि हमारे कमों का औचित्य स्वतःसिद्ध है तो हमारे लिए संभव अनेक कर्मों में से किसी एक कर्म हो करने का हमारे पास कोई युक्तिसंगत आधार नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में हम किसी ऐसे कर्म को भी उचित और अपना कर्तव्य मान सकते हैं जिसके परिणाम स्वयं हमारे लिए तथा दूसरों के लिए अशुभ अथवा हानिकारक है। यदि कर्मों के परिणामों का उनके औचित्य से कोई संबंध नहीं है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि अशुभ परिणाम उत्पन्न करने वाले कर्मों का भी हमारे लिए उतना ही महत्व है जितना शुभ परिणाम उत्पन्न करने वाले कर्मों का। यह स्पष्ट है कि कोई भी विवेकशील व्यक्ति परिणामनिरपेक्षवाद के उक्त अनिवार्य निष्कर्षों को स्वीकार नहीं करना चाहेगा। वस्तुतः ये सभी निष्कर्ष नैतिकता के सम्बन्ध में जनसाधारण की इस मान्यता के विरुद्ध हैं कि कर्मों के औचित्य तथा अनौचित्य को उनके शुभ और अशुभ परिणामों से पृथक नहीं किया जा सकता। परिणाम– निरपेक्षवाद के विरुद्ध इस मान्यता को अस्वीकार करने का हमारे पास कोई पयाप्त और तर्कसंगत कारण नहीं है। इस प्रकार कर्मों के औचित्य तया कर्तव्यों के पालन के सम्बन्ध में परिणामनिरपेक्षवादियों के मत का युक्तिसंगत रूप से समर्थन करना सम्भव प्रतीत नहीं होता ।

(8) इसके अतिरिक्त कडवर्थ, क्लार्क, प्रिचर्ड, रॉस आदि परिणामनिरपेक्ष–वादी दार्शनिकों ने गणित सम्बन्धी निर्णयों के साथ नैतिक निर्णयों की जो तुलना भी है वह भी

उचित और युक्तिसंगत नहीं है। हम देख चुके हैं कि ये दार्शनिक गणित विषयक निर्णयों के समान ही नैतिक निर्णयों को भी पूर्णतः निश्चित, स्वतःसिद्ध तथा परिणामनिरपेक्ष मानते हैं। परन्तु नैतिक निर्णयों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि इन निर्णयों में गणित सम्बन्धी निर्णयों की उक्त विशेषताएँ नहीं पाई जाती। सर्वप्रथम नैतिक निर्णयों में बहुनिश्चयात्मकता अथवा असंदिग्धता नहीं होती जो गणित के प्रत्ययों में विद्यमान रहती है। उदाहरणार्थ हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि दो और दो सबैव चार होते हैं, त्रिकोण के अनिवार्यतः तीन कोण होते हैं और चतुर्भुज की अनिवार्यतः चार भुजाएँ होती हैं। गणित के इन निर्णयों पर देश–काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अतः वे पूर्णतः निश्चित या असंदिग्ध होते हैं। इन्हें कभी भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। परन्तु नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते। सामान्यतः हम यह मानते हैं कि झूठ बोलना तथा चोरी करना अनुचित है, किन्तु हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमारे ये निर्णय सभी परिस्थितियों में असंदिग्ध रूप से सत्य है। इसका कारण यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में यथा, अपने अथवा दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए झूठ बोलना या चोरी करना उचित हो सकता है। अन्य सभी नैतिक निर्णयों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। वस्तुतः गणित के निर्णयों के विपरीत नैतिक निर्णयों का मनुष्य के हित अथवा कल्याण से अनिवार्य सम्बन्ध है, अतः ये निर्णय गणित सम्बन्धी निर्णयों के समान कभी भी अपवादरहित नहीं हो सकते। इसी कारण नैतिक निर्णयों में उस निश्चयात्मकता या असंदिग्धता का अभाव रहता है जो गणित के निर्णयों में अनिवार्यतः पाई जाती है।

इसके अतिरिक्त नैतिक निर्णयों में वह परिणामनिरपेक्षता भी नहीं पाई जाती जो गणित सम्बन्धी निर्णयों की अनिवार्य विशेषता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि गणित के निर्णयों पर देश–काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और इन निर्णयों का मनुष्य के सुख–दुःख से भी कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतः ये निर्णय पूर्णतः परिणामनिरपेक्ष होते हैं।

जब हम यह कहते हैं कि "दो और दो चार होते हैं" तो हम अपने इस निर्णय के परिणामों की ओर ध्यान नहीं देते, क्योंकि ऐसे निर्णयों की सत्यता के लिए उनके परिणाम पूर्णतः अप्रासंगिक हैं। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, नैतिक निर्णय सदैव परिणामनिरपेक्ष नहीं होते। देश–काल की परिस्थितियों और मनुष्य के सुख–दुःख से अनिवार्यतः सम्बद्ध होने के कारण ये निर्णय प्रायः परिणामसापेक्ष ही होते हैं। अधिकतर नैतिक निर्णयों की सत्यता अथवा प्रामाणिकता को निश्चित करने के लिए हमें उनके शुभ–अशुभ परिणामों पर अवश्य विचार करना पड़ता है। हम देख चुके हैं कि झूठ बोलना और चोरी करना सामान्यतः अनुचित कर्म होते हुए भी कुछ विशेष परिस्थितियों में शुभ परिणाम उत्पन्न करने के कारण उचित एवं वांछनीय माने जाते हैं। वस्तुतः अधिकतर नैतिक निर्णयों का सम्बन्ध मनुष्य के कर्मों से होता है जिनके परिणामों का हमारे लिए बहुत महत्व है, अतः इन निर्णयों को इनके शुभ–अशुभ परिणामों से पृथक करके इन पर विचार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में गणित सम्बन्धी परिणामनिरपेक्ष निर्णयों के साथ नैतिक निर्णयों की तुलना करना निश्चय ही उचित नहीं है।

अन्त में इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि पूर्ण तटस्थता– जो गणित के निर्णयों की अनिवार्य विशेषता है– भी नैतिक निर्णयों में नहीं पाई जाती। गणित सम्बन्धी निर्णय संवेगात्मक दृष्टि से पूर्णतः तटस्थ होते हैं, क्योंकि इन निर्णयों में मानवीय भावनाओं अथवा संवेगों के लिए कोई स्थान नहीं है। इन निर्णयों द्वारा हम अपनी कोई अभिवृत्ति या भावना व्यक्त नहीं करते। परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्यायों में स्पष्ट कर चुके हैं, नैतिक निर्णयों के विषय में इस प्रकार की तटस्थता सम्भव नहीं है। यह सत्य है कि नैतिक निर्णय निष्पक्ष, वस्तुनिष्ठ तथा सार्वभौमिक होते हैं, किन्तु ये निर्णय देते समय निर्णयकर्ता निर्णीत वस्तुओं के सम्बन्ध में संवेगात्मक दृष्टि से तटस्थ नहीं होता। वह अपने नैतिक निर्णयों में उन वस्तुओं के प्रति अपनी भावनाएं अवश्य

अभिव्यक्त करता है जिनके विषय में वह ये निर्णय देता है। हम देख चुके हैं कि नैतिक निर्णयों की यह विशेषता उन्हें तथ्यात्मक निर्णयों से पृथक करती है। इस प्रकार गणित सम्बन्धी निर्णयों के विपरीत नैतिक निर्णयों में निश्चयात्मकता, परिणामनिरपेक्षता और तटस्थता वा अभाव होता है, अतः परिणामनिरपेक्षवादियों का यह मत उचित एवं तर्कसंगत नहीं है कि ये निर्णय गणित के निर्णयों के समान हैं।

निर्प्रकृतिवाद के विरुद्ध उपर्युक्त सभी गम्भीर आपत्तियों तथा पिछले खण्डों में उल्लिखित इसकी अनेक कठिनाइयों एवं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि अंशतः सत्य होते हुए भी प्रकृतिवाद की भांति यह सिद्धान्त भी नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप और प्रमाणीकरण की पूर्णतः सतोष–प्रद व्याख्या नहीं कर पाता।

3.4 सारांश

निर्प्रकृतिवाद या अन्तःप्रज्ञावाद संज्ञानात्मक सिद्धांत की आधारभूत मान्यताओं यह है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के समान ही संज्ञानात्मक या वर्णनात्मक होते हैं – अर्थात् हम इन निर्णयों द्वारा किन्हीं विशेष तथ्यों का वर्णन मात्र करते हैं। निर्प्रकृतिवादी यह मानते हैं कि 'शुभ' 'उचित' 'कर्त्तव्य' आदि नैतिक शब्द गुणबोधक या सम्बन्ध बोधक है, क्योंकि ये शब्द हमें कुछ विशेष गुणों अथवा सम्बन्धों का बोध कराते हैं। वस्तुतः निर्प्रकृतिवाद शब्दार्थ विषयक 'निर्देशात्मक सिद्धांत' पर आधारित है जिसके अनुसार प्रत्येक शब्द हमें अनिवार्यतः किसी वस्तु, तथ्य, स्थिति गुण या सम्बन्ध का बोध कराता है।

निर्प्रकृतिवादी नीतिशास्त्र को पूर्णतः स्वतंत्र विज्ञान मानते हैं जिसके निर्णयों के अर्थ को किसी अन्य विज्ञान के कथनों द्वारा कभी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार विज्ञान के रूप में नीतिशास्त्र की पूर्ण स्वतंत्रता और नैतिक शब्दों की अनन्यता और अपरिभाष्यता प्रकृतिवाद से भिन्न निर्प्रकृतिवाद की मुख्य विशेषता है।

निर्प्रकृतिवाद के समर्थकों के मतानुसार हम अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा शुभ–अशुभ तथा उचित–अनुचित का जो साक्षात् एवं स्वतः सिद्ध नैतिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह गणित सम्बन्धी ज्ञान की भांति पूर्णतः निश्चित या असंन्दिग्ध होता है। इसका अर्थ यह है कि अन्तःप्रज्ञा हमें कभी भी संदिग्ध अथवा मिथ्या नैतिक ज्ञान प्रदान नहीं करती। इसके अतिरिक्त निर्प्रकृतिवादी यह भी मानते हैं कि हमें अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त होने वाला नैतिक ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ ही होता है। इसका कारण यह है कि उक्त अंतःप्रज्ञात्मक नैतिक ज्ञान किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं इच्छाओं, अभिवृत्तियों या रूचियों पर आधारित नहीं होता। इस नैतिक ज्ञान का एकमात्र आधार अंतःप्रज्ञा है जो किसी न किसी रूप में सभी व्यक्तियों में अवश्य विद्यमान रहती है। निर्प्रकृतिवादियों का दृढ़ विश्वास है कि अंतःप्रज्ञा हमें निश्चय ही वस्तुनिष्ठ, नैतिक ज्ञान प्रदान करती है जो गणित विषयक ज्ञान के समान ही पूर्णतः उपर्युक्त असंदिग्ध तथा स्वतः सिद्ध होता है।

जी.ई.मूर, जे. ई. प्रिचर्ड, डब्ल्यू, डी. रॉस आदि के विचार निर्प्रकृतिवादी माने जाते हैं।

मूर अपनी पुस्तक प्रिन्सिपिया एथिका' के प्रथम अध्याय में 'शुभ' का अर्थ क्या है और उसकी ठीक–ठीक परिभाषा कैसे दी जा सकती है? को नीतिशास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और मूल प्रश्न मानते हैं। शुभ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मूर कहते हैं कि 'शुभ' की परिभाषा देना असंभव है, क्योंकि वह सरल तथा अविश्लेषण निर्प्राकृतिक गुण है। मूर ने शुभ के लक्षण : सरल, अन्नय और निर्प्राकृतिक बताये हैं। मूर मे अनुसार किसी वस्तु अथवा गुण तथा शुभ को एक समझ कर 'शुभ' की परिभाषा करने पर जो दोष उत्पन्न होता है, उसे प्राकृतिवादी तर्कदोष कहते हैं। मूर ने – 'उचित', 'कर्त्तव्य' तथा 'सद्गुण' इन नैतिक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है। मूर ने 'उचित' और 'कर्त्तव्य' के अर्थ के विषय में व्यक्तिनिष्ठवाद के सभी रूपों का खंडन

किया है। अपनी दूसरी पुस्तक 'एथिक्स' में वे यह प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं कि किसी कर्म को 'उचित' या 'अनुचित' कहने का अर्थ यह नही कि कोई व्यक्ति अथवा समुदाय उस कर्म के प्रति अनुमोदन या अननुमोदन की भावना का अनुसरण करता है। वस्तुतः कर्मों के औचित्य अथवा अनौचित्य का निर्णय उनके शुभ या अशुभ परिणामों के आधार पर ही किया जा सकता है जो किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं, इच्छाओं तथा अभिवृत्तियों पर निर्भर नही होते।

इसी प्रकार प्रिचर्ड कर्तव्य और शुभ इन दोनों को समान रूप से नीतिशास्त्र के मूल प्रत्यय मानते हैं। उनका मत है कि हम इन दोनों प्रत्ययों में से किसी एक की परिभाषा दूसरे के आधार पर नहीं कर सकते इस दृष्टि से प्रिचर्ड का सिद्धांत मूर के सिद्धांत से भिन्न है। स्पष्टतः इसका अर्थ यह है कि मूर के नैतिक सिद्धांत की अपेक्षा प्रिचर्ड के नैतिक सिद्धांत मैं अंतःप्रज्ञा को कहीं अधिक महत्व दिया गया है।

रॉस शुभत्व तथा औचित्य को ऐसे अविश्लेष्य, अनन्य और निर्प्राकृतिक गुण मानते हैं जिनका स्वतः सिद्ध ज्ञान हमें प्रत्यक्ष रूप मे अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है। वे यह भी मानते हैं कि इन्हीं विशेष निर्प्राकृतिक गुणों के कारण हम किसी वस्तु या कर्म को शुभ अथवा उचित कहते हैं। परन्तु उनका मत है कि ये विशेष निर्प्राकृतिक गुण वास्तव में उस वस्तु या कर्म के कुछ प्राकृतिक गुणों पर निर्भर होते हैं जिसे शुभ या उचित कहा जाता है। इस दृष्टि से शुभत्व तथा औचित्य इन निर्प्राकृतिक गुणों का शुभ वस्तुओं और उचित कर्मों के कुछ प्राकृतिक गुणों के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। जिसे 'निर्भरता का सम्बन्ध' कहा जा सकता है। वस्तुओं तथा कर्मों के प्राकृतिक गुणों पर आधारित होने के कारण शुभत्व एवं औचित्य को रॉस ने 'निर्भर गुण' कहा है। इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु या कर्म को शुभ अथवा उचित कहने के लिए केवल यह जानना ही पर्याप्त नहीं है कि उसमें शुभत्व या औचित्य निर्प्राकृतिक गुण है; इसके लिए उस वस्तु अथवा कर्म के कुछ प्राकृतिक गुणों को जानना भी आवश्यक है। परन्तु रॉस के विचार में शुभत्व

तथा औचित्य निर्प्राकृतिक गुण होने के कारण प्राकृतिक गुणों से मूलतः भिन्न हैं, अतः इन गुणों प्राकृतिक गुणों के समान मानना और प्राकृतिक गुणों के आधार पर इनकी परिभाषा करना उचित नहीं है।

निर्प्रकृतिवाद के सिद्धांत और उनके विरुद्ध आपत्तियों तथा पिछले खण्डों में उल्लिखित इसकी अनेक कठिनाइयों एवं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि अंशतः सत्य होते हुए भी प्रकृतिवाद की भांति यह सिद्धान्त भी नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप और प्रमाणीकरण की पूर्णतः सतोष–प्रद व्याख्या नहीं कर पाता।

3.5 शब्दार्थ सूची

साक्षात – सामने

मानकीय – मापदण्ड पर खरा

अपरिभाष्य – जिसकी परिभाषा करना संभव नहीं हो

तृप्ति – संतोष

तादात्म्य – अभिन्न

आत्म सिद्धि – अपने स्वयं की पहचान

मूल्यात्मक – मान के रूप में होने वाला

बाध्य – उत्तरदायी

उपयुक्त – ठीक

3.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तके :

1. जी. ई. मूर, प्रिन्सिपिया एथिका।
2. रिचर्ड प्राइस, ए रिव्यू ऑफ द प्रिंसिपल क्वेश्चन इन मारल्ज, संपादक– डी.डी. रैफेल

3. एच. ए. प्रिचर्ड का लेख, डज मॉरल फिलॉसफी रैस्ट ऑन ए मिस्टेक, कैनेथ पहेल और मार्विन शिलर द्वारा संपादित 'रीडिग्ज इन कन्टैम्परेरी एथ्किल थ्योरी' में संकलित।
4. डब्ल्यू. डी. रॉस, दि राइट एण्ड दि गुड।
5. डब्ल्यू. डी. रॉस, फाउण्डेशन ऑफ एथिक्स।
6. वेद प्रकाश वर्मा, अधि–नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धांत।
7. ह्रदय नारायण मिश्र, उन्नत नीतिशास्त्र।
8. एच. ए. प्रिचर्ड, मॉरल ऑब्लिगेशन, 1949.
9. एच. ए. प्रिचर्ड, मॉरल ऑब्लिगेशन एण्ड ड्युटी एण्ड इन्टरेस्ट, 1968.

2.7 बोध प्रश्न :

1. निर्देशत्मक सिद्धांत से आप क्या समझते है?
2. निर्प्राकृतिक गुण और संबंध का ठीक–ठीक अर्थ क्या हैं?
3. निर्प्रकृतिवादी निर्प्राकृतिक गुण और संबंध का किस संबंध में प्रयोग करते हैं?
4. अन्तःप्रज्ञा के स्वरूप तथा सीमा के पिषय में निर्प्रकृतिवादी प्रकृतिवाद के सिद्धांत से किस प्रकार भिन्न हैं?
5. मूर के 'सरल गुण' शब्द से आप क्या समझते हैं?
6. सार्थक प्रश्न संबंधी तर्क से क्या तात्पर्य है?
7. प्रिचर्ड के अनुसार मूल कर्त्तव्य कौन कौन से हैं?
8. रॉस के नैतिक उपयुक्तता के सिद्धांत का अर्थ समझाइए?
9. रॉस के प्रदत्त मूल कर्त्तव्यों की सूची क्या हैं?

दीर्घ उत्तरीय :

1. निर्प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताओं का वर्णन करें।

2. प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद के समानताओं और भिन्नताओं को विवेचित कीजिए।
3. शुभ अपरिभाष्य है, संबंधी मूर के मत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. प्रकृतिवादी दोष क्या है? इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थकों के विचारों और उनके सामान्य मत को समझाइए।
5. मूर द्वारा उचित, कर्त्तव्य और सद्‌गुण के अर्थ स्थापना की व्याख्या कीजिए?
6. प्रिचर्ड के कर्त्तव्य पालन संबंधी विचारों का विश्लेषण कीजिए?
6. रॉस द्वारा प्रस्तुत शुभ और उचित की व्याख्या का आलोचनात्म्क विश्लेषण कीजिए।
7. निर्प्रकृतिवाद के गुण–दोषों का मूल्यांकन कीजिए।

*****

खण्ड–04

अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त

खण्ड संरचना :

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्‌देश्य

4.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

4.3.1 आधारभूत मान्यताएं

4.3.2 धर्मशास्त्रीय सिद्धांत

4.3.3 तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत

4.3.4 मूल्यांकन

4.4 सारांश

4.5 शब्दार्थ सूची

4.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें

4.7 बोध प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्‌देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्‌देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त की आधारभूत मान्यताओं को जानने में।

- अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त को जानने में।
- अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त को जानने में।
- अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त के मूल्यांकन को समझने में।

4.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

4.3.1 आधारभूत मान्यताएं

पिछले दो अध्यायों में हम देख चुके हैं कि कुछ दार्शनिकों ने नैतिक निर्णयों को ऐसे तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक कथन माना है जो निर्णीत वस्तुओं के कुछ विशेष प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुणों का वर्णन करते हैं। इसी कारण इन दार्शनिकों के सिद्धान्तों – प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद को 'संज्ञानात्मक सिद्धान्त' कहा जाता है। हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रकृतिवाद कुछ विशेष प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर और निर्प्रकृतिवाद कुछ कल्पित निर्प्राकृतिक गुणों या सम्बन्धों के आधार पर नैतिक निर्णयों की परिभाषा अथवा व्याख्या करता है। ये दोनों सिद्धान्त नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण को स्पष्ट करने के लिए किसी विशेष अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता का आधार नहीं लेते। परन्तु कुछ दार्शनिकों ने ऐसे संज्ञानात्मक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है जो किसी अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता के आधार पर नैतिक निर्णयों की परिभाषा अथवा व्याख्या करते हैं। इन सिद्धान्तों को हम 'अलौकिक या अतीद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त' कह सकते हैं। नैतिक निर्णयों के विषय में धर्मशास्त्रीय सिद्धांत और तत्वमीमांसीय सिद्धान्त ऐसे ही अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। दूसरे अध्याय में अधि–नैतिक सिद्धांतों के वर्गीकरण पर विचार करते हुए हम इन सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा कर चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन अलौकिक अथवा अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों पर कुछ विस्तार से विचार किया जाएगा। परन्तु धर्मशास्त्रीय और तत्वमीमांसीय

सिद्धान्तों का पृथक् पृथक विस्तार से विचार विवेचन करने से पूर्व यहां इन दोनों प्रकार के सिद्धान्तों की कुछ सामान्य आधार–भूत मान्यताओं का संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है।

उपर्युक्त अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों की प्रथम आधार–भूत मान्यता यह है कि किन्हीं प्राकृतिक अथवा अनुभवाश्रित तथ्यों के आधार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप को भली–भांति स्पष्ट नहीं किया जा सकता। हम मनुष्य के कुछ प्राकृतिक गुणों अथवा उसकी भावनाओं, इच्छाओं या अभिवृत्तियों के आधार पर इन निर्णयों की ठीक–ठीक व्याख्या नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णयों का मूल आधार मानवीय अनुभव न होकर कोई विशेष अलौकिक या तत्वमीमांसीय सत्ता ही है। मनुष्य के अनुभव और उसकी तर्कबुद्धि से परे यह अलौकिक सत्ता ही वास्तव में नैतिकता का मूल स्त्रोत है, प्राकृतिक जगत् अथवा मानव का स्वभाव नहीं। इस अलौकिक अथवा तत्वमीमांसीय सत्ता को 'ईश्वर', 'प्रकृति', 'आत्मा' आदि विभिन्न संज्ञाएं प्रदान की गई हैं। इन सिद्धान्तों के समर्थकों के मतानुसार नैतिकता और नैतिक निर्णयों को इस अलौकिक सत्ता से पृथक करके कभी नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार निर्प्राकृतिक गुणों अथवा सम्बन्धों की प्राक्कल्पना भी इन निर्णयों के अर्थ और स्वरूप को समझने में हमारे लिए सहायक नहीं हो सकती। अपनी इसी मान्यता के कारण अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों के समर्थक निर्नैतिक निर्णयों की व्याख्या करने के लिए इन विशेष गुणों या सम्बन्धों की चर्चा नहीं करते। वे अन्तःप्रज्ञा और उस पर आधारित शुभ–अशुभ तया उचित–अनुचित के साक्षात् नैतिक ज्ञान के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं करते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद दोनों से मूलतः भिन्न हैं।

अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों की दूसरी प्रमुख आधार–भूत मान्यता यह है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक होने के साथ–साथ वस्तुनिष्ठ भी होते हैं। इन सिद्धान्तों के समर्थक संज्ञानवाद के इस मूल सिद्धान्त को

स्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णय किन्हीं विशेष तथ्यों का वर्णन मात्र करते हैं, अतः तथ्यात्मक कथनों की भांति ये निर्णय भी केवल वर्णनात्मक होते हैं। परन्तु ये निर्णय जिन तथ्यों का वर्णन करते हैं वे अनुभवाश्रित तथ्य अथवा निर्प्राकृतिक गुण या सम्बन्ध न होकर ईश्वर, आत्मा आदि किसी अलौ–किक या अतीन्द्रिय सत्ता से ही सम्बन्धित होते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों के समर्थकों की यह मान्यता उनके सिद्धान्तों को अन्य संज्ञानात्मक सिद्धान्तों से पृथक करती है। ये दार्शनिक नैतिक निर्णयों को संज्ञानात्मक मानने के साथ ही उन्हें वस्तुनिष्ठ भी मानते हैं। उनके मतानुसार ये निर्णय किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं, इच्छाओं या अनिवृत्तियों का वर्णन नहीं करते और न उनपर आधारित होते हैं। उदाहरणार्थ "क उचित है" का अर्थ यह हो सकता है कि "वह ईश्वर की इच्छा के अनुरूप हैं"। इसी प्रकार "क शुभ है" इस नैतिक निर्णय का अर्थ यह कहकर स्पष्ट किया जा सकता है कि "क 'प्रकृति' के अनुरूप है" अथवा "क मनुष्य की 'आत्मोपलब्धि' या 'आत्मसिद्धि' में सहायक है"। अन्य सभी नैतिक निर्णयों की व्याख्या भी इसी प्रकार किसी अलौकिक अथवा तत्वमीमांसीय सत्ता से सम्बन्धित कथनों द्वारा ही की जा सकती है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अलौकिक कार्य अतीद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुसार नैतिक निर्णय किसी व्यक्ति या समुदाय की किन्ही मनोदशाओं पर आधारित नहीं होते, अतः इन निर्णयों को व्यक्तिनिष्ठ निर्णय नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ईश्वर, आत्मा आदि किसी अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता पर आधारित होने के कारण ये निर्णय वस्तुनिष्ठ ही होते हैं। यदि "क उचित है" का अर्थ यह है कि "वह ईश्वर की इच्छा के अनुरूप है" तो निश्चय ही 'क' का औचित्य उसके सम्बन्ध में किसी व्यक्ति या समुदाय की भावनाओं, इच्छाओं अथवा अभिवत्तियों द्वारा निर्धारित या प्रभावित नहीं हो सरता। यही बात अन्य सभी नैतिक निर्णयों के विषय में भी कही जा सकती है। इस प्रकार अलौकिक सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों के समर्थक नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप के सम्बन्ध में व्यक्तिनिष्ठवाद के स्थान पर वस्तु–निष्ठवाद को ही स्वीकार करते हैं, अतः इन निर्णयों

की संज्ञानात्मकता के साथ–साथ इनकी वस्तुनिष्ठता भी उनके सिद्धान्तों की प्रमुख विशेषता है।

अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तों की आधारभूत मान्यताओ के विषय में अभी तक ऊपर जो कुछ कहा गया है उसने यह स्पष्ट है कि ये सिद्धान्त दो प्रकार के हैं– धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त और तत्वमीमांसीय सिद्धांत । धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त के समर्थक 'शुभ', 'उचित', 'कर्त्तव्य' आदि नैतिक शब्दों की परिभाषा ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के आधार पर ही करते हैं, अतः इस सिद्धान्त को 'ईश्वरपरक सिद्धान्त' भी कहा जा सकता है। ईश्वरवादी धर्म– परायण दार्शनिकों का ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित विश्वास इस सिद्धान्त का मूल आधार है। हम आगे देखेंगे कि ये दार्शनिक नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों की व्याख्या अपने इसी विश्वास के आधार पर करते हैं और उनका निश्चित मत है कि नीतिशास्त्र का धर्मशास्त्र से पृथक एवं स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। परन्तु तत्वमीमांसीय सिद्धान्त उक्त धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त से कुछ भिन्न हैं। इन तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों के समर्थक ईश्वर के स्थान पर 'प्रकृति', 'आत्मा' आदि किसी तत्वमीमांसीय सत्ता को ही नैतिकता और नैतिक निर्णयों का मूल आधार मानते हैं। वे ऐसी ही तत्वमीमांसीय सत्ता के आधार पर नैतिक शब्दों की परिभाषा करते हैं। यह स्पष्ट है कि इन दार्शनिकों का ईश्वरवादी तथा धर्म– परायण होना अनिवार्य नही है। परन्तु धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त के समर्थकों की भांति से दार्शनिक भी नीतिशास्त्र का स्वतन्त्र महत्त्व स्वीकार नहीं करते। इन दार्शनिकों के मतानुसार नीतिशास्त्र तत्वमीमांसा से पृथक और स्वतन्त्र विभा नहीं है। नैतिक निर्णयों की व्याख्या केवल तत्वमीमांमीय कथनों के आधार पर ही की जा सकती है। प्रस्तुत अध्याय के अगले दो खण्डों में हम क्रमशः इन धर्म– शास्त्रीय और तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों पर विचार करेंगे ।

4.3.2 धर्मशास्त्रीय सिद्धांत

जैसा कि हम पिछले खंड में बता चुके हैं, अनेक ईश्वरवादी दार्शनिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के आधार पर ही नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं। उनके अनुमार "अमुक कर्म शुभ या उचित है" इस नैनिक निर्णय का अर्थ यह है कि "वह कर्म ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के अनुरूप है"। अन्य सभी नैतिक निर्णयों का अर्थ भी हम इसी प्रकार ईश्वर की इच्छा या ईश्वरादेश के आधार पर ही स्पष्ट कर सकते हैं। जो दार्शनिक इम धार्मिक मान्यता के आधार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं उनके निज्ञान्त को ही 'धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त' कहा जाता है। पाश्चात्य नैतिक दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि पिछली कई शताब्दियों से अनेक दार्शनिक इमी धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त का समर्थन करते रहे है। मध्य युग में दर्शन की अन्य महत्त्वपूर्ण विधाओं की भांति नीतिशास्त्र को भी धर्मशास्त्र का ही–एक अभिन्न अंग माना जाता था और ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों द्वारा ही नैतिक निर्णयों के अर्थ तथा स्वरूप को स्पष्ट किया जाता था। इसके पश्चात् पुनर्जागरण–काल में भी अनेक दार्शनिक नैतिक निर्णयों की व्याख्या के सम्बन्ध में इसी धर्मशास्त्रीय विचारधारा का समर्थन करते रहे। इन दार्शनिकों में जॉन लॉक तथा विलियम पैले के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ पैले के विश्वार में सद्गुण "ईश्वर की इच्छानुसार मानव–जाति का उपकार करना है। सर्वशक्तिमान ईश्वर प्राणियों के सुख की इच्छा करता है, अतः जी कर्म उसकी इस इच्छा की पूर्ति करते हैं वे उसे अवश्य ही स्वीकार्य होंगे।"

वर्तमान शताब्दी में भी अनेक दार्शनिकों ने इसी धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार नैतिक निर्णयों की व्याख्या की है। इन दार्शनिकों में कार्ल बार्थ, ऐमिल इनर तथा रीनोल्ड नीबुर इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक हैं जिनके मत पर हम यहां संक्षेप में विचार करेंगे। ये सभी दार्शनिक ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते हैं और यह कहते हैं कि उसकी कृपा के विना मनुष्य नितान्त असहाय है। वे शुभ–अशुभ सम्बन्धी नैतिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रन्ति को विशेष महत्त्व देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार श्रुति की सहायता के

बिना अपनी तर्कबुद्धि द्वारा मनुष्य यह ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। ईसाई विचारधारा का अनुसरण करते हुए ये दार्शनिक मनुष्य को पूर्णतः पापमय तथा अत्यन्त तुच्छ प्राणी मानते है और इस मान्यता का दृढ़तापूर्वक विरोध करते हैं कि वह स्वभावतः अच्छा है। उनका निश्चित मत है कि ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप ही मनुष्य अपने पाप से मुक्त हो सकता है और केवल श्रुति के माध्यम से ही वह शुभ–अशुभ .. विषयक नैतिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

कार्ल बार्थ वर्तमान शताब्दी में उक्त धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त के सम्भवतः प्रनुखतम प्रतिनिधि हैं। यद्यपि वे धर्मशास्त्री थे और नैतिक दर्शन पर उन्होंने कोई पुस्तक नहीं लिखी, फिर भी धर्मशास्त्र सम्बन्धी अनेक पुस्तकों में उन्होंने नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों के विषय में विस्तारपूर्वक अपने विचार व्यक्त लिए हैं। वार्थ की जिन पुस्तकों में हमें उनके ये विचार उपलब्ध होते हैं उनमें 'दि डॉक्ट्रिन ऑफ़ दि वर्ड आफ़ गॉड', 'दि नॉलेज ऑफ़ गॉड एण्ड दि सबिस ऑफ़ गॉड' तथा 'दि वर्ड ऑफ गॉड एण्ड दि वर्ड ऑफ़ मैन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनकी अन्तिम पुस्तक में नैतिक दर्शन से सम्बन्धित उनका महत्त्वपूर्ण भापण 'दि प्राब्लम ऑफ़ ऐथिक्स टुडे' भी संकलित है। वास्तव में बार्थ मुख्यतः ईनाई धर्म के प्रचारक थे, अतः उन्होंने धर्मशास्त्र की दृष्टि से ही नैतिक दर्शन की समस्याओं पर विचार दिया है। वे नैतिक दर्शन को स्वतन्त्र बिधा न मानते हुए उसे धर्मशास्त्र का ही एक भाग मानते हैं।

बार्य का निश्चित मत है कि मनुष्य अपनी तकंबुद्धि द्वारा परम नृत्य को कभी नहीं जान सकता। इस परम सत्य का ज्ञान उसे केवल श्रुति द्वारा ही प्राप्त हो सकता है जो ईश्वर के अनुग्रह के बिना संभव नहीं है। यह श्रुति ईश्वर के अनुयह के परिणामस्वरूप ही कुछ महान संतों को प्राप्त होती है। नैतिक सत्यों का ज्ञान भी अंततः इसी वृति पर आधारित है मानवीय अनुभव और तकंबुद्धि घर नहीं। इसी कारण हमारे लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि नीति शास्त्र के विषय में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए बार्थ कहते हैं कि शास्त्र धर्मशास्त्र से पुसक न होकर वास्तव में उसी का अभिन्न

अंग है। नीति नीतिशास्त्र को ईश्वरादेश का सिद्धांत मानता है और उसे धर्मशास्त्र का अभिन्न सामानने के अतिरिक्त कुछ और मानना उचित नहीं समझता। अनुभव और बुद्धि पर बांधारित मनुष्य का ज्ञान अत्यंत सीमित है, अतः वह असमर्थ है। यही कारण है कि मानव–समाज में प्रचलित समस्त नैतिक नियम तया सिद्वांत शाश्वत और अपरिवर्तनीय न होकर सापेक्ष ही हैं। ऐसा कोई नैतिक नियम अथवा सिद्धांत नहीं है जो सर्वत्र और सर्वदा सभी मनुष्यों के लिए सत्य हो। इस प्रकार बार्थ मनुष्य के नैतिक ज्ञान की सापेक्षता में पूर्णतः विश्वास करते हैं। उनका मत है कि इस संसार में बस्तुनिष्ठ रूप से किसी भी नैतिक नियम या सिद्धांत को सार्वभौमिक रूप से सत्य प्रमाणित करना अथवा उसकी निष्पक्ष परीक्षा करना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में कुछ दार्शनिकों का यह दावा निरर्थक हो जाता है कि नैतिकता और मूल नैतिक सत्यों का कोई निरपेक्ष आधार है। बार्थ के अनुसार मानव का संपूर्ण जीवन भावनाओं अथवा संवेगों द्वारा ही शासित होता है, अतः उसमें वह संकल्प–स्वातंत्र्य भी नहीं है जिसे अधिकतर दार्शनिक नैतिकता का अनिवार्य मूल आधार मानते हैं। इस प्रकार यह सष्ट है कि समस्त नैतिक नियमों तथा सिद्धांतों के विषय में पूर्ण सापेक्षता वार्थ के धर्मशास्त्रीय सिद्धांत की प्रमुख विशेषता है ।

मनुष्य को जो सापेक्ष नैतिक ज्ञान प्राप्त होता है उसका अंतिम आधार अथवा मूल स्रोत बार्थ के विचार में स्वयं ईश्वर के प्रवचन ही हैं। यद्यपि हम ईश्वर को कभी नहीं जान सकते क्योंकि वह मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि से परे है, फिर भी हम अपना संपूर्ण नैतिक ज्ञान मूलतः उसी के प्रवचनों से प्राप्त करते हैं। इन प्रवचनों के माध्यम से हमें ईश्वर का जो आदेश या अनुमोदन प्राप्त होता है उसी में 'शुभ' तथा 'उचित' का अर्थ निहित है। बार्थ का विचार है कि ईश्वर के ये प्रवचन हमारे समक्ष मुख्यतः तीन रूपों में अभिव्यक्त होते हैं और ये तीन रूप है धर्मग्रंथ, धर्मोपदेशकों द्वारा किया गया प्रचार तथा श्रुति । इन तीनों में भूति का ही सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि वही ईश्वरीय प्रवचनों का अंतिम अथवा मूल स्रोत है। अन्य दोनों रूप अंततः इसी श्रुति पर आधारित हैं। हम

इस श्रुति को किन्हीं विशेष नियमों अथवा सिद्धांतों के रूप में संगठित करके शास्त्रबद्ध नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि ईश्वरीय प्रवचनों पर आधारित यह श्रुति मनुष्य की तर्कबुद्धि का विषय नहीं है। इसका एकमात्र आधार आस्था है जो मनुष्य को ईश्वर की कृपा के परिणामस्वरूप ही प्राप्त हो सकती है। स्वयं ईस्वर ही यह निर्णय करता है कि वह अपने अनुग्रह द्वारा किन व्यक्तियों में यह आस्था उत्पन्न करेगा। इसके लिए मनुष्य किसी प्रकार का प्रयास नहीं कर कहता। ईश्वर अपनी इच्छानुसार किन्हीं विशेष व्यक्तियों में यह आस्था उत्पन्न करता है जिसके द्वारा वे ईश्वरीय प्रवचनों को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार बार्थ के मतानुसार मनुष्य का नैतिक ज्ञान केवल सापेक्ष ही नहीं, अतिकत अपितु वह पूर्णतः ईश्वरीय अनुग्रह पर भी निर्भर है।

कार्ल बार्थ की भांति ऐमिल ब्रूनर भी नैतिकता और नैतिक निर्णयों की व्याख्या के संबंध में धर्मशास्त्रीय सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन करते हैं। उन्होंने मंत्रिम अपनी पुस्तक 'दि डिवाइन इम्पैरेटिव' में नैतिक दर्शन संबंधी समस्याओं परव्यव स्थित रूप से तथा विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस पुस्तक के अतिरिक्त अपनी पुन्है एक अन्य पुस्तक 'जस्टिस ऐंड दि सोश्यल ऑर्डर' में भी उन्होंने नैतिकता के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। बूनर के इन विचारों पर बार्थ के मत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। बार्थ के समान ही वे भी इसाई धर्म के दृढ़ अनुयायी थे, अतः नीतिशास्त्र की समस्याओं पर उन्होंने भी ईसाई धर्म के दृष्टिकोण से ही बिचार किया है। वे भी सभी नैतिक सिद्धांतों को सापेक्ष मानते हैं और यह कहते हैं कि ये सिद्धांत वास्तव में नैतिकता की समुचित व्याख्या नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ प्रकृतिवादी सिद्धांत हमें यह नहीं बताते कि 'उचित' और 'नर्तव्य' का ठीक–ठीक अर्थ क्या है। इसी प्रकार तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत हमें यह नहीं बताते कि व्यावहारिक जीवन में हमारे वास्तविक कर्तव्य क्या हैं। इन सभी सिद्धांतों का प्रमुख दोष यही है कि ये नैतिक्ता को ईश्वरादेश से स्वतंत्र मान कर उमकी व्याख्या करते हैं। परंतु वास्तव में ईश्वरादेश से पृथक नैतिकता का कोई अर्थ और महत्व नहीं हो सकता, क्योंकि अंततः ईश्वर ही उसका मूल स्रोत है। ईश्वरादेश के स्थान पर मानवीय अनुभव एवं

तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण सभी नैतिक सिद्धांत सापेक्ष हैं और इन सिद्धांतों की सत्यता के विषय में विभिन्न व्यक्तियों तथा समुदायों में तीव्र मतभेद है। इस तीव्र मतभेद का उल्लेख ग करते हुए ब्रूनर कहते हैं कि "ऐसा एक भी नैतिक आदेश नहीं है जिसे सबंत्र अंतिम आदेश के रूप में स्वीकार किया जाता हो। इसके विपरीत विभिन्न राष्ट्रों से संस्था सभ्यताओं की नैतिक प्रणालियां केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही नहीं अपितु हमारे लिए यह जानना असंभव है कि कौन–सा नैतिक सिद्धांत सत्य है। इस प्रकार संद्धांतिक दृष्टि से भी एक दूसरे का पूर्णतः व्यावहारिक है। ऐसी स्थिति में वार्थ की भांति ब्रूनर भी समस्त नैतिक सिद्धांतों की सापेक्षता को पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

नैतिक सिद्धांतों को सापेक्ष मानने के साथ–साथ ब्रूनर भी बार्थ के समान ही नैतिकता को ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा पर ही निर्भर मानते हैं। उनका मत है कि सीतियशास्त्र पूर्ण रूप से धर्मशास्त्र पर ही आधारित है; धर्मशास्त्र से पृथक इसका कोई अस्तित्व नहीं है। समस्त नैतिक नियमों तथा सिद्धांतों का एकमात्र अंतिम आधार ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा है। ब्रूनर के अनुसार, "कोई भी वस्तु अपने आप में शुभ नहीं है। ईश्वर जो कुछ करता है और चाहता है वही तुम है, जो ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है वही अशुभ है। 'शुभ' का आधार और अस्तित्य केवल ईश्वर की इच्छा में ही निहित है। किसी विशेष समय में ईश्वर जिसकी इच्छा करता है वही कर्म करना सदैव शुभ है।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यूजर के विचार में 'शुभ' के अर्थ की व्याख्या मानवीय अनुभव द्वारा नहीं, अपितु ईश्वर की इच्छा के आधार पर ही की जा सकती है। अन्य नैतिक शब्दों हे वर्ष की व्याख्या भी वे इसी प्रकार करते हैं। वे बार्थ के इस मत का भी समर्थन करते हैं कि नैतिक ज्ञान का अंतिम आधार स्वयं ईश्वर के प्रवचन ही हैं जिन्हें मनुष्य उसकी कृपा के परिणामस्वरूप ही समझ सकता है। ईश्वर के अनु– यह के बिना वह अपनी तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर की इच्छा को कभी नहीं जान सकता। इसका अर्थ यही है कि नैतिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए ईश्वर का अनुग्रह अनिवार्य है। ईश्वरदादी दार्शनिक होने के कारण ब्रूनर यह मानते हैं कि यह जगत् ईश्वर की ही रचना है, अतः वह

निश्चय ही इस जगत् का हित चाहता है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर सभी प्राणियों के सुख की इच्छा करता है, अतः उसकी इस इच्छा का अनुसरण करते हुए हमें ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे सभी प्राणियों को सुख प्राप्त हो। जिस कर्म के कारण किसी प्राणी को दुःख शात होता है उसका दृढ़तापूर्वक विरोध करना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि ऐसा कर्म ईश्वर की इच्छा के प्रतिकूल है। 10 इस प्रकार ब्रूनर के विचार में 'शुभ' की भांति कर्तव्य' का मूल आधार भी ईश्वर की इच्छा अथवा उसका आदेश ही है।

उक्त धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर ही नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों की व्याख्या की है। अपनी दो पुस्तकों 'ऐन इंटरप्रेटेशन ऑफ क्रिश्चियन ऐथिक्स' बार्थ और ब्रूनर के अतिरिक्त अमेरिकन दार्शनिक रीनोल्ड नीबुर ने भी तथा 'दि नेचर एण्ड डेस्टिनी ऑफ मैन' में उन्होंने नैतिकता और नैतिक दर्शन श्री समस्याओं के विषय में विस्तारपूर्वक अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उनकी उपर्युक्त पुस्तकों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप के सम्बन्ध में उनका मत बार्थ और ब्रूनर के मत से अधिक भिन्न नहीं है। उक्त दोनों दार्शनिकों की भांति नीबुर भी समस्त नैतिक नियमों तथा सिद्धान्तों को केवल सापेक्ष ही मानते हैं और ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के आधार पर ही 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि नैतिक सिद्धान्तों श्री सापेक्षता एक ही समस्या के विषय में विभिन्न व्यक्तियों, समुदायों तथा राष्ट्रों के अलग–अलग और परस्पर विरोधी विचारों में स्पष्टतः देखी जा सकती है। उनके इन विचारों पर उनकी भिन्न–भिन्न परिस्थितियों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इसी कारण किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय के लिए पूर्णतः निष्पक्ष होकर किसी समस्या पर विचार करना संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में मनुष्य की निष्पक्षता को पूर्णतः अस्वीकार करते हुए नीबुर कहते हैं कि "प्रत्येक निर्णय व्यक्ति के स्वार्थ से प्रभावित होता है और निष्पक्षता का प्रत्येक दावा अंततः उस विशेष स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण को छिपाने में असमर्थ रहता है जिससे यह दावा प्रेरित अथवा विकृत होता है।... विवाद में भाग लेने वाले किसी भी पक्ष का दृष्टिकोण इतना ऊँचा या निष्पक्ष

नहीं होता कि वह अपने विरोधी के मत की श्रेष्ठ बातों का निर्णय कर सके। इस प्रकार नैतिक प्रतिमानों पर आधारित प्रत्येक मुक्ति प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध स्वयं अपने मत के नैतिक औचित्य को सिद्ध करने का साधन मात्र बन जाती है। 11 नीबुर के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार नैतिक विवाद में मनुष्य के लिए निष्पक्षता असंभव है, अतः समस्त नैतिक नियमों तथा सिद्धान्तों का सापेक्ष होना अनिवार्य है। किसी भी समस्या पर हम सब केवल स्वार्थ से प्रेरित होकर विचार करते हैं और इसी आधार पर उसके विषय में अपना निर्णय देते हैं। इसी कारण नीबूर यह कहते हैं कि अपने किसी भी नैतिक नियम या सिद्धान्त को पूर्णतः सत्य एवं सार्वभौमिक मानना मनुष्य के लिए पाप अथवा ईश्वर के विरुद्ध अपराध है। उन्हीं के शब्दों में, "मनुष्य द्वारा अपने अस्तित्व की सीमाबों को जानबूझ कर अस्वीकार करना ही पाप का मूल बोत है।"12 इस प्रकार बार्य तथा बनर की भांति नीबूर भी निश्चित रूप से भई मानते हैं कि अनुभव और तर्कबूद्धि द्वारा अंतिम नैतिक सत्यों का ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य के लिए असंभव है।

मनुष्य की असमर्थता को ध्यान में रखते हुए बार्थ और ब्रूनर के समान ही नीबुर ने भी ईश्वर द्वारा प्राप्त श्रुति को नैतिक ज्ञान का मूल स्रोत माना है। उनका मत है कि इस श्रुति के माध्यम से ही ईश्वर शुभ–अशुभ के विषय में हमारे समक्ष अपनी इच्छा व्यक्त करता है। हमारा समस्त नैतिक ज्ञान अंततः इसी श्रुति पर आधारित है। नीबुर के मतानुसार इस श्रुति के मुख्य दो हा हैं–व्यक्तिगत और सार्वजनिक श्रुति जिन्हें वे क्रमशः 'विशेष' तथा 'सामान्य' श्रुति भी कहते हैं। उनके विचार में सामान्य श्रुति ही विशेष श्रुति का मूल आधार है, किन्तु ईश्वर की इच्छा और उसके आदेश को हम विशेष श्रुति द्वारा ही जान सकते हैं। 13 परन्तु नीबुर ने श्रुति के इन दोनों रूपों के अंतर को पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया। श्रुति के अतिरिक्त प्रेम के आधार पर भी वे कभी–कभी नैतिकता की व्याख्या करते हैं, किन्तु उनके अनुसार नैतिकता च अंतिम आधार ईश्वर की इच्छा ही है जिसे वह श्रुति के माध्यम से हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

यहां इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बार्थ और ब्रूनर की भांति नीबुर भी ईश्वर को अनिवार्यतः शुभ मानते हैं जिसकी इच्छा नैतिकता का मूल आधार है। परन्तु उनका मत है कि ईश्वर की इच्छा पर नैतिकता के आधारित होने का कारण उसका शुभत्व नहीं है। यह मानना कि ईश्वर के शुभ होने के कारण ही नैतिकता उसकी इच्छा पर आधारित होती है एक मानवीय अवधारणा 'शुभत्व' को ईश्वर की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व देना है जो अनुचित है। वस्तुतः ईश्वर समस्त मानवीय अवधारणाओं से परे और स्वतन्त्र है, अतः कोई भी मानवीय अवधारणा उसकी इच्छा का आधार नहीं हो सकती। इसका अर्थ यही है कि ईश्वर के शुभत्व पर विचार किए बिना ही उसकी इच्छा को नैतिकता का अंतिम आधार मानना हमारे लिए अनिवार्य है। 14 इस प्रकार बार्थ तथा ब्रूनर के मत का अनुसरण करते हुए नीबुर भी केवल ईश्वर की इच्छा के आधार पर नैतिकता और नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं इन दार्शनिकों का यह धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त कहां तक उचित एवं सन्तोषप्रद है इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत अध्याय के अन्तिम खंड में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

4.3.3 तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत

जैसा कि हम प्रथम खंड में बता चुके हैं, अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता सम्बन्धी "सिद्धान्तों को मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त और तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त । पिछले खंड में हमने घर्मशास्त्रीय सिद्धान्त के स्वरूप का विवेचन किया है। अब यहां संक्षेप में तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों पर भी विचार करना आवश्यक है। इन सिद्धान्तों की प्रमुख विशेषता – जो इन्हें धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त से पृथक करती है – यह है कि ये ईश्वर के स्थान पर किसी अन्य अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता को नैतिकता का आधार मानते हैं और इसी सत्ता के आधार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ दार्शनिक 'प्रकृति' को और कुछ अन्य दार्शनिक 'आत्मा' (या 'सैल्फ़') को ही नैतिकता का आधार मानते हैं। ये दार्शनिक 'प्रकृति' तथा

'आत्मा' दोनों को अतींद्रिय सत्ताओं के रूप में ही स्वीकार करते हैं और इनमें से किसी एक सत्ता के बाधार पर नैतिक शब्दों की परिभाषा करते हैं। इस दृष्टि से हम तत्त्वमीमां– सीय सिद्धान्तों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं– 'प्रकृति' सम्बन्धी सिद्धान्त बौर 'आत्मोपलब्धि' सम्बन्ची सिद्धान्त । परन्तु ये दोनों प्रकार के सिद्धान्त केवल तत्वमीमांसीय कथनों द्वारा ही नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। जी० ई० मूर ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपिया ऐथिका' के चौथे अध्याय में इन तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों पर विस्तार से विचार किया है। 'तत्त्वमीमांसीय' शब्द का वर्थ क्या है ? – इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते कि "मैं इस शब्द का प्रयोग 'प्राकृतिक' के विपरीतार्थक शब्द के रूप में करता हूं। 15 मूर के इस मत का तात्पर्य यह है कि जो 'प्राकृतिक' नहीं है– अर्थात् जिसकी कालिक्सत्ता नहीं है बौर इसी कारण जो हमारे अनुभव तथा अंर्तानरीक्षण का विषय नहीं हो मुक्ता उसे ही 'तत्त्वमीमांसीय' कहा जा सकता है। 'प्रकृति' तथा 'आत्मा' को के बाघार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं उन्हें 'तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त' इतनी बर्थ में तत्त्वमीमांसीय सत्ताएं माना जाता है और जो सिद्धान्त इन सत्ताबों कहा जाता है।

लिखा है कि इन तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मूर ने "इन नैतिक सिद्धान्तों की सामान्य विशेषता यह है कि ये सिद्धान्त नीतिशास्त्र के किसी मूल कवन की व्याख्या के बापार के रूप में किसी तत्वमीमांसीय कथन का प्रयोग करते हैं। ये सभी सिद्धान्त यह मानते हैं कि नैतिक सत्य ताकिक दृष्टि से तत्त्वमीमांसीय सत्यों से ही निगमित होते हैं, बतः नीतिशास्त्र तत्त्वमीमांसा पर ही बाधारित होना चाहिए। इसका परिणाम यह है कि ये सभी सिद्धान्त तत्व– मीमांसीय शब्दों द्वारा ही उच्चतम शुभ की व्याख्या करते 'तत्त्वमीमांसीय नीतिशास्त्र की विशेषता यह है कि इसके अनुसार जो पूर्णतः शुम है उसका अस्तित्व तो है किन्तु वह प्राकृतिक नहीं है; उसमें वह गुण पाया जाता है जो बतींद्रिय सत्ता में होता है। स्टॉइक्स ने ऐसी ही बात कही थी जब उन्होंने यह विचार व्यक्त किया था कि 'प्रकृति' के अनुरूप जीवन ही सर्वोत्तम है। 'प्रकृति' से

उनका तात्पर्य वह नहीं था जो मैंने बताया है; वे 'प्रकृति' को ऐसी अतींद्रिय सत्ता मानते थे जिसका अस्तित्त्व है और जो पूर्णतः शुभ है। कांट भी यही बात कहते हैं जब वे हमें बताते हैं कि 'साध्यों का साम्राज्य' सर्वोच्च आदर्श है। अंत में वे आधुनिक लेखक भी यही बात कहते हैं जो हमें बताते हैं कि हमारा अतिम तथा सर्वोच्च लक्ष्य वास्तविक आत्मा की सिद्धि है– वह बात्मा जो उन सभी वस्तुओं से भिन्न है जिनका प्रकृति और दिक्–काल के अंतर्गत अस्तित्व है" 16 तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के विषय में मूर के उपर्युक्त विचारों से इन सिद्धान्तों का स्वरूप भली–भांति स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये सिद्धान्त नीति–शास्त्र को स्थतन्त्र विधा न मान कर तत्त्वमीमांसा का ही एक भाग मानते हैं और इसी क्रार्ण वे समस्त नैतिक निर्णयों की व्याख्या तत्त्वमीमांसीय कथनों के आधार पर ही करते हैं। हम प्रथम खंड में देख चुके हैं कि नीतिशास्त्र को स्वतन्त्र विधा न मानने की दृष्टि से धर्मशास्त्रीय और तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों में पूर्ण सहमति है।

प्राचीन काल से वर्तमान युग तक अनेक दार्शनिक किसी न किसी रूप में तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों का समर्थन करते रहे हैं। इन सिद्धान्तों के विषय में मूर के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन युग में स्टॉइक्स इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार नैतिकता की व्याख्या करते थे। वे यह मानते थे कि जो कुछ 'प्रकृति' के शनरूव है वही 'शुभ' है और जो 'प्रकृति' के विरुद्ध है वही 'अशुभ' है। जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, वे 'प्रकृति' शब्द को उसके सामान्य अर्थ में ग्रहण न करके चमच विशेष अर्थ स्वीकार करते थे। सामान्यतः हम यह भानते हैं कि जो घटनाएं, बस्तुएं या तथ्य हमारे अनुभव के विषय है अथवा हो सकते हैं वे सभी 'प्राकृतिक' हैं। इस दृष्टि से सामान्य अर्थ में 'प्रकृ ति' का सम्बन्ध अनिवार्यतः हमारे अनुभव से है। परन्तु हमारी इस सामान्य मान्यता के विपरीत स्टॉइक्स प्रकृति' को एक तत्त्वमीमांचीय अथवा अतींद्रिय सत्ता मानते थे। इसी कारण जब वे यह कहते हैं कि "प्रकृति के अनुरूप जीवन ही शुभ है" तो स्ताने उनका तात्पर्य यही है कि हमारा जीवन उक्त तत्त्वमीमांसीय या अतोद्रिय सत्ता के अनुरूप होना

चाहिए। स्टॉइक्स की इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि वे नैतिकता की व्याख्या करने के लिए प्रकृति संबंधी तत्त्वमीमाहर सीय सिद्धांत को ही स्वीकार करते हैं। वर्तमान शताब्दी में जे० माटिन, ई० गिलसन आदि कुछ दार्शनिकों ने भी मूलतः इसी सिद्धांत के अनुसार नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों की व्याख्या की है। इस प्रकार समकालीन नैतिक दर्शन में भी प्रकृति संबंधी तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के कुछ समर्थक विद्यमान हैं।

जैसा कि हम इस खंड के प्रारम्भ में ही बता चुके हैं, उपयुक्त प्रकृति सम्बन्धी तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के अतिरिक्त एक अन्य तत्वमीमांसीय सिद्धांत भी है जिसे 'आत्मोपलब्धि का सिद्धांत' कहा जाता है। हीगेल, ग्रीन, ब्रेडले, म्यूरहेड आदि अनेक दार्शनिकों ने इसी सिद्धांत के आधार पर नैतिकता की व्याख्या की है। यह सिद्धांत 'प्रकृ ति' के स्थान पर 'आत्मा' को ही परम सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। परन्तु इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार यह आत्मा अनुभवगम्य न होकर तत्त्वमीमांसीय अथवा अतींद्रिय सत्ता है और इसी बात्मा की उपलब्धि या सिद्धि मनुष्य का अन्तिम ध्येय है। 'शुभ', 'उचित', 'कत्त'व्य' आदि नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या हम इस आत्मोपलब्धि अथवा आत्मसिद्धि के आधार पर ही कर सकते हैं। "अमुक कर्म शुभ या उचित हैं" का अर्थ यही है कि "वह हमारी आत्मोपलब्धि में सहायक है"। इसी प्रकार किसी कर्म को 'अशुभ' अथवा 'अनुचित' कहने का अर्थ यही है कि वह कर्म हमारी आत्मोपलब्धि में बाधक है। इस सिद्धांत के अनुसार अन्य सभी नैतिक निर्णयों की व्याख्या भी हम इसी आत्मोपलब्धि के आधार पर कर सकते हैं। उक्त सिद्धांत की इसी आधारभूत मान्यता को स्वीकार करते हुए जे० एच० म्यूरहेड बहते हैं कि नैतिक शब्दों का अर्थ अन्ततः आत्मोपलब्धि की अव– धारणा में ही निहित है। यह आत्मोपलब्धि ही नीतिशास्त्र का मूल आधार है जौर यही हमारे नैतिक कर्त्तव्य को आत्मारोपित कर्तव्य बनाती है। 17 म्यूरहैब के विचार में मनुष्य एक बौद्धिक तथा सामाजिक प्राणी के रूप में ही यह ब्रात्मोपलब्धि अथवा आत्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है। इस आत्मसिद्धि के लिए निम्न कोटि की इच्छाओं अथवा वासनाओं को नियंत्रित करना आवश्यक है। सस्तु मानब समाज से पृथक होकर

मनुष्य यह आत्मसिद्धि कभी प्राप्त नहीं कर सकता; समाज के एक अभिन्न अंग के रूप में ही उसके लिए यह आत्मसिद्धिसंभा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हीगेल, यही उसके बिल की भांति म्यूरहेड भी नैतिकता की व्याख्या नात्मसिद्धि जीवेस, ग्रीन और बकले की भांति सा ही करते है। परन्तु ये दार्शनिक हमें यह नहीं बताते कि 'आत्मा' शब्द का ठीक–ठीक अर्थ कथा है। वस्तुतः यह इन दार्शनिकों के सिद्धान्त की प्रमुख समस्या है जिस पर हम प्रस्तुत अध्याय के अगले खंड में विचार करेंगे।

यहां इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मूर के विचार में प्रकृतिवादी सिद्धांतों के समान ही उपयुक्त दोनों प्रकार के तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों में भी 'प्रकृतिवादी दोष' पाया जाता है। इसका कारण यह है कि प्रकृतिवादी सिद्धांतों की भांति ये सिद्धांत भी 'शुभ' की परिभाषा करने का प्रयास करते हैं जो वास्तव में अपरिभाष्य है। इन दोनों प्रकार के सिद्धांतों में अंतर केवल यही है कि प्रकृतिवादी सिद्धांत कुछ प्राकृतिक गुणों या अवधारणाओं के आधार पर 'शुभ' की परिभाषा करते हैं जबकि तत्वमीमांसीय सिद्धांत किसी अलौकिक सत्ता के आधार पर इसकी परिभाषा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों प्रकार के सिद्धांत 'शुभ' को अपरिभाष्य नहीं मानते और इसी कारण मूर के अनुसार इन सिद्धांतों में समान रूप से प्रकृतिवादी दोष पाया जाता है जो इन्हें नितांत अनुचित तथा असन्तोषप्रद बना देता है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर मूर ने तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों के विरुद्ध भी वही मूल आपत्ति उठाई है जो उन्होंने प्रकृतिवादी सिद्धांतों के विरुद्ध उठाई थी और जिस पर हम पिछले दो अध्यायों में सविस्तार विचार कर चुके हैं। प्रकृतिवादी सिद्धांतों श्री भांति तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों के विरुद्ध अपनी इसी आपत्ति को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "यह मानना कि 'सत्ता का स्वरूप इस प्रकार का है' ऐसे कथन से हम 'यह अपने आप में शुभ है' इस कथन का अनुमान कर सकते हैं प्रकृत्तिवादी दोष संबंधी मूल करना है। जो व्यक्ति तत्त्वमीमांसीय शब्दों द्वारा उच्चतम शुभ की परिभाषा करते हैं वे सभी या तो परोक्ष रूप से यह मानते है अथवा स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि यथार्थ सत्ता का ज्ञान किन्हीं वस्तुओं को शुभ मानने का कारण है। यह मत

इस मान्यता में निहित है कि नीति– शास्त्र तत्त्वमीमांसा पर आधारित होना चाहिए। ऐसे कथन में प्रकृतिवादी दोष पाया जाता है। यह इस तथ्य को न समझने का परिणाम है कि ऐसा सत्य जिसमें यह कहा जाता है कि 'यह अपने आप में शुभ है' पूर्णतः अद्वितीय है – इसकी परिभाषा सत्ता के विषय में किसी कथन द्वारा नहीं की जा सकती और इसलिए सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में हम जिन निष्कों पर पहुंचते हैं उनसे यह निश्चय ही अग्नभावित रहता है। नैतिक सत्यों के अद्वितीय स्वरूप के विषय में मह भति उन सभी नैतिक सिद्धांतों में पाई जाती है जिन्हें मैंने तत्त्वमीमांसीय कहा है। यह स्पष्ट है कि यदि इस प्रकार की भ्रांति न होती तो कोई भी व्यक्ति सुदिनीमांसीय शब्दों द्वारा उच्चतम शुभ की व्याख्या करना उचित न मानता।

इस प्रकार मूर यह निश्चित रूप से मानते हैं कि प्रकृतिवादी सिद्धांतों की भांति तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों में भी प्रकृतिवादी दोष अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। परन्तु, जैसा कि हम दूसरे अध्याय में बता चुके हैं, अलौकिक या अतीद्रिय सत्ता सम्बन्धी तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों को अनुभवाश्रित प्रकृतिवादी सिद्धांतों के समान ही मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। इन दोनों प्रकार के सिद्धांतों के विषय में हमने अभी तक जो कुछ कहा है उससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि इनके स्वरूप तथा इनकी आधारभूत मान्यताओं में पर्याप्त अंतर है। यही कारण है कि प्रकृतिवादी सिद्धांतों के समर्थक तत्त्वमीमां– सीय सिद्धांतों को और तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों के समर्थक प्रकृतिवादी सिद्धांतों को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों प्रकार के सिद्धांतों में एक ही प्रकृतिवादी दोष के विद्यमान होने की बात करना तर्कसंकत प्रतीत नहीं होता । वस्तुतः इस दृष्टि से मूर द्वारा किया गया 'प्रकृतिवादी' शब्द का प्रयोग निश्चय ही भ्रामक है। इसी कारण प्रकृ तिवादी और तत्त्वमीमांसीय इन दोनों प्रकार के सिद्धांतों का खंडन करने के लिए उन्होंने 'प्रकृतिवादी' शब्द की जो अत्यधिक व्यापक व्याख्या की है उसका तर्कसंगत रूप से समर्थन करना बहुत कठिन है।

4.3.4 मूल्यांकन

अलौकिक या अतींद्रिय सत्ता संबंधी सिद्धांतों की आधारभूत मान्यताओं तथा इन सिद्धांतों के कुछ प्रमुख समर्थकों के मत का विवेचन करने के पश्चात् अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या की दृष्टि से ये सिद्धांत कहां तक उचित एवं संतोषप्रद हैं। जैसा कि हम पिछले खंडों में बता चुके हैं, ये अलौकिक या अतीद्रिय सत्ता संबंधी सिद्धांत दो प्रकार के हैं– धर्मशास्त्रीय सिद्धांत तथा तत्वमीमांसीय सिद्धांत । प्रस्तुत खंड में हम क्रमशः इन दोनों प्रकार के सिद्धांतों की कुछ मुख्य समस्याओं अथवा कठिनाइयों पर विचार करेंगे। इन सिद्धांतों के पक्ष में शायद यह कहा जा सकता है कि इनके समर्थक नैतिक निर्णयों को किसी व्यक्ति या समुदाय की मनोदशाओं पर आरधारित न मानकर इन निर्णयों की वस्तुनिष्ठता को स्वीकार करते हैं। हम देख चुके हैं कि इन सिद्धांतों के समर्थक ईश्वर, आत्मा आदि अलौकिक सत्ताओं के आधार पर नैतिक निर्णयों वस्तुनिष्ठता बनी रहती है। परन्तु यह वस्तुनिष्ठता तभी संभव है जब उक्त अलौकिक सत्ताओं के अस्तित्व को निविवाद रूप से प्रमाणित किया जा सके और ऐसा करना निश्चय ही दार्शनिक दृष्टि से संभव नहीं है। इस प्रकार नैतिक निर्णयों की उक्त वस्तुनिष्ठता का कोई महत्व नहीं रह जाता । वास्तव में इन सिद्धांतों को अंशतः सत्य मानना भी बहुत कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि ये सिद्धांत नैतिकता और नैतिक निर्णयों को मानवीय अनुभव तथा तर्कवृद्धि पर आधारित न मानकर कुछ कल्पित अतींद्रिय सत्ताओं पर ही आधारित मानते हैं जिनका अस्तित्व अत्यंत संदिग्ध एवं विवादास्पद है। अब हम धर्म– शास्त्रीय और तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों की कुछ प्रमुख कठिनाइयों पर अलग– अलग विचार करेंगे।

धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के विरुद्ध बहुत–सी गम्भीर आपत्तियां उठाई जा सकती हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं –

(1) जैसा कि धर्मधास्त्रीय सिद्धांत के स्वरूप से स्पष्ट है, यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि ईश्वर का अस्तित्व है और वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा शुभ है।

परन्तु यह सर्वविदित तथ्य है कि इस मान्यता को तार्किक दृष्टि से सत्य प्रमाणित करना संभव नहीं है। ईश्वर की सत्ता और उसके विशेष स्वरूप को प्रमाणित करने के लिए अभी तक जो युक्तियां दी गई हैं वे सभी दोषपूर्ण होने के कारण अत्यंत दुर्बल तथा अविश्वसनीय सिद्ध हुई हैं । इन युक्तियों द्वारा कोई भी ईश्वरवादी दार्शनिक निर्विवाद रूप से ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में सफल नहीं हो सका । ऐसी स्थिति में धर्म– शास्त्रीय नैतिक सिद्धांत का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। यदि ईश्वर की सत्ता ही संदिग्ध तथा विवादास्पद है तो उसकी इच्छा अथवा आज्ञा के आधार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या का संपूर्ण प्रयास स्वतः निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय सिद्धांत एक ऐसी मान्यता पर निर्भर है जिसका कोई तर्कसंगत आधार नहीं है।

(2) परन्तु यदि उपर्युक्त आधारभूत कठिनाई पर ध्यान न देते हुए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थकों के समक्ष ऐसे अनेक जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका वे कोई सन्तोषप्रद और तर्कसंगत उत्तर नहीं दे पाते। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि हमें ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है और इस ज्ञान की प्रमाणिकता का आधार क्या है। हम यह कैसे जान सकते हैं कि किसी विशेष कर्म के विषय में ईश्वर की इच्छा या आज्ञा क्या है ? यदि इस उनके इस तीव्र मतभेद का निराकरण करने के लिए हमारे पास कोई विश्वस– संबंध में दो या दो से अधिक व्यक्तियों के परस्पर विरोधी विचार हों तो क्या नीव और तर्कसंगत आधार है? फिर यदि हम ईश्वर की इच्छा को ठीक–ठीक जान लें तो भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि हमें उसकी इच्छा के अनु– सार आचरण क्यों करना चाहिए ? क्या ईश्वरीय दंड के भय अथवा पुरस्कार के प्रलोभन से प्रेरित होकर हमें ऐसा करना चाहिए ? क्या ऐसी बाह्य अभि– प्रेरणाओं पर आधारित नैतिकता को वास्तव में 'नैतिकता' की संज्ञा दी जा सकती है ?

जहां तक मुझे ज्ञात है, धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थकों ने उपर्युक्त महत्वपूर्ण प्रश्नों का कोई संतोषजनक और युक्तिसंगत उत्तर नहीं दिया। हम देख चुके हैं कि उनके

मतानुसार ईश्वर की इच्छा को हम श्रुति के माध्यम से ही जान सकते है जो उसकी कृपा के फलस्वरूप कुछ महान संतों को प्राप्त होती है। परन्तु यहां कठिनाई यह है कि इस श्रुति की प्रामाणिकता के विषय में निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। जीवन और जगत् के संबंध में ये महान संत जो विचार व्यक्त करते हैं वे उनके अपने व्यक्तिगत विचार हैं अथवा श्रुति के माध्यम से प्राप्त ईश्वर के विचार–इस बात का निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय उपाय या विधि नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह जानना असंभव हो जाता है कि किसी कर्म के विषय में ईश्वर की इच्छा या आज्ञा क्या है। यदि हम ईश्वर की इच्छा को जान ही नहीं सकते तो उसके अनुरूप आचरण करने तथा उसके आधार पर शुभ–अशुभ का निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता । परन्तु इस गम्भीर कठिनाई की उपेक्षा करते हुए यदि हम यह मान लें कि हम ईश्वर की इच्छा को ठीक–ठीक जान सकते हैं तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमें अनिवार्यतः उसकी इच्छा के अनुसार आचरण करना चाहिए। अधिकतर दार्श निक यह मानते हैं कि सच्ची नैतिकता वही है जिसका अन्तिम आधार कोई बाह्य शक्ति न होकर मनुष्य का अपना अन्तविवेक ही है। परंतु धर्मशास्त्रीय सिद्धांत नैतिकता को ईश्वर की इच्छा पर आधारित मानकर उसके विषय में इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करता है। इस सिद्धांत में मनुष्य के अंतविवेक के लिए कोई स्थान नहीं है जो वास्तव में नैतिकता का अनिवार्य मूल स्रोत है।

(3) प्रकृतिवादियों की भांति धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थक भी स्वतंत्र विक्षा के रूप में नीतिशास्त्र के अस्तित्व का स्थितिर नहीं करते। हम देख चुके हैं कि वे नीतिशास्त्र को एक पृथक और स्वतंत्र विधा न मानकर धर्म– शास्त्र का ही अभिन्न अंग मानते हैं। परंतु उनके इस मत का समर्थन करना संभव नहीं है, क्योंकि यह मनुष्य के नैतिक अनुभव के स्वतंत्र अस्तित्व को समाप्त कर देता में उसको धानिक अनुभव से पृथक् नहीं है। नीतिया का नैतिक अनुभव व पर ही निर्भर है।

और ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा से पृथक् नैतिकता का कोई अस्तित्व नहीं है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करता इसके लिए नैतिक अनुभव प्राप्त करना और नैतिकता के अनुरूप आचरण करना संभव नहीं है। परंतु मनुष्य के नैतिक अनुभव और नैतिकता के विषय में धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थकों के उक्त निष्कर्ष उचित एवं युक्तिसंगत रही हैं। वस्तुतः ईश्वर विषयक विश्वास से नैतिकता का कोई अनिवार्य संबंध नहीं है; ईश्वर में विश्वास किए बिना भी मनुष्य नैतिक दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट जीवन व्यतीत कर सकता है। गौतम बुद्ध, वृहस्पति, कपिल, डेविड, सहा. म, बरट्रेड रसल, जिया पाल सार्त्र आदि महान निरीश्वरवादी विचारकों का बीवन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। इन विचारकों के आचरण से यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर सम्बन्धी विश्वास नैतिकता का आधार नहीं है। वास्तव में हमारा नैतिक अनुभव धार्मिक अनुभव से मूलतः भिन्न होता है, अतः इन दोनों प्रकार के अनुभवों को एक ही मान लेना धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थकों की बहुत बड़ी भूल है। नैतिक दर्शन का मुख्य कार्य मनुष्य के नैतिक अनुभव पर विचार करना है, उसके धार्मिक अनुभव पर नहीं। अपना यह कार्य यह ईश्वर विषयक विश्वास को स्वीकार किए बिना भी भली–भांति संपन्न कर सकता है। नैतिक शब्दों, प्रत्ययों अथवा अवधारणाओं के अर्थ को समझने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम ईश्वर की सत्ता में विश्वास करें। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थकों की यह आधारभूत मान्यता उचित एवं तर्क– संगत प्रतीत नहीं होती कि नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र का ही अभिन्न अंग है और हेमारा नैतिक अनुभव धार्मिक अनुभव से पृथक् तथा स्वतंत्र नहीं है ।

(4) हम देख चुके हैं कि धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थकों के मतानुसार मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि द्वारा नैतिक सत्यों का ज्ञान प्राप्त करने में नितांत असमर्थ है। अपनी इसी मान्यता के कारण उन्होंने समस्त नैतिक सिद्धांतों और नियमों को पूर्णतः सापेक्ष माना है। परंतु कठिनाई यह है कि वे स्वयं सर मानते हैं जिससे उनके सापेक्षवाद का उल्लंघन होता है और उनके शाने धर्मशास्त्रीय सिद्धांत तथा श्रुति पर आधारित

नीतिशास्त्र को पूर्णतया दिवारों में स्पष्टतः विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है। यदि मनुष्य की तर्क– बुद्धि शाश्वत और अन्तिम सत्यों को ग्रहण करने में असमर्थ है तो अन्य नैतिक सिद्धांतों की भांति धर्मशास्त्रीय सिद्धांत को भी केवल सापेक्ष ही माना जा भरता है। परन्तु बार्थ, ब्र नर आदि दार्शनिक अपने सिद्धांत को असंदिग्ध रूप सत्य मानकर इस तथ्य की पूर्णतः उपेक्षा करते हैं। यह सत्य है कि मनुष्य की तर्कवृद्धि की अनिवार्य सीमाएं हैं, किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने ज्ञान और चिंतन की प्रामाणिकता के लिए वह अन्ततः इसी तर्कबुद्धि पर निर्भर है। अपने सिद्धांत की सत्यता के समर्थन में तर्क देकर और इन तकों को पूर्णतः विश्वसनीय मान कर घर्भशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थकों ने भी स्वयं इसी तथ्य की पुष्टि की है। इस प्रकार असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति में मनुष्य को नितांत असमर्थ मानते हुए भी स्वयं अपने सिद्धांत को पूर्णतः सत्य मानने के कारण बार्थ, ब्रूनर आदि धर्मशास्त्रियों के विचारों में गम्भीर असंगति आ गई है जो उनके सिद्धांत को बहुत दुर्बल बना देती है। यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि धर्म परायण व्यक्ति तो नैतिक नियमों को श्रुति पर आधारित मानने के कारण निरपेक्ष मान सकता है, किंतु इन नियमों की विवेचना करने वाला दार्शनिक तर्कसंगत रूप से ऐसा नहीं कर सकता।

(5) धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थकों ने नैतिक निर्णयों के अर्थ की जो व्याख्या की है वह निश्चय ही उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। हम देख चुके हैं कि उनके अनुसार "अमुक कर्म शुभ या उचित है" का अर्थ यही है कि "वह कर्म ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के अनुरूप है"। परन्तु धर्मशास्त्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति नैतिक निर्णयों की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करता । जब कोई साधारण व्यक्ति किसी कर्म को शुभ या उचित कहता है तो सामान्यतः उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि वह कर्म ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के अनुसार है। यदि नैतिक निर्णयों का वही अर्थ स्वीकार कर लिया जाए जो बार्थ, ब्रूनर बादि धर्मशास्त्री बताते हैं तो निरीश्वरवादियों के लिए ये

निर्णय निश्चय ही निरर्थक हो जाते हैं। परन्तु, जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, नैतिक निर्णयों की सार्थकता का ईश्वर विषयक विश्वास से कोई संबंध नहीं है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर की इच्छा के आधार पर की गई नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या को स्वीकार कर लेने पर हमारे लिए यह कहना निरर्थक हो जाता है कि ईश्वर जो इच्छा करता है वह शुभ है। यदि "क शुभ हैं" बा अर्थ केवल यही है कि "ईश्वर 'क' की इच्छा करता है"– अर्थात यदि वे दोनों कथन एक दूसरे से भिन्न न होकर पूर्णतः समानार्थक या अभिन्न है–ओ इमार्बलतापूर्वक यह नहीं कह सकते कि कानार्थक क्योंकि ईश्वर के को समानार्थक अथवा अभिन्न होने के कारण हम केवल यही कहेंगे कि "ईश्वर समान करता है"। यदि हम ऐसा कहते हैं तो उस दोनों कथनों के पूर्णतः 'क' की इच्छा करता है, क्योंकि ईश्वर 'क' की इच्छा करता है। यह स्पष्ट है कि जब धर्मशास्त्री निश्वन ही इस प्रकार की महत्वहीन पुनरुक्ति प्रस्तुत करना नहीं होता। परन्तु यदि उसके सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो वे ऐसी महत्वहीन पुनरुक्तियों प्रस्तुत करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। वे इस कठिनाई से तभी बन सकते हैं जब वे यह स्वीकार करें कि "अमुक कर्म शुभ है" का अर्थ "ईश्वर अमुक कर्म की इच्छा करता है" से भिन्न है। इस अनिवार्य तथ्य को स्वीकार किए बिना वे सार्थक नैतिक कथनों का प्रयोग नहीं कर सकते । यह समझना कठिन नहीं है कि उपर्युक्त आपत्ति वस्तुतः उसी 'सार्थक प्रश्न सम्बन्धी तर्क' पर आधारित है जिसका प्रयोग मूर ने प्रकृतिवाद के विरुद्ध किया है और जिस पर हम पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। "क शुभ है, क्योंकि ईश्वर उसकी इच्छा करता है" यह कथन तभी सार्थक हो सकता है जव शुभ' का अर्थ 'ईश्वर की इच्छा' से भिन्न हो। इन दोनों को एक ही मान लेने पर उपयुक्त कथन निरर्थक पुनरुक्ति मात्र रह जाता है। स्पष्टतः इसका बर्ष यही है कि 'ईश्वर की इच्छा' के आधार पर 'शुभ' या 'उचित' की परि– शाषा नहीं की जा सकती । परन्तु बार्थ, ब्रूनर आदि धर्मशास्त्री इसी आधार पर इन नैतिक शब्दों की परिभाषा करते हैं। इसी कारण मूर यह कह सकते हेकि धर्मशास्त्रीय सिद्धांत में भी वही प्रकृतिवादी दोष विद्यमान है जो प्रकृ

तिवादी सिद्धांतों में पाया जाता है। इस सिद्धांत में यह प्रकृतिवादी दोष होया न हो, इतना निश्चित है कि ईश्वर की इच्छा अथवा आज्ञा के आधार पर 'शुभ', 'उचित' आदि नैतिक शब्दों की परिभाषा करना संभव नहीं है।

(6) हम देख चुके हैं कि धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थक ईश्वर की इच्छा को ही कर्मों के शुभ होने का एकमात्र आधार मानते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि उनकी इस मान्यता का कारण क्या है। क्या इसका कारण स्वयं ईश्वर का शुमत्व है– अर्थात् क्या ईश्वर का शुभ होना उसकी इच्छा को कर्मों ' शुभत्व का आधार बनाता है ? मेरे विचार में धर्मशास्त्रियों के लिए इस प्रश्न हा उत्तर 'हो' में देना अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि वे ईश्वर को अनि– हार्यतः शुभ ही मानते हैं। इसी आधार पर वे यह कहते हैं कि पूर्णतः शुभ ईश्वर विसको इच्छा करता है वही शुभ है। इसका अर्थ यह है कि स्वयं शुभ होने के शास्त्रियों के इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो इससे यही निष्कर्ष निकलता कारण ईस्वर ऐसी किसी वस्तु की इच्छा नहीं कर सकता जो अशुभ हो। यदि धर्मन है नहीं, अपितु उनका खाजो था। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर की इच्छा का कर्मों के शुभत्व से कोई अनिवार्य ही है। यदि ईश्वर होने का कार होता और वह ऐसे कर्मों की इच्छा करता जो असुर है तो ईस्वर स्वयं घुन न होता और वका आधार नहीं माना जा सवार्य संबंध नहीं है। ऐसी स्थिति में कर्मों के शुभ या अशुभ होने का निर्णय ईश्वर की इच्छा के आधार पर नहीं किया जा सकता। फिर यदि यह कहा जाए कि ईश्वर के शुभ होने के कारण ही उसकी इच्छा हमारे कर्मों के शुभत्व का आधार है तो शुभत्व की अवधारणा को ही नैतिकता का मूल आधार मानता पड़ेगा, ईश्वर की इच्छा को नहीं। परन्तु इस महत्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हुए वार्थ, ब्रूनर आदि धर्मशास्त्री ईश्वर की इच्छा को ही कर्मों के शुभत्व का एकमात्र अंतिम आधार मानते हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि स्वयं पूर्ण रूप से शुभ होने के कारण ईश्वर कभी भी अशुभ कर्मों की इच्छा नहीं कर सकता। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के समर्थक ईश्वर की इच्छा और उसके पूर्ण शुभत्व दोनों को ही समान रूप से नैतिकता का एकमात्र मूल आधार मान लेते हैं

जिसके फलस्वरूप उनके विचारों में गम्भीर असंगति उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः इन दार्शनिकों की मुख्य कठिनाई यह है कि ये नैतिकता को पूर्णतः शुभ ईश्वर के विश्वास पर ही आधारित मानते हैं जबकि यह विश्वास स्वयं शुभत्व की नैतिक अवधारणा पर आधारित है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि उक्त नैतिक अवधारणा के अभाव में हमारे लिए ईश्वर को शुभ कहना ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार शुभत्व की नैतिक अवधारणा– ईश्वर विषयक विश्वास से भिन्न ही नहीं, अपितु इस विश्वास का एकमात्र मूल आधार भी है। परंतु बार्थ, ब्रूनर आदि दार्शनिक इस महत्वपूर्ण तथ्य की पूर्णतः उपेक्षा करते हैं। धर्मशास्त्रीय सिद्धांत के विरुद्ध उपर्युक्त सभी आपत्तियों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह सिद्धांत नैतिकता और नैतिक निर्णयों की संतोषप्रद तथा युक्तिसंगत व्याख्या करने में असमर्थ है।

धर्मशास्त्रीय सिद्धांत की भांति तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों के विरुद्ध भी अनेक गंभीर आपत्तियां उठाई जा सकती हैं जिन पर यहां संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत दो प्रकार के हैं के तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि इसके समर्थक हमें के 'प्रकृति' संबंधी सिद्धांत तथा 'आत्मोपलब्धि सम्बन्धी सिद्धांत। प्रथम प्रकार 'प्रकृति' शब्द का स्पष्ट और ठीक–ठीक अर्थ नहीं बताते। वे इस शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में न करके एक विशेष तत्त्वमीमांसीय अर्थ में करते हैं जिसके अनुसार 'प्रकृति' अलौकिक अथवा अतींद्रिय सत्ता है। परन्तु 'प्रकृ ति' शब्द का यह अर्थ बहुत ही अस्पष्ट और विवादास्पद है, क्योंकि हमारे लिए यह जानना संभव नहीं है कि इस तथाकथित अलौकिक सत्ता का स्वरूप क्या है। 'प्रकृति' सम्बन्धी तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के समर्थक हमें इस अलौकिक सत्ता के स्वरूप के विषय में कुछ नहीं बताते। फिर यदि हम इस सत्ता के स्वरूप को जान लें तो भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि हमारे नैतिक आचरण के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। किसी अलौकिक सत्ता का ज्ञान हमारे लिए केवल तथ्यात्मक ज्ञान ही हो सकता है जिसके द्वारा हमारे नैतिक आचरण का प्रभा– वित होना अनिवार्य नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त सिद्धांत

के समर्थकों के इस कचन का अर्थ समझना बहुत कठिन है कि "प्रकृति के अनुरूप जीवन ही सर्वोत्तम है"। ऐसे अस्पष्ट कथन द्वारा हम निश्चय ही नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों की कोई संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते । संभवतः यही कारण है कि बहुत कम दार्शनिक 'प्रकृति' संबंधी तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत का समर्थन करते हैं। परन्तु जो दार्शनिक इस सिद्धांत के समर्थक हैं वे उपर्युक्त आपत्ति के उत्तर में शायद यह कह सकते हैं कि 'प्रकृति' शब्द से उनका तात्पर्य 'मानव–प्रकृति' या 'मानव– स्वभाव' से है। यदि वे ऐसा कहते हैं तो उनके सिद्धांत को 'तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'मानव–प्रकृति' कोई अलौकिक सत्ता नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'प्रकृति' संबंधी तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के समर्थक हमें नैतिकता के लिए कोई संतोषप्रद और युक्तिसंगत आधार प्रदान नहीं करता। 'आत्मोपलब्धि' सम्बन्धी तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के विरुद्ध भी इसी प्रकार की आपत्ति उठाई जा सकती है। इस सिद्धांत के समर्थक भी हमें स्पश्ट रूप से यह 128 कवह128ाते कि 'आत्मा' तथा 'आत्मोपलब्धि' का ठीक–ठीक अर्थ क्या है। हम देख चुके हैं 128 कवह 'आत्मा' को मनुश्य की समस्त अनुभवात्मक मनोदषाओं से पूर्णतः भिन्न एक तत्त्वमीमांसीय सत्ता मानते हैं। परन्तु वे इस सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कुछ 128 कवह128ाते । ऐसी स्थिति में 128 कवह 'आत्मोप– रुब्धि' या 'आत्मसिद्धि' की बात करते हैं तो हमारे लिए यह समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि इससे उनका वास्तविक तात्पर्य क्या है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है उससे हमें इस प्रश्न का कोई संतोशजनक उत्तर नहीं मिलता कि 'आत्मा' की उपलब्धि या सिद्धि से मनुश्य को क्या प्राप्त होता है और उसका मनुश्य के नैतिक आचरण के साथ क्या सम्बन्ध है। इस प्रष्न के समुचित उत्तर के अभाव में हमारे लिए यह जानना संभव नहीं है कि "जो कर्म आत्मोपलब्धि में सहायक है वही षुभ या उचित है" इस कथन का ठीक–ठीक अर्थ क्या है। फिर यदि हम इस कथन का ठीक–ठीक अर्थ जान लें तो भी इसे नैतिक निर्णयों की व्याख्या का आधार नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि जब कोई साधारण व्यक्ति किसी कर्म को षुभ या उचित

कहता है तो सामान्यतः इससे उसका तात्पर्य यह नहीं होता 129 कवह कर्म आत्मोपलब्धि में सहायक है। इससे स्पश्ट है कि केवल 'आत्मोपलब्धि' के आधार पर नैतिक षब्दों की परिभाशा नहीं की जा सकती। यही आपत्ति 'प्रकृति' संबंधी तत्व मीमांसीय सिद्धांत के विरुद्ध भी उठाई जा सकती है। हम 'प्रकृति' के आधार पर नैतिक षब्दों की परिभाशा नहीं कर सकते। इस प्रकार निश्कर्श के रूप में यह कहा जा सकता है कि धर्मषास्त्रीय सिद्धांत की भांति उपयुक्त दोनों प्रकार के तत्त्वमीमांसीय सिद्धांतों द्वारा भी हमारे लिए नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों की समुचित और युक्तिसंगत व्याख्या करना संभव नहीं है।

4.4 सारांश

4.5 शब्दार्थ सूची

अतींद्रीय – अलौकिक

अभिवृत्ति – संवेग

आत्मोप्लब्धि – स्वयं को जानना

तर्क –

श्रुति –

अनुग्रह –

प्रतिकूल –

दिक् काल –

प्रवचन –

4.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें

1. विलियम पैले, दि प्रिंसिपल ऑफ मॉरल एण्ड पॉलिटिकल फिलॉसफी।
2. कार्ल बार्थ, 'दि डॉक्ट्रिन ऑफ दि वर्ड ऑफ गॉड।

3. कार्ल बार्थ, 'दि वर्ड ऑफ गॉडएण्ड दि वर्ड ऑफ मैन।
4. ऐमिल ब्रूनर, 'दि डिवाइन इम्पैरेटिव'।
5. ऐमिल ब्रूनर, जस्टिस ऐंड दि सोशल आर्डर।
6. ऐमिल ब्रूनर, 'दि नेचर एण्ड डिस्टनी ऑफ मैन।
7. रीनोल्ड नीबूर, 'ऐन इण्टरप्रेटेश्न ऑफ क्रिश्चिसन एथिक्स।
8. रीनोल्ड नीबूर, दि नेचर ऐंड डेस्टिनी ऑफ मैन',
9. जी. ई. मूर, 'प्रिंसिपिया ऐथिका'।
10. जे. एच. म्यूरहेड, 'दि ऐलिमैंट्स प्रॉफ ऐथिक्स'।

4.7 बोध प्रश्न

1. निर्देशत्मक सिद्धांत से आप क्या समझते है?
2. निर्प्राकृतिक गुण और संबंध का ठीक–ठीक अर्थ क्या हैं?
3. निर्प्रकृतिवादी निर्प्राकृतिक गुण और संबंध का किस संबंध में प्रयोग करते हैं?
4. अन्तःप्रज्ञा के स्वरूप तथा सीमा के पिषय में निर्प्रकृतिवादी प्रकृतिवाद के सिद्धांत से किस प्रकार भिन्न हैं?
5. मूर के 'सरल गुण' शब्द से आप क्या समझते हैं?
6. सार्थक प्रश्न संबंधी तर्क से क्या तात्पर्य है?
7. प्रिचर्ड के अनुसार मूल कर्त्तव्य कौन कौन से हैं?
8. रॉस के नैतिक उपयुक्तता के सिद्धांत का अर्थ समझाइए?
9. रॉस के प्रदत्त मूल कर्त्तव्यों की सूची क्या हैं?

दीर्घ उत्तरीय :

1. निर्प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यताओं का वर्णन करें।
2. प्रकृतिवाद और निर्प्रकृतिवाद के समानताओं और भिन्नताओं को विवेचित कीजिए।
3. शुभ अपरिभाष्य है, संबंधी मूर के मत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

4. प्रकृतिवादी दोष क्या है? इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थकों के विचारों और उनके सामान्य मत को समझाइए।
5. मूर द्वारा उचित, कर्त्तव्य और सद्‌गुण के अर्थ स्थापना की व्याख्या कीजिए?
6. प्रिचर्ड के कर्त्तव्य पालन संबंधी विचारों का विश्लेषण कीजिए?
6. रॉस द्वारा प्रस्तुत शुभ और उचित की व्याख्या का आलोचनात्म्क विश्लेषण कीजिए।
7. निर्प्रकृतिवाद के गुण–दोषों का मूल्यांकन कीजिए।

खण्ड–03

संवेगवाद

खण्ड संरचना :

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

5.3.1 आधारभूत मान्यताएं

5.3.2 उदय और विकास

5.3.3 रुडोल्फ कार्नेप

5.3.4 ए. जे. एयर

5.3.5 सी. एल. स्टीवेंसन

5.3.6 पॉल एडवर्ड्स

5.3.7 मूल्यांकन

3.4 सारांश

3.5 शब्दार्थ सूची

3.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें

3.7 बोध प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- संवेगवाद की आधारभूत मान्यताओं को जानने में।
- संवेगवाद की उदय और विकास को जानने में।
- रुडोल्फ कार्नेप के विचारों को जानने में।
- ए. जे. एयर के विचारों को जानने में।
- सी. एल. स्टीवेंसन और पॉल एडवर्ड्स के विचारों को जानने में।
- संवेगवाद के मूल्यांकन को समझने में।

5.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

5.3.1 आधारभूत मान्यताएं

पिछले तीन अध्यायों में हम नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप और प्रमाणी–करण के विषय में कुछ प्रमुख संज्ञानात्मक सिद्धांतों का विवेचन कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि ये सभी सिद्धांत नैतिक निर्णयों को मूलतः संज्ञानात्मक अथवा तथ्यात्मक कथन ही मानते हैं जिनके द्वारा हमें विशेष प्रकार का नैतिक ज्ञान प्राप्त होता है और जिन्हें कुछ तर्कों द्वारा सत्य या मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है। इसका अर्थ यही है कि इन सिद्धांतों के समर्थकों के अनुसार नैतिक निर्णयों का मुख्य कार्य किन्हीं विशेष तथ्यों अथवा प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुणों या सम्बन्धों का वर्णन करना है। इन संज्ञानात्मक सिद्धांतों के विरुद्ध उठाई जाने वाली प्रमुख आपत्तियों पर भी हम विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं जिनके कारण ये सिद्धांत

नैतिक निर्णयों की युक्ति संगत एवं संतोषप्रद व्याल्या नहीं कर पाते। संज्ञानात्मक सिद्धांतों की इस असफलता को ध्यान में रखते हुए अनेक समकालीन दार्शनिकों ने कुछ ऐसे अधि–नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जिन्हें 'असंज्ञानात्मक सिद्धांत' अथवा 'अवर्णनात्मक सिद्धांत' कहा जाता है। संवेगवाद तथा परामर्शवाद ऐसे ही असंज्ञानात्मक सिद्धांत है। इन असंज्ञानात्मक सिद्धांतों का स्वरूप तथा इनकी मुख्य विशेषताएं क्या हैं और ये सिद्धांत संज्ञानात्मक सिद्धांतों से किस प्रकार भिन्न हैं– इन प्रश्नों पर हम दूसरे अध्याय में विचार कर चुके हैं। यहां इन असंज्ञानात्मक सिद्धांतों की उक्त विशेषताओं की पुनरावृत्ति न करते हुए संक्षेप में इतना कह देना ही पर्याप्त है कि इन सिद्धांतों के अनुसार नैतिक निर्णय सभी प्रकार के तथ्यात्मक कथनों से भिन्न, मुख्यतः असंज्ञानात्मक या अवर्णनात्मक होते हैं और इसी कारण इन्हें सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसका अनिवार्य परिणाम यह है कि इन (सिद्धांतों के समर्थकों के विचार में नैतिक निर्णयों द्वारा हमारे लिए किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। कि इन सिद्धांतों को यही कारण है 'असंज्ञानात्मक सिद्धांत' कहा जाता है) है) समकालीन नैतिक दर्शन में इन असंज्ञानात्मक सिद्धांतों के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए हम प्रस्तुत अध्याय में संवेगवाद पर और अगले अध्याय में परामर्शवाद पर विचार करेंगे।

जैसा कि हम दूसरे अध्याय में बता चुके हैं, संवेगवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य वक्ता के संवेगों अथवा उसकी भावनाओं या अभि–वृत्तियों को व्यक्त करना और अन्य व्यक्तियों में इन्हीं संवेगों, भावनाओं या अभिवृत्तियों को उत्पन्न करना है। जब हम नैतिक निर्णय देते हैं तो हम निर्णीत वस्तु के विषय में अपने इस निर्णय द्वारा किसी विशेष संवेग, भावना या अभिवृत्ति को व्यक्त करते हैं और दूस्रों में इसी संवेग, भावना अथवा अभिवृत्ति को जागृत करने का प्रयास करते

हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "किसी निर्दोष मनुष्य की हत्या करना अनुचित है" तो अपने इस कथन द्वारा हम हत्या के सम्बन्ध में अननुमोदन की भावना व्यक्त करते हैं और अन्य व्यक्तियों में भी अननुमोदन की इसी भावना को उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि "सत्य बोलना उचित है" तो हम अपने इस कथन द्वारा सत्य बोलने के प्रति अनुमोदन की भावना अभिव्यक्त करते हैं और दूनरों में भी इसी अनुमोदन की भावना को उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। अन्य सभी नैतिक निर्णयों की व्याख्या भी इसी आधार पर की जा सकती है। जैसाकि ऊपर दिए गए उदाहरणों से स्पष्ट है, संवेगवाद के अनुसार नैतिक निर्णयों के दो प्रमुख कार्य हैं – वक्ता की कुछ विशेष भावनाओं को अभिव्यक्त करना और दूसरों में इन भावनाओं को उत्पन्न करना। यह समझना कठिन नहीं है कि नैतिक निर्णयों के उक्त दोनों कार्य संवेगात्मक अथवा भावनात्मक ही हैं, जिनके द्वारा ये निर्णय स्वयं हमारे अपने तथा अन्य व्यक्तियों के आचरण को प्रभावित करते हैं। इन निर्णयों के सम्बन्ध में वक्ता और श्रोता दोनों ही निर्णीत वस्तु के प्रति कभी भी पूर्णतः तटस्थ या उदासीन नहीं रह सकते। इसका कारण यह है कि 'शुभ', 'उचित', 'कर्त्तव्य' आदि सभी नैतिक शब्द मुख्यतः संवेगात्मक होते हैं और ये हमारे आचरण पर कुछ प्रभाव अवश्य डालते हैं। इस प्रकार संवेगवाद की प्रथम आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक निर्णय मुख्यतः संवेगात्मक अथवा भावनात्मक होते हैं और यह संवेगात्मकता इन निर्णयों को अनिवार्य विशेषता है जो इन्हें सभी प्रकार के ताप्दमकता अनवा संज्ञानात्मक कथनों से पृथक करती है।

दूसरी आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक निर्णय किन्हीं तथ्यों, गुणों अथवा संवेगबाद की उपयुक्त मान्यता से अनिवार्यतः सम्बद्ध इस सिद्धांत की सम्बन्धों का वर्णन मात्र नहीं करते। मुख्यतः संवेगात्मक होने के कारण ये निर्णय

हमें केवल अनुभवात्मक या अतींद्रिय किसी प्रकार के तथ्यों की जानकारी प्रदान नहीं करते, अतः इन्हें वर्णनात्मक अथवा संज्ञानात्मक ही नहीं माना जा सकता। अपनी इसी मान्यता के आधार पर संवेगवादियों ने प्रकृतिवाद, निर्प्रकृतिवाद आदि सभी संज्ञानात्मक सिद्धांतों का खंडन किया है। उनका कथन है कि इन सिद्धांतों के समर्थक नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक अर्थवा संज्ञानात्मक मानकर इन निर्णयों की अनिवार्य मूल विशेषता – अर्थात् संवेगात्मकता की उपेक्षा करते हैं। मुख्यतः इसी कारण उनके द्वारा की गई नैतिक निर्णयों की व्याख्या दोषपूर्ण तथा असंतोषप्रद हो जाती है। संवेगवादियों के मतानुसार संज्ञानवादियों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे नैतिक शब्दों को प्राकृतिक गुणों अथवा संबंधों का बोध कराने वाले वर्णनात्मक शब्द मान लेते हैं। वास्तव में इन नैतिक शब्दों का मुख्य कार्य किसी प्रकार के गुणों या सम्बन्धों का बोध कराना नहीं, अपितु संवेगों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना है। नैतिक शब्दों की यह संवेगात्मकता ही उन्हें सभी प्रकार के तथ्यात्मक शब्दों से पृथक करती है और इसी संवेगात्मकता के कारण हम उन कथनों को 'नैतिक निर्णय' कहते हैं जिनमें इन नैतिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस संवेगात्मकता के अभाव में कोई कथन केवल तथ्यात्मक कथन ही हो सकता है, 'नैतिक निर्णय' नहीं । तथ्यात्मक कथनों के विपरीत नैतिक निर्णय अनिवार्यतः हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं; वे हमें केवल तथ्यपरक ज्ञान प्रदान नहीं करते। यही कारण है कि नैतिक निर्णय सत्य अथवा मिथ्या नहीं हो सकते; वे केवल हमारे आचरण को प्रभावित करने में सफल या असफल हो सकते हैं। इस प्रकार संज्ञानवादियों के विपरीत संवेगवादी नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक न मानकर मुख्यतः संवेगात्मक ही मानते हैं और इसी कारण वे वस्तुनिष्ठ नैतिक ज्ञान की संभावना को भी अस्वीकार करते हैं।

संवेगबाद की तीसरी मुख्य आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक निर्णय संबैगात्मक होने के साथ–साथ अनिवार्यतः आज्ञात्मक अथवा अभिप्रेरक भी होते हैं। जब हम नैतिक निर्णय देते हैं तो हम इन निर्णयों द्वारा स्वयं अपने आपको अथवा दूसरों को कुछ विशेष कर्म करने या न करने के लिए अभिप्रेरित करते हैं। इसका अर्थ यह है कि स्वयं निर्णयकर्ता अथवा अन्य व्यक्तियों के आचरण को विशेष प्रकार से प्रभावित करना नैतिक निर्णयों की अनिवार्य विशेषता है जो उन्हें तथ्यात्मक कथनों से पृथक करती है। नैतिक निर्णयों की इसी विशेषता को एक प्रमुख संवेगवादी सी० एल० स्टीवंसन ने इन निर्णयों का 'गत्यात्मक सक्षण' कहा है जिससे उनका तात्यये यह है कि ये निर्णय वक्ता अथवा श्रोता को किसी विशे जिससे उनका तात्यर्य यह है कि लिए गतिशील या प्रेरित करते हैं। स्टोल्क कानॅप, ए० ज० का आजादि अन्य संवेगवादियों ने भी नैतिक निर्णयों की इसी विशेषता को स्वीकार करते हुए उन्हें आज्ञः ओ अथवा आदेशों के समान माना नहीं करते, अतः इन्हें वर्णनात्मक अथवा संज्ञानात्मक ही नहीं माना जा सकता। अपनी इसी मान्यता के आधार पर संवेगवादियों ने प्रकृतिवाद, निर्प्रकृतिवाद आदि सभी संज्ञानात्मक सिद्धांतों का खंडन किया है। उनका कथन है कि इन सिद्धांतों के समर्थक नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक अर्थवा संज्ञानात्मक मानकर इन निर्णयों की अनिवार्य मूल विशेषता – अर्थात् संवेगात्मकता की उपेक्षा करते हैं। मुख्यतः इसी कारण उनके द्वारा की गई नैतिक निर्णयों की व्याख्या दोषपूर्ण तथा असंतोषप्रद हो जाती है। संवेगवादियों के मतानुसार संज्ञानवादियों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे नैतिक शब्दों को प्राकृतिक गुणों अथवा संबंधों का बोध कराने वाले वर्णनात्मक शब्द मान लेते हैं। वास्तव में इन नैतिक शब्दों का मुख्य कार्य किसी प्रकार के गुणों या सम्बन्धों का बोध कराना नहीं, अपितु संवेगों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना है। नैतिक शब्दों की यह संवेगात्मकता ही उन्हें सभी

प्रकार के तथ्यात्मक शब्दों से पृथक करती है और इसी संवेगात्मकता के कारण हम उन कथनों को 'नैतिक निर्णय' कहते हैं जिनमें इन नैतिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस संवेगात्मकता के अभाव में कोई कथन केवल तथ्यात्मक कथन ही हो सकता है, 'नैतिक निर्णय' नहीं । तथ्यात्मक कथनों के विपरीत नैतिक निर्णय अनिवार्यतः हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं; वे हमें केवल तथ्यपरक ज्ञान प्रदान नहीं करते। यही कारण है कि नैतिक निर्णय सत्य अथवा मिथ्या नहीं हो सकते; वे केवल हमारे आचरण को प्रभावित करने में सफल या असफल हो सकते हैं। इस प्रकार संज्ञानवादियों के विपरीत संवेगवादी नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक न मानकर मुख्यतः संवेगात्मक ही मानते हैं और इसी कारण वे वस्तुनिष्ठ नैतिक ज्ञान की संभावना को भी अस्वीकार करते है।

संवेगवाद की तीसरी मुख्य आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक निर्णय संबंगात्मक होने के साथ–साथ अनिवार्यतः आज्ञात्मक अथवा अभिप्रेरक भी होते हैं। जब हम नैतिक निर्णय देते हैं तो हम इन निर्णयों द्वारा स्वयं अपने आपको अथवा दूसरों को कुछ विशेष कर्म करने या न करने के लिए अभिप्रेरित करते है। इसका अर्थ यह है कि स्वयं निर्णयकर्ता अथवा अन्य व्यक्तियों के आचरण को विशेष प्रकार से प्रभावित करना नैतिक निर्णयों की अनिवार्य विशेषता है जो उन्हें तथ्यात्मक कथनों से पृथक करती है। नैतिक निर्णयों की इसी विशेषता को एक प्रमुख संवेगवादी सी० एल० स्टीवैसन ने इन निर्णयों का 'गत्यात्मक लक्षण' कहा है जिससे उनका तात्यर्य यह है कि ये निर्णय वक्ता अथवा श्रोता को किसी विशेष प्रकार का आचरण करने के लिए गतिशील या प्रेरित करते हैं। रुडोल्फ कानॅप, ए० जे० एयर आदि अन्य संवेगवादियों ने भी नैतिक निर्णयों की इसी विशेषता को स्वीकार करते हुए उन्हें आज्ञ ओं अथवा आदेशों के समान माना है। हम आगे देखेंगे कि इन दोनों दार्शनिकों के अनुसार नैतिक निर्णय संवेगात्मक अभिव्यक्तियां

होने के साथ–साथ प्रछन्न आदेश अथवा आज्ञाएं भी है। नैतिक निर्णयों की इस अनिवार्य विशेषता के कारण भी संवेगवादी उन सभी संज्ञानात्मक सिद्धांतों का खण्डन करते हैं जो इन निर्णयों को केवल तथ्यात्मक या वर्णनात्मक मानते हैं। संवेगवादियों का विचार है कि तथ्यात्मक कथनों के विपरीत नैतिक निर्णय हमारे मन में एक विशेष प्रकार का आचरण करने की प्रतिबद्धता उत्पन्न करते हैं। वास्तव में किसी नैतिक निर्णय को स्वीकार करने का अर्थ यह है कि हम उपयुक्त परिस्थितियों में अपनी सामर्थ्यानुसार यथासंभव उसके अनुरूप अवश्य आचरण करेंगे। यदि हम अपने किसी नैतिक निर्णय के अनुरूप आचरण करने का यथासंभव प्रयास नहीं करते तो इसका अर्थ यही है कि हमने उस निर्णय को वस्तुतः स्वीकार ही नहीं किया। उदाहरणार्थ यदि मैं यह मानता हूं कि अमुक कर्म अनुचित है तो मेरे लिए यह पूष्ठना कुछ विचित्र प्रतीत होता है कि क्या मैं वह कर्म करूं । इसी प्रकार यदि मैं यह स्वीकार करता हूं कि अमुक वस्तु शुभ है तो मेरे लिए यह प्रश्न करना विचित्र ही होगा कि क्या मैं उस वस्तु की उत्पत्ति और वृद्धि के लिए प्रयास करूं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि संवेगवादियों के मतानुसार तथ्यात्मक कथनों के विपरीत नैतिक निर्णयों का हमारे आचरण के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। परन्तु जैसाकि हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं, प्रकृतिवाद, निर्प्रकृतिवाद आदि संज्ञानात्मक सिद्धांतों के समर्थक नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक मानकर इन निर्णयों की उक्त अनिवार्य विशेषता की भी उपेक्षा करते हैं, अतः वे इनके अर्थ की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर दृष्टि से संवेगवाद को संज्ञानात्मक सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक संतोषजनक पाते। इस माना जा सकता है।

उपयुक्त आधारभूत मान्यताओं के अतिरिक्त संवेगवाद की चौथी प्रमुख आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में वस्तुनिष्ठ बौद्धिक वर्क

अथवा युक्तियां प्रस्तुत करना संभव नहीं है। हम केवल उन्हीं कथनों का वस्तुनिष्ठ तर्कों द्वारा समर्थन या खंडन कर सकते हैं जो हमें किसी प्रकार का निर्णयों का उद्देश्य हमें तथ्यपरक ज्ञान प्रदान करना नहीं है। संज्ञानात्मक कथनों हैं। है, स्थिति में इन नैतिक निर्णयों का समर्थन या खण्डन करने के लिए किसी प्रकार के वस्तुनिष्ठ तर्क देने का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में ये निर्णय वस्तुनिष्ठ रूप से सत्य अथवा मिथ्या होने के स्थान पर केवल प्रभावोत्पादक या प्रभावहीन हो सकते हैं। यही कारण है कि इन नैतिक निर्णयों की प्रभावशीलता की पुष्टि अन्य व्यक्तियों पर पड़ने वाले उस मनोवैज्ञानिक प्रभाव के आधार पर ही की जा सकती है जिसे उत्पन्न करना इनका मुख्य उद्देश्य होता है। इसका अर्थ यह है कि जो नैतिक निर्णय दूसरों पर वांछित प्रभाव डालने में सफल होता है वही उचित अथवा युक्तिसंगत निर्णय है। इस प्रकार संवेगवादियों–विशेषतः स्टीवेतन – के अनुसार केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव द्वारा ही नैतिक निर्णयों का समर्थन या खण्डन किया जा सकता है, वस्तुनिष्ठ तथ्यात्मक तर्कों द्वारा नहीं । हम आगे देखेंगे कि अधिकतर संवेगवादी अपनी इसी मान्यता के आधार पर नैतिक निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में वस्तुनिष्ठ बौद्धिक तर्कों अथवा युक्तियों की संभावना को अस्वीकार करते हैं।

ऊपर संवेगवाद की जिन आधारभूत मान्यताओं का उल्लेख किया गया है उनसे यह स्पष्ट है कि इस सिद्धांत के समर्थक भाषा के अर्थ से संबंधित उस निर्देगात्मक सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते जिसके आधार पर संज्ञानवादियों ने नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या की है। हम पिछले अध्यायों में देख चुके है कि प्रकृतिवाद, निर्प्रकृतिवाद आदि संज्ञानात्मक सिद्धान्तों के समर्थकों ने इसी निर्देशात्मक सिद्धांत के अनुसार सभी नैतिक शब्दों को कुछ प्राकृतिक अथवा निर्प्राकृतिक गुणों या सम्वन्धों का वोध कराने वाले शब्द ही माना है। परन्तु

संवेगवादियों का मत है कि यह निर्देशात्मक सिद्धांत अपूर्ण तथा एकांगी होने के कारण नैतिक भाषा के अर्थ की ठीक–ठीक व्याख्या करने में असमर्थ है। तथ्यात्मक शब्दों के विपरीत नैतिक शब्द वास्तव में संज्ञानात्मक तथा गुणबोधक न होकर मुख्यतः संवेगात्मक या भावनात्मक होते हैं, अतः हम्म निर्देशात्मक सिद्धांत के बाधार पर इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं कर सकते। अपनी इसी मान्यता को ध्यान में रखते हुए संवेगवादियों ने नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या करने के लिए निर्देशात्मक सिद्धांत के स्थान पर भाया के अर्थ से सम्बन्धित अन्य दो सिद्धांतों को स्वीकार किया है। ये दो सिद्धांत हैं सत्यापन सम्बन्धी सिद्धांत बऔर मनोवैज्ञानिक प्रभाव सम्बन्धी सिद्धांत। प्रथम सिद्धांत के अनुसार हम इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा कथनों के सत्यापन के आधार पर ही उनका अर्थ समझ सकते हैं। हम आगे देखेंगे कि कानेंप और एयर ने इसी सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णयों के जयं की व्याख्या की है। इस सिद्धांत के स्त्ररूप तथा इसके बाधार पर कुछ संवेगादियों द्वारा की गई नैतिक निर्णयों की व्याख्या पर हम अगले खण्ड में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे । इस सत्यापन–सिद्धांत के अतिरिक्त भाषा के अर्थ के विषय में मनोवैज्ञानिक सिद्धांत द्वारा भी कुछ संवेगबादियों ने नैतिक निर्णयों का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस संवेवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार किसी कथन का अर्थ वक्ता और श्रोता पर पड़ने वाले उसके मनोवैज्ञानिक प्रभाव में ही निहित रहता है। जब कोई व्यक्ति कुछ कहता है तो उसका उद्देश्य स्वयं अपने विचारों तथा संवेगों को अभिव्यक्त करना और अपने इस कथन द्वारा अन्य व्यक्तियों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रभावित करना ही होता है। यदि वह अपने इस उद्देश्य में सफल हो जाता है तो उसके कथन को सार्थक माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार किसी कथन की सार्थकता का निर्णय वक्ता और श्रोता पर पड़ने वाले उसके मनोवैज्ञानिक प्रभाव के आधार पर

ही किया जा सकता है। हम इस अध्याय के पांचवें खण्ड में देखेंगे कि स्टीवंसन ने इसी सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या की है। इस प्रकार संवेगवादी नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या के लिए भाषा के अर्थ से सम्बन्धित जिन दो सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं वे संज्ञानवादियों द्वारा मान्य निर्देशात्मक सिद्धांत से बहुत भिन्न हैं और यह महत्त्वपूर्ण तथ्य भी संवेगवाद को सभी संज्ञानात्मक सिद्धांतों से पृथक करता है।

5.3.2 उदय और विकास

समकालीन नैतिक दर्शन में इस संवेगवाद का उदय वर्तमान शताब्दी के चौथे दशक में तर्कीय प्रत्यक्षवाद के व्यापक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही हुआ। परंतु, जैसाकि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, संवेगवाद की कुछ प्रमुख आधारभूत मान्यताओं का पूर्वाभास हमें दो महान अनुभववादी दार्शनिकों बर्कले और ह्यूम के दर्शन में स्पष्टतः प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में हम भाषा के मुख्य उद्देश्यों के विषय में बर्कले के विचारों का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं जिनकी पुनरावृत्ति यहां अनावश्यक है। बर्कले के इन विचारों के अतिरिक्त ह्यूम के अनुभववादी दर्शन का भी संवेगवाद के िविकास में बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अपनी पुस्तक 'ए ट्रिटाइज़ आफ ह्य मन नेचर' के तीसरे भाग में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि नैतिक निर्णयों द्वारा हम निर्णीत वस्तुओं के विषय में कुछ न कहकर वास्तव में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं और अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। नैतिक निर्णयों के स्वरूप के संबंध में हह्य म के इन विचारों का उल्लेख हम तीसरे अध्याय में कर चुके हैं। हम आगे देखेंगे कि दो प्रमुख संवेगवादियों एयर और स्टीवैन्सन के संवेगात्मक सिद्धांत पर ह्य म के इन विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है

कि संवेगवाद का पूर्वाभास हमें बर्कले और रूम की अनुभववादी विचारधारा में प्राप्त होता है, अतः इस सिद्धान्त का मूत्र आधार यही विचारधारा है जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान शताब्दी में तर्कीय प्रत्यक्षवाद का उदय तथा विकास हुआ।

यह सत्य है कि एयर तथा स्टीवैन्सन संवेगवाद के प्रमुख प्रतिनिधि हैं, परन्तु उनके द्वारा इस सिद्धांत का विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन करने से पूर्व ही वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में कुछ दार्शनिकों ने इसका समर्थन करना आरम्भ कर दिया था। इन दार्शनिकों में सी० के० ऑग्डन और आई० ए० रिवस् के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 1923 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि मीनिंग आफ मीनिंग' में इन दोनों दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से संवेग– बाद की कुछ प्रमुख आधारभूत मान्यताओं की चर्चा की है और इस सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन किया है । उदाहरणार्थ 'शुभ' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह हमें किसी वस्तु के प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुण का बोध नहीं कराता अपितु उसके सम्बन्ध में हमारे अनुमोदन की भावना को अभिव्यक्त करता है और अन्य व्यक्तियों में इसी भावना को जागृत करता है। इसी कारण यह शब्द उन सभी वर्णनात्मक शब्दों से भिन्न प्रकार का है जो हमें किन्हीं तथ्यों अथवा गुणों का बोध कराते हैं। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए ऑग्डन और रिचड्स ने वर्णनात्मक तथा गुणबोधक शब्द 'लाल' के साथ 'शुभ' की तुलना की है। उनका कथन है कि जब हम किसी वस्तु को 'लाल' कहते हैं तो हम अनिवार्यतः उसके एक प्राकृतिक गुण का वर्णन करते हैं, किन्तु जब हम किसी वस्तु को 'शुभ' कहते हैं तो हम उसके गुण का वर्णन नहीं करते, क्योंकि 'शुम' शब्द 'लाल' शब्द की भांति वर्णनात्मक नहीं है। वर्णनात्मक शब्दों के विपरीत यह 'शुभ' शब्द वास्तव में संवेगात्मक है ।

अपनी उपयुक्त मान्यता के आधार पर ऑग्डन और रिश्वड्स ने 'शुभ' के विषय में मूर के मत का खंडन किया है। मूर के निर्प्रकृतिवाद के विरुद्ध संवेगात्मक सिद्धांत के अनुसार 'शुभ' के अर्थ की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है :– "यह कहा जाता है कि 'शुभ' एक अद्वितीय तथा अविश्लेष्य अव– धारणा है जो नीतिशास्त्र का विषय है। परन्तु जब 'शुभ' का इस प्रकार से प्रयोग किया जाता है तो यह शब्द किसी वस्तु का बोध नहीं कराता और इसका कोई अर्थ नहीं होता। उदाहरणार्थं जब हम इस शब्द का प्रयोग 'यह वस्तु इसके विपरीत जब हम यह कहते हैं कि 'यह वस्तु लाल है' तो इसके विषय में शुभ हैं इस वाक्य में करते हैं तो हम उस वस्तु की ओर संकेत करते हैं और 'लाल है' यह कहने से हमारे इस वाक्य के अर्थ में अवश्य ही विस्तार होता है– उसके संबंध में 'शुभ है' कहने से हमारे वाक्य के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता । वर्षात् हम इस वस्तु के एक विशेष गुण 'लालिमा' का वर्णन करते हैं। परन्तु है जो शुभ कही जाने वाली वस्तु के प्रति हमारी अभिवृत्ति को व्यक्त करता है सुम हैं का ऐसा कोई वर्णनात्मक कार्य नहीं है। यह केवल एक संवेगात्मक शब्द और शायद अन्य व्यक्तियों में इसी प्रकार की अभिवृत्तियों को जागृत करता है और पाउम्हें कुछ विशेष कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, उपर्युक्त उद्धरण में कार्नेप और एयर के संवेगात्मक सिद्धांत का स्पष्ट रूप से पूर्वाभास प्राप्त होता है। वस्तुतः समकालीन नैतिक दर्शन में सर्वप्रथम ऑग्डन और रिचर्ड्स ने ही नैतिक निर्णयों के संबंध में 'संवेगात्मक' शब्द का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त दोनों दार्शनिकों के अतिरिक्त कुछ अन्य दार्शनिकों ने भी कानेंप और एयर से पूर्व संवेगवाद के आधार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या की थी। इन दार्शनिकों में डब्ल्यू० एफ० एच० बारनेस तथा ए० ई० डंकनजोन्स के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐनालिसिस' नामक दर्शन विषयक पत्रिका के 1933–34 के

अंक में प्रकाशित अपने एक लेख, 'ए सजेशन अबाउट वैल्यू' में बारनेस कहते हैं कि हमारे मूल्यात्मक निर्णयों का उद्‌गम अनुमोदन, आनन्द तथा प्रेम की भावनाओं की अभिव्यक्तियों में ही खोजा जा सकता है। संवेगवाद का समर्थन करने के लिए उन्होंने व्यक्तिनिष्ठवाद तथा मूर के निर्प्रकृतिवाद का खंडन किया है। उनका कथन है कि नैतिक निर्णय वक्ता की भावनाओं का वर्णन नहीं, अपितु उन्हें अभिव्यक्त करते हैं। इसी प्रकार डंकनजोन्स ने भी नैतिक निर्णयों को वक्ता की भावनाओं की अभिव्यक्तियां मात्र मानकर संवेग– वाद का ही समर्थन किया है। उनका मत है कि जो वाक्य व्याकरण की दृष्टि से तथ्यात्मक प्रतीत होता है वह वास्तव में विस्मयबोधक अथवा श्रादेशात्मक हो सकता है। ऐसे वाक्य का प्रयोग वक्ता की किसी भावना को अभिव्यक्त करने तथा अन्य व्यक्तियों में इसी भावना को जागृत करने के लिए किया जा सकता है। डंकनजोन्स के विचार में नैतिक निर्णय इसी प्रकार के संवेगात्मक वाक्य हैं। 'प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि ऐरिस्टोटेलियन सोसाइटी' नामक दर्शन सम्बन्धी पत्रिका के 1933–34 के अंक में प्रकाशित अपने एक लेख, "इज 'गुडनेस' ए नेम ऑफ ए सिम्पल नॉन–नैचरले क्वालिटी" में सी० डी० ब्रोड ने नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में डंकनजोन्स के उपयुक्त विचारों का विस्तार से उल्लेख किया है। इस प्रकार उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कार्नेप और एयर से पूर्व ही वर्तमान शताब्दी के तीसरे तथा चौथे दशक में अनेक दार्शनिक नैतिक निर्णयों के संबंध में संवेगवाद का समर्थन करने लगे थे। यहां इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यह संवेगवाद वास्तव मैं तर्षीय प्रत्यक्षवार या अनुभववाद का आवश्यक है कि यस जिसका उदय इस शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में हुआ। मॉरिट्द्ध दिसक, स्वोत्क कानप, ए० जे० एयर आदि दार्शनिक इस तर्कीय प्रत्यक्षवाद के प्रमुख प्रणेता मूल आधार मानते थे, अतः वे विज्ञान को विशेष महत्व देते थे और ईश्वर, आत्मा आदि अतींद्रिय या अलौकिक

सत्ताओं से संबंधित तत्त्वमीमांसा तथा धर्मशास्त्र की सभी आधारभूत मान्यताओं को पूर्णतः अस्वीकार करते थे। इन मान्यताओं के विरुद्ध उनका मुख्य तर्क यही था कि मानवीय अनुभव द्वारा सिद्धाततः भी इनकी पुष्टि करना सन्भव नहीं है। इसी तर्क के आधार पर इन दार्शनिकों ने जीवन और जगत् के सम्बन्ध में तत्त्वमीमांसीय तथा धर्मशास्त्रीय चितनपरक सभी सिद्धान्तों का खंडन किया है। नैतिक निर्णयों के विषय में इन तर्षीय प्रत्यक्षवादियों ने जिस संवेगवाद का समर्थन किया है उसका आधार भी मानवीय ज्ञान के सम्बन्ध में उनका उपयुक्त अनुभववादी दृष्टिकोण ही है। इन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित सत्यापन–सिद्धांत – जिसे तर्कीय प्रत्यक्षवाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत माना जाता है– उनके इसी अनुभववादी दृष्टिकोण का अनिवार्य परिणाम है। इस सिद्धांत के अनुसार केवल वही कथन तथ्यबोषक अथवा तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकता है जिसे प्रत्यक्ष था परोक्ष रूप से कम से कम सिद्धांततः इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापित करना सम्भव हो । जिन कथनों को इस प्रकार सत्यापित नहीं किया जा सकता से तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हो सकते और इसी कारण ऐसे कथन सत्य बबवा मिथ्या भी नहीं हो सकते । इसका अर्थ यही है कि तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के अनुसार हमारे तथ्यात्मक ज्ञान का एकमात्र अंतिम आधार हमारा अनुभव ही है। जो कथन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारे अनुभव से संबंधित हैं अथवा हो सकते हैं और इसी कारण जो कम से कम सिद्धान्ततः सत्यापनीय हैं वे ही हमें जीवन तथा जगत के विषय में तथ्यपरक ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। ऐसे तथ्यात्मक कथनों को तर्षीय प्रत्यक्षवादियों ने 'संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियां' कहा है। पृथ्वी बोल है और सूर्य की परिक्रमा करती है", "पुस्तक मेज पर है"। प्रतिज्ञप्तियां हैं। सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों और अपने व्यावहारिक "गीता राम की पहन और सूबे की सर तथ्यात्मक कथन अथवा संश्लेषणात्मक कथनों को ही तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक

कथन मानते हैं। उनका मत है कि ये करते हैं जिनका कथन अनिवार्यतः सत्य तथा पूर्ण रूप से निश्चित न होकर केवल प्रायिक ही अरे पर हमें सम्यापरः ऐसे ही तथ्यात्मक ही होता है। तीय प्रत्यक्षवादी ऐसे होते हैं क्योंकि इन्हें भावी अनुभव द्वारा कभी भी मिच्या प्रमाणित किया जा सकता है।

तथ्यपरक ज्ञान से सम्बन्धित इन अनुभवात्मक कथनों के अतिरिक्त विश्लेषणात्मक कथनों को भी तर्कीय प्रत्यक्षवादियों ने पुनरुक्तियों के रूप में सार्थक कथन माना है। विश्लेषणात्मक कथन वे कथन हैं जिनकी सार्थकता भाषा के तार्किक नियमों तथा शब्दों की परिभाषाओं पर ही आधारित होती है। ये कथन पुनरुक्तियां मात्र होते हैं, अतः ये हमें जगत के विषय में कोई नवीन या तथ्यपरक ज्ञान प्रदान नहीं करते। "दो और दो चार होते हैं", "कुमारी अविवाहिता नारी होती है", "त्रिकोण के तीन कोण होते हैं" आदि कथन विश्लेषणात्मक कथन हैं। केवल शब्दार्थों पर आधारित होने के कारण ये कथन पूर्णतः निश्चित और सर्वदा सत्य होते हैं– अर्थात् अनुभव द्वारा इन्हें कभी भी मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। यही कारण कि अनुभव द्वारा इ कथनों के सत्यापन की भी आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के विचार में उपर्युक्त दोनों प्रकार के कथन ही ज्ञान की दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, ज्ञान की दृष्टि से सार्थक कथन वे हैं जो या तो अनुभवात्मक होने के कारण कम से कम सिद्धान्ततः इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापनीय होते हैं अथवा जो शब्दों की परिभाषाओं पर आधारित होने के कारण पुनरुक्तियां मात्र हैं। ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी यह सिद्धान्त तर्कीय प्रत्यक्षवाद का अनिवार्य आधारभूत सिद्धांत है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि तर्कीय प्रत्यक्षवाद के ज्ञानमीमांसा विषयक उपर्युक्त आधारभूत सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए नैतिक निर्णयों को किस प्रकार के कथन माना जा सकता है और इन निर्णयों की सार्थकता कैसे निश्चित की जा

सकती है। वस्तुतः इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्लिक, कानेंप, एयर आदि तर्कीय प्रत्यक्षवादियों ने नैतिक दर्शन में संवेगवाद का प्रतिपादन किया है। प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि नैतिक निर्णय न तो अनु भवात्मक अथवा संश्लेषणात्मक कथन हैं और न विश्लेषणात्मक कथन । उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "झूठ बोलना अनुचित है" तो हम झूठ बोलने के कर्म में अनौचित्य के गुण का उस प्रकार इन्द्रियजन्य अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते जिस प्रकार हम किसी लाल वस्तु की लालिमा का इन्द्रियजन्य अनुभव प्राप्त करते हैं। अन्य सभी नैतिक निर्णयों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है, क्योंकि 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्द गुणबोधक नहीं हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय संश्लेषणात्मक कथन नहीं होते और इसी कारण इनका अनुभव द्वारा सत्यापन संभव नहीं है। परन्तु ये निर्णय विश्लेषणात्मक कथन या पुनरुक्तियां भी नहीं हैं जब हम किसी मनुष्य या उसके कर्म के विषय में कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो निश्चय ही यह निर्णय पुनहक्ति मात्र नहीं होता। इस दृष्टि से नैतिक निर्णय विश्लेषणात्मक कथनों से बहुत भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ "परोपकार करना उचित है" यह नैतिक निर्णय "त्रिकोण के तीन कोण होते हैं" इस विश्लेषणात्मक कथन के समान पुनरुक्तिमात्र नहीं है। अन्य सभी नैतिक निर्णयों के संबंध में भी हम यही बात कह सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों को विश्लेषणात्मक कथन या पुनरुक्तियां नहीं माना जा सकता। हम ऊपर देख चुके हैं कि ये निर्णय संश्लेषणात्मक कथन भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के समक्ष समस्या यह थी कि इन निर्णयों की व्याख्या किस प्रकार की जाए। वस्तुतः इसी समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने संवेगवाद का प्रति–पादन किया था और यह कहा था कि नैतिक निर्णय किन्ही तथ्यों का वर्णन मात्र न करके वक्ता की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं, तथा अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को

जागृत करते हैं, अतः ये निर्णय संज्ञानात्मक नहीं, अपितु संवेगात्मक होते हैं। हम आगे देखेंगे कि कार्नैप, एयर आदि तर्कीय प्रत्यक्षवादियों ने इसी संवेगात्मक सिद्धांत के आधार पर नैतिक निर्णयों की व्याख्या की है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि संवेगवाद वास्तव में तर्कीय प्रत्यक्षवाद की अनुभवमूलक ज्ञानमीमांसा का अनिवार्य परिणाम था ।

5.3.3 रुडोल्फ कार्नेप

संवेगवाद की मुख्य आधारभूत मान्यताओं तथा उसके उदय और विकास का विवेचन करने के पश्चात् अब नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप एवं प्रमाणी– करण के विषय में कुछ प्रमुख संवेगवादियों के मत पर विचार करना आवश्यक है। यों तो वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बहुत–से दार्शनिक किसी न किसी रूप में संवेगवाद का समर्थन करते रहे हैं, किन्तु यहां हम स्थानाभाव के कारण इस सिद्धांत के कुछ मुख्य प्रतिनिधि विचारकों के मत का ही उल्लेख करेंगे। इन ऐडवर्ड स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत खंड में हम कानेंप के विचारकों में रूडोल्फ कानॅप, ए० जे० एयर, सी० एल० स्टीवैन्सन तथा पॉल मत तथा ऐडवड् स के मत परविचार करेंगे।

तथा सक्रिय सदस्य थे जिसे 'वियाना सर्कल' कहा जाता है और जिसने मॉरिटज पारुडोल्फ कानॅप अनुभववादी विचारकों के उस समुदाय के बहुत महत्त्वपूर्ण दिल था । तत्त्वमीमांसा और नैतिक दर्शन मंतकीय प्रत्यवगवाद का प्रथम मुख्य समर्थक माना जा सकता है। 1935 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, 'फिलॉसॉफी एण्ड लॉजिकल सिटैक्स' में उन्होंने इसी सिद्धांत के आधार पर तत्त्वमीमांसीय कथनों तथा नैतिक निर्णयों की व्याख्या की है। अन्य तर्कीय प्रत्यक्षवादियों की भांति वे भी यह मानते हैं कि किसी कथन की तथ्यात्मक

सार्थकता का निर्णय करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसका अनुभवात्मक सत्यापन संभव है अथवा नहीं। जिस कथन को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कम से कम सिद्धांततः इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापित करना सम्भव है केवल वही कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकता है और ऐसे कथन को ही सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता का निर्णय करने के लिए कार्नैप सत्यापन–सिद्धांत को ही महत्त्व देते हैं । इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "किसी कथन के तार्किक विश्लेषण का एक मुख्य कार्य उस कथन के सत्यापन की विधि मालूम करना है। प्रश्न यह है कि इस कथन या वाक्य को कहने के क्या कारण हो सकते हैं अथवा हम इसके सत्य या मिथ्या होने के विषय में कैसे निर्णय कर सकते हैं।"2 कार्नेप का मत है कि कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को निश्चित करने के लिए उक्त प्रश्न पर विचार करना अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि यदि हम किसी कथन के सत्यापन की विधि नहीं जानते–अर्थात् यदि हम यह नहीं जानते कि उसे किस प्रकार अनुभव द्वारा सत्यापित किया जा सकता है– तो वह कथन हमारे लिए तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है। कार्नेप के शब्दों में, "ऐसा कथन किसी वस्तु के विषय में कुछ भी नहीं कहता; वह निरर्थक शब्दों के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; उसका कोई अर्थ नहीं हो सकता ।" इस प्रकार कार्नेप के अनुसार कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को निश्चित करने तथा उन्हें सत्य या मिथ्या प्रमाणित करने का एकमात्र आधार सत्यापन का सिद्धान्त ही है। अपने इसी सत्यापन–सिद्धान्त के आधार पर सत्यापन के नैतिक निर्णयों की है। इन निर्णयों के अर्थ और उद्देश्य की व्याख्या करने के लिए उन्होंने नीति– कृथ्यात्मक सार्थकता को अस्वीकार किया है और उन्हें पूर्णतः संवेगात्मक माना शास्त्र को दो वर्षों में विभाजित किया है अनुभवात्मक नीतिशास्त्र तथा मानकीय नीतिशास्त्र। उनका

कथन है कि अनुभवात्मक नीतिशास्त्र मनो– वैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि से मनुष्य के कर्मों की अभिप्रेरणाओं और उनके परिणामों की व्याख्या करता है। इसका उह श्य मानवीय आचरण के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारणों और अन्य व्यक्तियों पर उनके प्रभाव का वाणातध्य वर्णन करना ही है, अतः इसके कथन वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक ही होते हैं। इस दृष्टि से अनुभवात्मक नीतिशास्त्र को एक तथ्यपरक विज्ञान ही माना जा सकता है, क्योंकि यह मानवीय आचरण संबंधी कुछ विशेष तथ्यों का वर्णन करता है।

परन्तु कार्नैप का मत है कि मानकीय नीतिशास्त्र उक्त अनुभवात्मक नीति– शास्त्र से मूलतः भिन्न है। मानकीय नीतिशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य के आचरण से सम्बन्धित किन्हीं तथ्यों का वर्णन करना नहीं, अपितु उसका मूल्यांकन करने के लिए कुछ मानकों को निश्चित करना अथवा सिद्धांतों का प्रतिपादन करना ही है। यह मानवीय आचरण का यथातथ्य वर्णन न करके उसे उचित या अनु– चित सिद्ध करने के लिए हमें कुछ विशेष मानक अथवा प्रतिमान प्रदान करता है। इमी कारण कार्नेप ने मानकीय नीतिशास्त्र को तथ्यात्मक विज्ञानों से मूलतः भिन्न माता है और उसे 'दार्शनिक नीतिशास्त्र' की संज्ञा दी है। इस मानकीय नीतिशास्त्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "मानकीय नीतिशास्त्र तथ्यों की परीक्षा नहीं है, अपितु वह इस बात की जांच करने का मिथ्या दावा करता है कि क्या शुभ है और क्या अशुभ, क्या करना उचित है और क्या अनुचित । इस प्रकार दार्शनिक या मानकीय नीतिशास्त्र का उद्देश्य मानवीय कमों के लिए मानकों अथवा नैतिक मूल्य के विषय में निर्णयों का वर्णन करना है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कार्नैप के अनुसार मानकीय नीतिशास्त्र के कथन तथ्यात्मक नहीं हो सकते और इसी कारण उन्होंने इसे तथ्यपरक विज्ञान में मानकर 'दार्शनिक नीतिशास्त्र' कहा है। अनुभवात्मक नीतिशास्त्र के विप– रीत इस मानवीय नीतिशास्त्र का कार्य हमारे

नैतिक निर्णयों के लिए मानदंड प्रदान करना है जिनमें हम 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः कानॅप तथा अन्य तर्कीय प्रत्यक्षवादी मानकीय नीति– शास्त्र के इन निर्णयों को ही तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार नैतिक शब्दों का कोई तथ्यात्मक अर्थ नहीं होता ।

अब इस प्रदन पर विचार करना आवश्यक है कि कार्लेप मानकी नीतिशास्त्र में प्रयुक्त नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप की व्याख्या किस प्रकार करते हैं। हरदेस हुने निर्णयों को तथ्यात्मक सार्थकता का निषेध करते हैं जिसका अर्थ यह है कि उनके विचार में ये निर्णय तथ्यपरक अनुभवात्मक कान है कि ये निर्णय पूर्णतः संवेगात्मक होते हैं अर्थात ये किन्ही तथ्यों करूनों से मूलतः सिंन्यह है दिन उनतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में कार्नेप वर्षात करके बक्ता की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं और अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को उत्पन्न करते हैं। ये निर्णय संवेगात्मक अभि– व्यक्तियां मांत्र होने के कारण वस्तुतः निर्णीत वस्तुओं के विषय में कुछ भी नहीं कहते। इसी कारण कानेंप नैतिक निर्णयों को 'छद्म कथन' मानते हैं– अर्थात ऐसे कथन जो व्याकरण की दृष्टि से तथ्यात्मक प्रतीत होते हैं किंतु वास्तव में तथ्यात्मक नहीं होते । उनका विचार है कि नैतिक निर्णय भावनाओं को अभि– व्यक्त और उत्पन्न करने के साथ–साथ अन्य व्यक्तियों को कुछ विशेष कर्म करने या न करने के लिए भी प्रेरित करते हैं। इस दृष्टि से इन निर्णयों को आज्ञाओं अथवा आदेशों के समान माना जा सकता है। प्रत्येक नैतिक निर्णय को एक प्रछन्न आदेश मानते हुए कार्नेप कहते हैं कि "वस्तुतः मूल्यात्मक कथन व्याकरण की दृष्टि से अनुचित रूप में आदेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह न तो सत्य होता है और न मिथ्या। यह कोई तथ्यात्मक सूचना नहीं देता और इसे प्रमाणित तथा अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। 'हत्या करना बुरा है'

इस कथन से हम भावी अनुभव के विषय में कोई प्रतिज्ञप्ति निगमित नहीं कर सकते। इस प्रकार यह कथन सत्यापनीय नहीं है और इसका कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं है। यही बात अन्य सभी मूल्यात्मक कथनों के विषय में भी कही जा सकती है।"5

कार्नेप के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार नैतिक निर्णय ऐसे संवेगात्मक कथन हैं जो इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा असत्यापनीय होने के कारण सत्य अथवा मिथ्या नहीं हो सकते और जिन्हें इसी कारण तथ्यात्मक ज्ञान के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। मानकीय नीतिशास्त्र में ऐसे ही नैतिक निर्णयों का प्रयोग किया जाता है, अतः उसे हम वास्तविक अर्थ में विज्ञान नहीं माना सकते । यह तथ्य मानकीय नीतिशास्त्र को अनुभवात्मक नीतिशास्त्र से पृथक करता है जिसे तथ्यात्मक विज्ञान माना जा सकता है। कानेंप के शब्दों में, भूतावासीय नीतिशास्त्र की प्रतिज्ञास्तव माना जा सकता है। कार्ने हो अथवा प्रतिगत्मक कथनों के रूप में – संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक होती है, वे वैज्ञानिक महीमप्तियां नहीं होती। इसका अर्थ यह हर सेविकाही तथ्यों का पर्वत की तथ्यात्मक सार्थकता को अस्वीकार करते हुए कानेंप उन्हें भावनात्मक नहीं करती। इस प्रकार अपने सत्यार्य यह है कि वे किन्ही पर नैतिक निर्णयों

नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप के विषय में अपने उपयुक्त मत को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कानेंप ने भाषा के उद्देश्यों अथवा 5. वही पुस्तक, कायों को दो वर्गों में विभाजित किया है– प्रतिनिधिक कार्य तथा अभिव्यक्तिपरक कार्य। हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि हमारे कुछ कथन किन्हीं तथ्यों का वर्णन मात्र करते हैं और इस प्रकार वे हमें जगत् के विषय में कोई सूचना या जान– कारी देते हैं। इन कथनों के इस वर्णनात्मक कार्य को ही कार्नेप ने भाषा का 'प्रतिनिधिक कार्य' कहा है। समस्त तथ्यात्मक विज्ञानों के वाक्य तथा हमारे

व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले बहुत–से कथन यही वर्णनात्मक अथवा प्रतिनिधिक कार्य करते हैं। तथ्यात्मक कथनों के इस प्रतिनिधिक कार्य को स्पष्ट करते हुए कार्नेप कहते हैं कि "ये कथन कुछ विशेष स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, ये हमें बताते हैं कि कोई वस्तु ऐसी है, ये कुछ कहते हैं और किसी वस्तु के गुणों तथा स्वरूप के विषय में निर्णय देते हैं।"" इस प्रकार कार्नेप के अनुसार जब हम भाषा द्वारा जगत् के विषय में किन्हीं तथ्यों का वर्णन करते हैं तो भाषा का यह कार्य 'प्रतिनिधिक कार्य' है। यह समझना कठिन नहीं है कि उनके विचार में नैतिक निर्णय पूर्णतः संवेगात्मक होने के कारण भाषा का उक्त प्रतिनिधिक कार्य नहीं करते ।

हमारे नैतिक निर्णय जो संवेगात्मक कार्य करते हैं उसे ही कार्नेप ने अभिव्यक्ति–परक कार्य की संज्ञा दी है। जब हम अपने कथनों द्वारा किन्हीं तथ्यों का वर्णन करने के स्थान पर केवल अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं तो कथनों के इस कार्य को 'अभिव्यक्तिपरक कार्य' कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ 'आह', 'ओह', 'हाय' आदि संवेगात्मक शब्दों का प्रयोग इसी अभिव्यक्तिपरक कार्य के लिए किया जाता है। हमारे जो कथन यह अभिव्यक्तिपरक कार्य करते हैं उन्हें कार्नेप ने 'तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियां' कहा है। उनके अनुसार ये प्रतिज्ञप्तियां असत्यापनीय होती हैं और इनका तथ्यों से कोई संबंध नहीं होता, अतः ये केवल अभिव्यक्तिपरक कार्य करती हैं। इन प्रतिज्ञप्तियों के उक्त अभिव्यक्ति परक कार्य को स्पष्ट करते हुए कार्नेप ने लिखा है कि "संगीतमयी कविताओं की भांति तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियां केवल अभिव्यक्तिपरक कार्य ही करती हैं, प्रतिनिधिक कार्य नहीं। ये तत्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियां न सत्य होती हैं और न मिथ्या, क्योंकि ये किसी तथ्य का वर्णन नहीं करतों । ये ज्ञान के क्षेत्र तथा सत्य अथवा मिथ्या

के विवेचन से पूर्णतः बाहर हैं। परंतु ये हास्य, संगीत और कविताओं की भांति अभिव्यक्तिपरक होती हैं।" यहां160

यह उल्लेखनीय है कि कान्प तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में करते हैं जिनमें नैतिक निर्णय भी सम्मिलित हैं। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा है वह नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में भी पूर्ण रूप से लागू होता है, क्योंकि उनके अनुसार के निर्णय तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों से मूलतः भिन्न नहीं हैं। इन प्रतिज्ञप्तियों की भांति नैतिक निर्णय भी प्रतिनिधिक कार्य के स्थान पर केवल अभिव्यक्ति परक कार्य करते हैं। हम अगले खंडों में देखेंगे कि कार्नैप ने भाषा के कार्यों का ऊपर जो वर्गीकरण किया है उसे एयर, स्टीवैसन आदि अन्य संवेगवादी भी किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि नैतिक निर्णयों का मुख्य कार्य अभिव्यक्तिपरक अथवा संवेगात्मक है, प्रतिनिधिक या वर्णनात्मक नहीं। इस दृष्टि से कार्नैप द्वारा किए गए भाषा के कार्यों के उपयुक्त वर्गीकरण का संवेगवाद के लिए विशेष महत्त्व है ।

5.3.4 ए. जे. एयर

रुडोल्फ कार्नैप की भांति ए० जे० एयर ने भी संवेगवाद के आधार पर ही नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या की है। वे भी तीय प्रत्यक्षवाद के प्रवर्तक तथा वियाना सर्कल के बहुत महत्त्वपूर्ण और सक्रिय सदस्य थे । नैतिक निर्णयों की व्याख्या के विषय में कार्नैप और एयर के विचारों में पर्याप्त समानता है, क्योंकि ये दोनों दार्शनिक एक ही अनुभववादी विचार धारा को स्वीकार करते थे। 1936 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'लेखेज, टूथ एण्ड लॉजिक' के छठे अध्याय में एयर ने सौंदर्यात्मक तथा धार्मिक कथलों के

साथ–साथ नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में भी विस्तारपूर्वक अपने विचार असत किए हैं। इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण दस वर्ष पश्चात 1946 में प्रकावित विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। अपनी पुस्तक के इस द्वितीय संस्करण में भी हुआ था, किन्तु उस समय तक नैतिक निर्णयों के विषय में उनके विचारों में कोई एयर ने इन निर्णयों की व्याख्या के लिए केवल संवेगवाद को ही स्वीकार किया है। इसी कारण यहां हम मुख्यतः उक्त पुस्तक के द्वितीय संस्करण के आधार पर नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में एयर के मत का विवेचन करेंगे। परन्तु खंड के अन्त में हम इन निर्णयों से सम्बन्धित उनके विचारों में उस परिवर्तन कभी उल्लेख करेंगे जिसकी चर्चा उन्होंने 1954 में प्रकाशित अपनी एक बन्या पुस्तक 'फिलॉसॉफिकल एसेज में संकलित एक निबन्ध ऑन काप की भांति एव भी सत्यापन–सिद्धांत को पूर्णतः स्वीकार करते है ऐनालिसिस ऑफ नॉरल जजमेंट्स' में की है।

और इसी सिद्धांत के आधार पर केवल उन्हीं संश्लेषणात्मक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक मानते हैं जिन्हें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा कम से कम सिद्धांततः सत्यापित किया जा सकता है। इन संश्लेषणात्मक या तथ्यात्मक कथनों के अतिरिक्त विश्लेषणात्मक कथनों को भी वे शब्दों की परिभाषाओं अथवा पुनरुक्तियों के रूप में सार्थक मानते हैं। शब्दों के अर्थ पर आधारित होने तथा अनुभवात्मक जगत् के विषय में कुछ भी न कहने के कारण वे कथन संश्लेषणात्मक कथनों के विपरीत सर्वदा सत्य होते हैं। एयर का मत है कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के कथन ही ज्ञान की दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं; कोई अन्य कथन नहीं । इसी कारण वे ऐसे प्रत्येक कथन को तथ्यात्मक दृष्टि है निरर्थक मानते हैं जो न तो संश्लेषणात्मक है और न विश्लेषणात्मक । अपने सत्यापन–सिद्धांत के आधार पर ऐसे कथन की तथ्यात्मक सार्थकता को अस्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि "यदि कोई कथन इस सिद्धांत के अनुसार सत्यापनीय

नहीं है और वह पुनरुक्ति भी नहीं है तो मैं यह मानता हूं कि वह तत्त्वमीमांसीय कवन है और तत्त्वमीमांसीय होने के कारण वह न सत्य है और न मिथ्या, अपितु तथ्यात्मक रूप से निरर्थक है।" इस प्रकार कम से कम सिद्धांततः प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रत्येक अनुभवाश्रित संश्लेषणात्मक कथन के सत्यापनीय होने की संभावना को एयर उस कथन की तथ्यात्मक सार्थकता के लिए अनिवार्य शर्त मानते हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि एयर के अनुसार उनका उपर्युक्त सत्यापन–सिद्धांत नैतिक निर्णयों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार तथ्यात्मक कथनों की व्याख्या के विषय में। इसका अर्थ यह है कि नैतिक निर्णयों की सार्थकता को निश्चित करने के लिए इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देना आवश्यक है कि वे विश्लेषणात्मक कथन हैं अथवा इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापनीय संश्लेषणात्मक कथन । परन्तु, जैसाकि हम दूसरे खंड मैं बता चुके हैं, ये निर्णय न तो पुनरुक्तियां अथवा विश्लेषणात्मक कथन हैं और भऐसे तथ्यात्मक कथन जिन्हें इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापित किया जा कहे। वस्तुतः इसी तथ्य को मूल आधार मानकर एयर ने नैतिक निर्णयों के अयं और प्रमाणीकरण की व्याख्या की है। इन निर्णयों की व्याख्या के लिए पवर स्वयं यह अनुभव करते हैं कि इसी कारण नैतिक निर्णयों के आधार पर उन्होंने संवेगवाद का जो प्रबल समर्थन किया है उसका कारण यही है कि इन्हें सेतो विश्लेषणात्मक कथन माना जा सकता है और न संश्लेषणात्मक कर चर उनके तीय प्रत्यक्षवादर के विरुद्ध आपत्ति उठाई जा सकती है, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक कथन ही ज्ञान की दृष्टि से सार्थक हैं। अपने सिद्धांत के विरुद्ध इसी आपत्ति का निराकरण करने के लिए उन्होंने नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक दृ ष्टि से निरर्थक तथा ज्ञान के क्षेत्र से बाहर माना है। एयर का विचार है कि नैतिक निर्णयों से संबंधित उनका यह मत वस्तुतः मूल्य सम्बन्धी सभी कथनों पर

समान रूप से लागू होता है। इस सम्बन्ध में वे स्पष्ट कहते हैं कि "यदि मूल्य सम्बन्धी कथन सार्थक हैं तो वे सामान्य वैज्ञानिक कथन हैं, और यदि वे वैज्ञानिक कथन नहीं हैं तो वे तथ्यात्मक रूप से सार्थक नहीं हैं, अपितु केवल संवेगात्मक अभिव्यक्तियां हैं जो न सत्ण हो सकती हैं और न मिथ्या । "10 इस प्रकार एयर अपनी अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के आधार पर नैतिक निर्णयों सहित सभी मूल्य सम्बन्धी कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता का निषेध करते हुए उन्हें केवल भावनाओं या संवेगों की अभिव्यक्तियां मानते हैं जो सत्य अथवा मिथ्या न होने के कारण ज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।

नैतिक निर्णयों के संवेगात्मक अर्थ और उद्देश्य की व्याख्या करने के लिए एयर ने समस्त नैतिक कथनों को चार वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग में वे कथन आते हैं जो 'शुभ', 'उचित', कत्र्तव्य' आदि नैतिक शब्दों की परिभाषायें देते हैं अथवा उनका अर्थ स्पष्ट करते हैं। दूसरे वर्ग में उन कथनों को रखा जा सकता है जो हमारे नैतिक अनुभव और उसके मूल कारणों को स्पष्ट करते हैं। तीसरे वर्ग में हम उन कथनों को रख सकते हैं जिनमें मनुष्य को सद्गुण विषयक उपदेश दिया जाता है। चौथे और अंतिम वर्ग के अंतर्गत उन कथनों को सम्मिलित किया जा सकता है जिन्हें हम वास्तव में 'नैतिक निर्णय कहते हैं। नैतिक कथनों के उपयुक्त चारों वगों में से एयर प्रथम वर्ग के कथनों को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इसी वर्ग के कथनों को 'दर्शन' की संज्ञा दी जा सकती है क्योकि उनके अनुसार है कि नैतिक शल्यों उद्देश्य है। नैतिक दर्शन के उददेश्य के विषय में एयर के इस मत का उल्लेख की परिभाषा करना अथवा उनका अर्थ इसका तात्पर्य यह दर्शन का एकमात्र हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि उनका यह मत एकांगी होने के कारण उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। दूसरे वर्ग के कथनो के सम्बन्ध में

एयर का विचार है कि वास्तव में ये तथ्यात्मक कथन है, अतः इन्हें समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है। तीसरे वर्ग के कथनों को एयर वास्तविक कथन या प्रतिज्ञप्तियां न मानकर आदेश मात्र मानते हैं जिनका उद्देश्य मनुष्य को कुछ विशेष कर्म करने अथवा न करने लिए प्रेरित करना ही होता है। अन्तिम वर्ग के कथन उनके अनुसार 'छद्म रूपन' हैं जो व्याकरण की दृष्टि से 'कथन' प्रतीत होते हुए भी वास्तविक अर्थ में 'कथन' नहीं होते। उनके इस मत पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे । यहां इतना कह देना ही पर्याप्त है कि एयर द्वारा किए गए नैतिक कथनों के उपर्युक्त वर्गीकरण का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि दर्शन का कार्य नैतिक शब्दों का अर्थ–निरूपण ही है।

नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में अपने सिद्धांत संवेगवाद को स्पष्ट करने से पूर्व एयर ने इन निर्णयों के विषय में सभी महत्त्वपूर्ण संज्ञानात्मक सिद्धांतों का खण्डन किया है। वे प्रकृतिवाद के सभी रूपों तथा निर्प्रकृतिवाद अथवा अन्तः–प्रज्ञाबाद को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ प्रकृतिवाद के विरुद्ध उनका कथन है कि अनुभवाश्रित तथ्यात्मक कथनों द्वारा नैतिक निर्णयों की व्याख्या नहीं की जा सकती । अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे व्यक्तिनिष्ठवाद, उपयोगितावाद, सुखवाद आदि समस्त प्रकृतिवादी सिद्धांतों का खंडन करते हैं । उदाहरणार्थ व्यक्तिनिष्ठवाद के विरुद्ध एयर का कथन है कि "क शुभ या उचित है" का अर्थ यह नहीं हो सकता कि स्वयं वक्ता अथवा समाज उसका अनुमोदन करता है, क्योंकि यह कहना स्वतोव्याघाती नहीं है कि स्वयं वक्ता या समाज जिन कर्मों का अनुमोदन करता है वे अशुभ अथवा अनुचित हैं। उपयोगितावाद तथा सुखवाद के विरुद्ध भी उन्होंने इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इन प्रकृतिवादी सिद्धांतों के विरुद्ध एयर ने जो आपत्तियां उठाई है उन पर हम पिछले अध्यायों में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं, अतः यहां उन कीपुनरावृत्ति

अनावश्यक है। इस संबंध में यहां इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि एयर के अनुसार अनुभवात्मक शब्दों के आधार पद मानकीय नैतिक शब्दों की परिभाषा करना संभव नहीं है। प्रकृतिवाद के विरुद्ध अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं – "हमारा विचार केवल यही है कि वे वाक्य जिनमें मानकीय नैतिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है उन प्रकार की अनुभवात्मक प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करते हैं। यहां यह स्पष्ट कर सती के साथ जिनमें माननीय नैतिक प्रतिज्ञाप्तियों अथवा वास्तव में किसी इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मूर की भांति एयर भी नैतिक शब्दों को मानकीय नैतिक शब्दों को ही तथ्यात्मक शब्दों द्वारा अपरिभाष्य मानते हैं। "11 अपरिभाव्य मानते हुए प्रकृतिवाद को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं।

परन्तु प्रकृतिवाद के साथ–साथ निप्रकृतिवाद या अन्तःप्रज्ञावाद का भी एयर ने खंडन किया है। इस सिद्धांत के विरुद्ध उनकी मुख्य आपत्ति यह है कि नैतिक निर्णयों के विषय में मतभेद के निराकरण तथा उनकी प्रामाणिकता के लिए यह हमें कोई वस्तुनिष्ठ और तर्कसंगत आधार प्रदान नहीं करता। एक व्यक्ति अपनी अन्तःप्रज्ञा के आधार पर जिस कर्म को उचित कहता है उसे ही दूसरा व्यक्ति अपनी अन्तःप्रज्ञा के आधार पर अनुचित मान सकता है। चौथे अध्याय में हम देख चुके हैं कि पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ मानसिक शक्ति होने के कारण अन्तःप्रज्ञा नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में इस प्रकार के संघर्ष को समाप्त करने में नितांत असमर्थ है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए एयर कहते हैं कि "किसी कथन की प्रामाणिकता की परीक्षा के लिए केवल अन्तः प्रज्ञा का आधार लेना व्यर्थ है। अन्तःप्रज्ञा के सिद्धांत के अनुसार नैतिक कथनों के सम्बन्ध में कोई अनुभवात्मक परीक्षा संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह कहना उचित ही होगा कि इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक कथन असत्य। पनीय हैं। "12 इस प्रकार नैतिक निर्णयों के विषय

में मतभेद के निराकरण और उनकी प्रामाणिकता के लिए कोई युक्तिसंगत आधार प्रदान न कर सकने के कारण अन्तःप्रज्ञावाद को एयर ने अस्वीकार किया है। जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, वे निश्चित रूप से यह मानते हैं कि प्रत्येक तथ्यात्मक कथन का इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्या पनीय होना अनिवार्य है, किन्तु अन्तःप्रज्ञावाद के अनुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक होते हुए भी सत्यापनीय नहीं हैं। मुख्यतः इसी कारण एयर उक्त सिद्धांत का समर्थन नहीं करते । प्रकृतिवादी सिद्धांतों को वे पहले ही अस्वीकार कर चुके हैं जिन्हें नैतिक निर्णयों की व्याख्या करने के लिए प्रायः अन्तःप्रज्ञावाद के स्थान और प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी स्थिति में एयर के समक्ष जटिल समस्या यह इसी समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने संवेगवाद को स्वीकार किया है कि इन निर्णयों की संतोषप्रद व्यास्थिति में एयर के समक्ष जतिती है। वस्तुतः है जो उनके विचार में तर्कीय प्रत्यक्षवाद की अनुभववादी विचारधारा के अनुरूप नैतिक निर्णयों की संतोषजनक व्याख्या करता है और इसी कारण जो प्रकतिवाद अपने इसी सिद्धांत संवेगवाद के अनुसार नैतिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते तथा अन्तःप्रज्ञावाद दोनों की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद है। हुए एयर कहते हैं कि ये शब्द वास्तव में अविश्लेष्य या अपरिभाष्य हैं। परन्तु इन शब्दों के अविश्लेष्य होने का कारण यह नहीं है कि ये निणींत वस्तुओं के किन्हीं रहस्यमय निर्प्राकृतिक गुणों की ओर संकेत करते हैं जैसाकि अन्तः प्रज्ञावादियों का मत है। वस्तुतः नैतिक शब्दों के अविश्लेष्य होने का कारण केवल यही है कि ये पूर्णतः संवेगात्मक शब्द हैं और जिन कथनों में इनका प्रयोग किया जाता है वे वास्तविक कथन न होकर केवल 'छद्म कथन' ही होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एयर के मतानुसार नैतिक निर्णय ऐसे कथन हैं जो व्याकरण की दृष्टि से तथ्यात्मक कथन प्रतीत होते हैं किन्तु जो वास्तव में तथ्यात्मक कथन न होकर भावनाओं अथवा संवेगों को अभिव्यक्त और जागृत करने

वाले संवेगात्मक कथन ही हैं। जब हम किसी वस्तु के विषय में नैतिक निर्णय देते हैं तो हमारा यह निर्णय उस वस्तु के सम्बन्ध में कुछ न कहकर केवल हमारी किसी भावना को अभिव्यक्त करता है और अन्य व्यक्तियों में इसी भावना को उत्पन्न करता है। इसी कारण हमारा यह निर्णय वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक न होकर पूर्णतः संवेगात्मक होता है।

नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप के सम्बन्ध में अपने उपर्युक्त मत को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए एयर कहते हैं कि "किसी कथन में नैतिक शब्द की उपस्थिति उसके तथ्यात्मक अर्थ में कोई वृद्धि नहीं करती। यदि मैं किसी से कहता हूं, 'तुमने वह घन चुरा कर अनुचित कर्म किया है' तो मैं इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहता कि 'तुमने वह धन चुराया है।' यह कहकर कि यह कर्म अनुचित है मैं इस कर्म के विषय में कोई और बात नहीं कह रहा हैं। मैं इसके सम्बन्ध में केवल अपना नैतिक अननुमोदन अभिव्यक्त कर रहा हैं। अब यदि मैं कहता हूं कि 'घन चुराना अनुचित है' तो मैं एक ऐसा वाक्य कहता है जिसका कोई तथ्यात्मक अर्थ नहीं है– अर्थात् वह ऐसी प्रतिज्ञप्ति व्यक्त नहीं करता जो सत्य अथवा मिथ्या हो सके। हमने 'अनुचित' शब्द के विषय में जो कुष्ठ कहा है वह सभी मानकीय नैतिक शब्दों पर लागू होता है। यह कहकर कि कोई कर्म उचित या अनुचित है मैं कोई तथ्यात्मक वक्तव्य नहीं देता– यहां तक कि मैं अपनी मनोदशा के संबंध में भी कुछ नहीं कहता। मैं केवल कुछ नैतिक भावनाओं को अभिव्यक्त करता हूं । "13 उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि एयर के अनुसार को अभिव्यवत का कोई तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक अर्थ नहीं उन्हनि कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया कि ये 'नैतिक भावनाए" अन्य भावनाओं होता, अतः वे पूर्णतः संवेगात्मक होते हैं। इस उद्धरण में उन्होंने 'नैतिक अनुमोदन' सेबयों और किस प्रकार भिन्न हैं। हम आगे देखेंगे कि स्टीवंसन, ऐडवर्डस कुमा 'नैतिक भावनाओं

की भी चर्चा की है। परन्तु, जहां तक मुझे ज्ञात है, आदि अन्य संवेगबादी भी इस आधारभूत प्रश्न का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सके। वस्तुतः यह संवेगबाद की एक मूल समस्या है जिस पर हम इस अध्याय अन्तिम खंड में विचार करेंगे नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप के विषय में एयर ने ऊपर जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि ये निर्णय पूर्णतः संवेगात्मक होने के कारण असत्यापनीय हैं। ऐसी स्थिति में इन निर्णयों के सत्य अथवा मिथ्या होने का प्रश्न ही नहीं उठता। एयर यह मानते हैं कि केवल संश्लेषणात्मक तथा विश्लेषणात्मक कथन ही सत्य या मिथ्या हो सकते हैं, किन्तु नैतिक निर्णयों को इन दोनों वर्षों के कथनों में से किसी के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि तथ्यात्मक कथनों के आधार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ की ठीक–ठीक ब्याल्या नहीं की जा सकती। परन्तु एयर के मतानुसार इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि ये निर्णय मानवीय अनुभव से स्वतन्त्र, रहस्यमय अंतःप्रज्ञात्मक कथन है। वास्तव में नैतिक निर्णय संवेगात्मक अभिव्यक्तियां मात्र होने के कारण निर्णीत वस्तुओं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहते; इसीलिए इन निर्णयों की वस्तुनिष्ठता और प्रामाणिकता की कोई कसौटी निश्चित करना असम्भव है। यह स्पष्ट है कि ऐसे निर्णय वस्तुनिष्ठ और तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक कथन नहीं हो सकते । अपने सिद्धांत के आधार पर इन निर्णयों की तथ्यात्मक सार्यक्रता और वस्तुनिष्ठता का पूर्णतः निषेध करते हुए एयर ने लिखा है कि "प्रत्येक स्थिति में जब कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय देता है तो उसमें प्रयुक्त नैतिक शब्द का कार्य केवल 'संवेगात्मक' होता है। इसका प्रयोग कुछ वस्तुओं के विषय में भावना को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है, उसके सम्बन्ध में कोई तथ्यात्मक वक्तव्य देने के लिए नहीं। यदि कोई वाक्य तथ्यात्मक दृष्टि से कुछ भी नहीं कहता तो स्पष्टतः यह पूछना निरर्थक है कि जो कुछ यह कहता है वह सत्य है अथवा मिथ्या। और हम देख चुके हैं कि वे वाक्य

जो केवल नैतिक निर्णयों को व्यक्त करते हैं तथ्यात्मक रूप से कुछ नहीं कहते । वे केवल भाव नात्मक अभिव्यक्तियां हैं और इसी कारण वे उन कथनों के वर्ग में नहीं आते जो सत्य या मिथ्या हो सकते हैं। "14 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एयर नैतिक निर्णयों को संवेगात्मक अभिव्यक्तियां मा प्रकार यह स्पष्ट तथ्यात्मक दृष्टि के यहां यह उल्लेखनीय है कि एयर के विचार में नैतिक निर्णयों का कार्य निरर्थक तथा ज्ञान के क्षेत्र से पूर्णतः पृथक मानते हैं। केवल भावनाओं को अभिव्यक्त तथा जागृत करना ही नहीं है, अपितु दसरों को बोई कर्म करने या न करने के लिए परोक्ष रूप से प्रोत्साहित करना अथवा आदेश देना भी है। ये निर्णय अन्य व्यक्तियों में कुछ भावनाएं अथवा संवेग उत्पन्न करके उन्हें कछ विशेष कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करते है। इस वृष्धि से नैतिक निर्णय संवेगात्मक अभिव्यक्तियां होने के साथ–साथ दूसरों के लिए परीक्ष आज्ञाओं अथवा आदेशों के रूप में भी कार्य करते हैं। अपनी इस मान्यता को एयर ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि "सत्य बोलना तुम्हारा कर्तव्य है" यह वाक्य सत्य बोलने के सम्बन्ध में हमारे नैतिक अनुमोदन की भावना को अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को सत्य बोलने का आदेश भी देता है। एयर के अनुसार अन्य नैतिक निर्णयों की व्याख्या भी इसी प्रकार की जा सकती है। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते है कि "चोरी करना अनुचित है" तो हम चोरी करने के प्रति अपने नैतिक अननुमोदन की भावना को अभिव्यक्त करने के साथ–साथ दूसरों को यह कर्म न करने का परोक्ष आदेश भी देते हैं। इस प्रकार कार्नैप की भांति एयर भी यह मानते हैं कि नैतिक निर्णयों के दो मुख्य कार्य हैं– संवेगों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त तथा जागृत करना और अन्य व्यक्तियों को कुछ करने या न करने का परोक्षरूप से आदेश देना। परन्तु इन दोनों दार्शनिकों की यह मान्यता एकांगी तथा दोषपूर्ण है, क्योंकि नैतिक निर्णय सभी परिस्थितियों में अनिवार्यतः संवेगात्मक और

आदेशात्मक नहीं होते। संवेगवाद के विरुद्ध इस आपत्ति पर भी हम प्रस्तुत अध्याय के अन्तिम खंड में विस्तार से विचार करेंगे ।

एयर यह स्वीकार करते हैं कि एक अर्थ में उनके संवेगात्मक सिद्धान्त को 'व्यक्तिनिष्ठवादी सिद्धांत' कहा जा सकता है, क्योंकि व्यक्तिनिष्ठवाद की भांति यह सिद्धांत भी नैतिक निर्णयों की वस्तुनिष्ठता का पूर्णतः निषेध करता है। परन्तु उनका संवेगवाद वास्तव में व्यक्तिनिष्ठवाद से भिन्न है। जैसाकि हम तीसरे अध्याय में बता चुके हैं, व्यक्तिनिष्ठवाद के अनुसार नैतिक निर्णय किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं का वर्णन करते हैं, अतः ये निर्णय तथ्यात्मक होते हैं और इसी कारण ये सत्य या मिथ्या हो सकते हैं। कोई नैतिक निर्णय किसी व्यक्ति या समुदाय की जिस भावना का वर्णन करता है वह भावना यदि वस्तुतः उसमें विद्यमान है तो वह निर्णय सत्य होगा, अन्यथा उस निर्णय को मिथ्या माना जाएगा। परन्तु एयर के मतानुसार नैतिक निर्णय वास्तव में तथ्यात्मक नहीं होते, क्योंकि वे किसी व्यक्ति या समुदाय की भावनाओं का वर्णन नहीं करते। ये निर्णय भावनाओं अथवा संवेगों की 'अभिव्यक्तियों' मात्र होते हैं—अर्थात् ये वक्ता की भावनाओं को उसी प्रकार केवल 'अभिव्यक्त' करते हैं जिस प्रकार अहा, 'ओह', 'हाय' आदि संवेगात्मक शब्द उसकी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। इसी कारण संवेगात्मक वाक्यों की भांति में उनका संवेगवाद व्यक्तिनिष्ठवाद से बहुत भिन्न है। इन दोनों सिद्धांतों में नैतिक निर्णय भी सत्य अथवा मिथ्या नहीं होते । इस दृष्टि से एयर के विचार पाए जाने वाले उपर्युक्त आधारभूत अन्तर को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया हैः— "व्यक्तिनिष्ठवादी यह मानता है। कि नैतिक कथन वास्तव में कुछ भावनाओं के अस्तित्व का तथ्यात्मक वर्णन करते हैं, किन्तु हम यह मानते हैं कि नैतिक कथन भावनाओं को अभिव्यक्त तथा जागृत करते हैं और इसी अनिवार्यतः तथ्यात्मक नहीं होते। "15 कारण वे

वस्तुतः व्यक्तिनिष्ठवाद तथा संवेगवाद में विद्यमान उपयुक्त अन्तर को भली–भांति समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि भावनाओं की 'अभि–व्यक्ति' उनके 'वर्णन' से भिन्न होती है। किसी भावना का 'वर्णन' करने के लिए वास्तव में कुछ शब्दों का प्रयोग अनिवार्य है। उदाहरणार्थ यदि मैं किसी कर्म के प्रति अपने मन में विद्यमान अनुमोदन की भावना का वर्णन करना चाहता हूँ तो मेरे लिए यह कहना अनिवार्य है कि "मैं इसका अनुमोदन करता हूं।" परंतु भावनाओं की 'अभिव्यक्ति' के लिए शब्दों का प्रयोग अनिवार्य नहीं है। उदाहरण के लिए यदि मैं किसी नेता के लम्बे और नीरस भाषण से ऊब गया हूं तो भाषा का प्रयोग किए बिना भी मैं कुछ शारीरिक संकेतों अथवा चेष्टाओं द्वारा उसके भाषण के प्रति अपनी इस ऊब को भली–भांति अभिव्यक्त कर सकता हूं । इसके विपरीत यदि मैं अपनी इस ऊब का वर्णन करना चाहता हूं तो मुझे स्पष्ट शब्दों में यह कहना पड़ेगा कि "मैं आपके भाषण से ऊब गया हूं।" इसका अर्थ यह है कि शब्दों द्वारा भावनाओं के वर्णन में उनकी अभिव्यक्ति अनिवार्यतः सम्मिलित रहती है, किन्तु भावनाओं की अभिव्यक्ति में भाषा के माध्यम से उनके वर्णन का सम्मिलित होना अनिवार्य नहीं है। एयर के विचार में संवेगबाद के अनुसार नैतिक निर्णय इसी अर्थ में 'अभिव्यक्तियां' मात्र हैं और यही तथ्य संवेगवाद को व्यक्तिनिष्ठबाद से पृथक करता है जिसके अनुसार नैतिक निर्णय भावनाओं का स्पष्टतः तथ्यात्मक वर्णन करते हैं। वस्तुतः इसी कारण व्यक्तिनिष्ठवाद को संज्ञानात्मक सिद्धांत कहा जाता है और संवेगवाद को असंज्ञानात्मक सिद्धांत । हम दूसरे अध्याय में इन दोनों सिद्धांतों के इस आधारभूत अन्तर को पहले हैं। स्पष्ट कर चुके हैं। वास्तव में मुख्यतः इसी आधारभूत अन्तर के कारण एमर अपने संवेगबाद को व्यक्तिनिष्ठवाद से पृथक सिद्धांत मानते हैं । से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार इन निर्णयों के

सम्बन्ध में न तो वास्तविक नैतिकः निर्णयों के अर्थ तथा स्वरूप के विषय में एयर के उपयुक्त विचारों निष्ठ तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। वस्तुतः ये दोनों एयर के संवेगवाद के निष्ठमति संभव है और न इनकी प्रामाणिकता के लिए किसी प्रकार के बस्तु अनिवार्य परिणाम हैं जिन्हें वे पूर्णतः स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु के संबंध में विरोधी नैतिक निर्णय देते हैं तो वे दोनों वास्तव में तथ्यात्मक रूप से एक–दूसरे के निर्णय का खण्डन नहीं करते। इसका कारण यह है कि वे अपने विरोधी नैतिक निर्णयों द्वारा तथ्यात्मक रूप से कुछ भी न कहकर निर्णीत वस्तु के संबंध में केवल अपनी विरोधी भावनाएं अभि–व्यक्त करते हैं और भावनाओं की अभिव्यक्तियों का खंडन करना संभव नहीं है। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि नैतिक निर्णयों के संबंध में वास्तविक असहमति असंभव है। अपनी इस मान्यता को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए एयर ने लिखा हैः– "हम यह मानते हैं कि 'मितव्ययता सद्‌गुण है' तथा'मितव्ययता दुर्गुण है' ऐसे वाक्य वास्तविक प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त नहीं करते, अतः हम यह नहीं मान सकते कि वे परस्पर विरोधी प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करते हैं। "16 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एयर नैतिक निर्णयों के विषय में बास्तविक असहमति का पूर्णतः निषेध करते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि सामान्यतः हम यह मानते हैं कि जब दो व्यक्ति एक वस्तु के विषय में विरोधी नैतिक निर्णय देते हैं तो उनमें वास्तविक असहमति होती है और वे एक–दूसरे के नैतिक निर्णय का वास्तव में खंडन करते हैं। संवेगवाद के विरुद्ध इस आपत्ति पर भी हम प्रस्तुत अध्याय के अन्तिम खंड में विचार करेंगे ।

नैतिक निर्णयों के संबंध में वास्तविक असहमति के निषेध के साथ–साथ एयर इन निर्णयों के विषय में वस्तुनिष्ठ तर्कों की संभावना को भी पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। वे स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि नैतिक निर्णयों के मूल्यात्मक पक्ष के

संबंध में किसी प्रकार के तर्क देना संभव नहीं है। हम केवल उन विशेष तथ्यों के विषय में वाद–विवाद कर सकते हैं जिन पर ये नैतिक निर्णय नाधारित होते हैं और जिनके संबंध में वास्तविक असहमति संभव है। जब हम नैतिक निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं तो वास्तव में हम इन निर्णयों से संबंधित कुछ विशेष तथ्यों के पक्ष अथवा विपक्ष में ही तर्क देते हैं। उदाहरणार्थ हम किसी कर्म को करने वाले व्यक्ति की अभिप्रेरणाओं, उसके कर्म के परिणामों तथा उन परिस्थितियों के संबंध में वाद–विवाद कर सकते हैं जिनमें उसने वह कर्म किया है। एयर के अनुसार नैतिक निर्णयों से संबंधित ये ऐसे तथ्य है जिनकी निष्पक्ष तथा वस्तुनिष्ठ परीक्षा संभव है और इसी कारण इन तथ्यों के विषय में सार्थक वाद–विवाद हो सकता है। परन्तु नैतिक निर्णयों के मूल्यात्मक पक्ष के विषय में इस प्रकार का बाद–विवाद संभव नहीं है। वस्तुतः इसका कारण यह है कि एयर के विचार में नैतिक निर्णयों के मूल्यात्मक पक्ष का संबंध किसी प्रभार के तथ्यों से न होकर केवल भावनाओं अथवा संवेगों से ही है जिनका लंदन करना असंभव है।

यदि नैतिक निर्णय केवल भावनाओं को अभिव्यक्त तथा जागृत करते हैं और निर्णीत वस्तुओं के विषय में तथ्यात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहते जैसाकि कि एयर मानते हैं तो इन निर्णयों के संबंध में सार्थक वाद–विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वास्तव में सार्थक वाद–विवाद तथ्यों के विषय में ही हो सकता है, भावनाओं अथवा संवेगों के विषय में नहीं। परन्तु एयर के अनुसार नैतिक निर्णयों का मूल्यात्मक पक्ष केवल संवेगों या भावनाओं पर ही आधारित होता है। इसी कारण इन निर्णयों के इस मूल्यात्मक पक्ष के सम्बन्ध में सार्थक वाद–विवाद की संभावना को अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है :– "यह स्पष्ट है कि हमारे सिद्धांत का यह अनिवार्य निष्कर्ष है कि मूल्य विषयक प्रश्नों के संबंध में वाद–विवाद करना असंभव है। हम यह मानते हैं कि कोई भी व्यक्ति मूल्य संबंधी

प्रश्नों के विषय में कभी भी तर्क नहीं करता। हम निश्चय ही ऐसे विवादों में सम्मिलित होते हैं जिन्हें सामान्यतः मूल्य विषयक प्रश्नों के संबंध में विवाद समझा जाता है। परन्तु ऐसी सभी स्थितियों में गंभीरतापूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि विवाद वास्तव में मूल्य संबंधी प्रश्न के विषय में नहीं, अपितु तथ्य संबंधी प्रश्न के विषय में है।... यदि हमारे विरोधी की नैतिक शिक्षा हमारी नैतिक शिक्षा से भिन्न प्रकार की है और फलतः यदि वह सभी संबद्ध तथ्यों को स्वीकार करते हुए भी विचारणीय कर्म के नैतिक मूल्य के संबंध में हमसे असहमत होता है तो हम तर्क द्वारा उसे अपनी बात समझाने का प्रयास छोड़ देते हैं। जब तथ्यात्मक प्रश्नों के विपरीत मूल्यात्मक प्रश्नों के विषय में हमारा तर्क असफल हो जाता है तो हम अंततः अशिष्ट भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। "17 इस उद्धरण से स्पष्ट है कि एयर नैतिक निर्णयों के मूल्यात्मक पक्ष के संबंध में किसी प्रकार के तकों की संभावना को स्वीकार नहीं करते। परन्तु हम इस अध्याय के अन्तिम खंड में देखेंगे कि नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के विषय में उनकी यह मान्यता उचित एव युक्ति संगत नहीं है।

एयर ने नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नीतिशास्त्र वास्तव में कोई व्यवस्थित विज्ञान नहीं हो सकता। अपने संवेगवादी सिद्धांत के इस निष्कर्ष को वे स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्तियां न को 'विज्ञान' मानना संभव नहीं हैं। नीतिशासक्तियां मात्र है। अत विश्लेषण करने संवेगबाद के लिए किसी वैज्ञानिक विधि का प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि केवल संवेगात्मक अभिव्यक्तियां होने के कारण ये निर्णय न तो सत्य होते हैं और नः मिध्या। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि नीतिशास्त्र कोई व्यवस्थित विज्ञान नहीं हो सकता तो नैतिक दर्शन का कार्य

अथवा उद्देश्य क्या है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए एयर कहते हैं कि "नैतिक दर्शन हमें केवल यही बताता है कि नैतिक अवधारणाए छद्म अवधारणाएं हैं और इसी कारण वे अविश्लेष्य है।" "यदि नैतिक विज्ञान का अर्थ आचार–नीति का व्यवस्थित विवरण है तो नैतिक विज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। किसी नैतिक पद्धति की प्रामाणिकता को निश्चित करने का कोई उपाय नहीं है और वास्तव में यह पूष्ठना भी निरर्थक है कि ऐसी कोई पद्धति यथार्थ हो सकती है या नहीं, क्योंकि नैतिक निर्णय भावनाओं की अभिव्यक्तियां मात्र हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान की शाखा के रूप में नीतिशास्त्र मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र के विभाग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। "18 संक्षेप में एयर ने अपनी पुस्तक, 'संग्वेज, टूथ एण्ड लॉजिक' मैं नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण तथा नैतिक दर्शन के स्वरूप एवं उद्देश्य के संबंध में अपना यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया है जो उनके संवेगवाद के अनुरूप ही है।

जैसाकि हम इस खंड के प्रारम्भ में बता चुके हैं, 1946 में उपयुक्त पुस्तक के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन तक उन्होंने अपने इस संवेगवादी सिद्धांत में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन अथवा संशोधन नहीं किया था । अपनी पुस्तक के इस द्वित्तीय संस्करण की प्रस्तावना में उन्होंने संवेगवाद और नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में जो कुछ कहा है उससे इस तथ्य की पूर्णतः पुष्टि होती है। इस प्रस्तावना में एयर कहते हैं कि उनके संवेगवाद की तीव्र आलोचना की गई है, किन्तु यह आलोचना वास्तव में तर्कीय प्रत्यक्षवाद के उन मूल सिद्धांतों की है जिन पर संवेगवाद को आधारित माना जाता है। इस आलोचना का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि संवेगबाद तर्कीय प्रत्यक्षवाद के आधारभूत सिद्धांतों से स्वतन्त्र है, अतः इन सिद्धांतों के अनुचित सिद्ध हो जाने पर भी इस सिद्धांत का खंडन नहीं होता । उनका मत है कि संवेगबाद के आधार पर उन्होने नैतिक निर्णयों का

जो विश्लेषण किया है वह सत्त्यापन–सिद्धांत तथा तर्कीय प्रत्यक्षवाद के अन्य सिद्धांतों से स्वतन्त्र और अपने आप में उचित एवं युक्ति संगत है। 19 इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण के संबंध में 1946 तक एयर के विचारों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था ।

परन्तु यह कहना उचित नहीं होगा कि एयर ने अपने संवेगवादी सिद्धांत में कभी कोई संशोधन नहीं किया और वे आज भी इस सिद्धांत को उसी प्रकार सत्य मानते हैं जिस प्रकार 1946 में मानते थे। वस्तुतः 1946 के पश्चात नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के विषय में उनके विचारों में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है जिसका यहां उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस संबंध में उन्होंने अपने विचारों में जो संशोधन किया है उस पर स्टीवंसन तथा हेयर के मत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। स्टीवंसन की पुस्तक, 'ऐथिक्स एण्ड लेंग्वेज' 1944 में और हेयर की पुस्तक, 'दी लेंग्वेज ऑफ मॉरल्ज़' 1952 में प्रकाशित हुई थी। इन दोनों पुस्तकों के पश्चात् 1954 में एयर की पुस्तक, 'फिलॉसॉफिकल एसेज' प्रकाशित हुई थी। जिसमें उनका एक निबन्ध, 'ऑन दि ऐनालिसिस ऑफ मॉरल जजमैंट्स' भी संकलित है। इसी निबन्ध में उन्होंने नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के सम्बन्ध में अपना संशोधित संवेगवादी सिद्धांत प्रस्तुत किया है। इस निबंध को ध्यानपूर्वक पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसे लिखने से पूर्व एयर ने संभवतः स्टीवंसन और हेयर की उपयुक्त पुस्तकों का अध्ययन किया था । हम आगे देखेंगे कि अपने उक्त निबंध में उन्होंने नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के विषय में जो कुछ कहा है उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है। इन निर्णयों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्टीवंसन और हेयर की अनेक मान्यताओं को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है।

हम देख चुके हैं कि 'लेंग्वेज, टूथ एण्ड लॉजिक' में एयर ने नैतिक निर्णयों की तथ्यात्मक सार्थकता का पूर्णतः निषेध किया है और उन्हें भावनाओं अथवा संवेगों की अभिव्यक्तियां मात्र माना है। उस समय इन निर्णयों के संबंध में अपना यह मत उन्हें पूर्णतः उचित एवं युक्ति संगत प्रतीत होता था। परन्तु उपर्युक्त निबंध, 'ऑन दि ऐनालिसिस ऑफ मॉरल जजमैंट्स' में एयर ने अपने इस मत की सत्यता में स्वयं ही संदेह व्यक्त किया है। इस संबंध में वे स्पष्ट कहते है कि "धर्मशास्त्रीय और नैतिक कथनों को अब मिथ्या अथवा निरर्थक नहीं माना जाता। उन्हें वैज्ञानिक कथनों से को अब सिया जाता है। जहां तक नैतिक दर्शन का सम्बन्ध है। इसका अर्थ यही है कि नैतिक कथन अदितीय या अनन्य है, और यह प्रयासका अर्थ यही है कि नैति है। यह विचार कि जिन्हें नैतिक कथन कहा जातात सीमा तक सत्यकथन नहीं है। वे किसी वस्तु का वर्णन नहीं करते, वे सरया है। वे वास्तव नहीं हो सकते, एक स्पष्ट अर्थ में निश्चय ही अनुचित है, यद्यपि मैं इसे अब भी स्वीकार करना चाहता हूं। अनुवित नहीं है। जब कोई व्यक्ति किसी कर्म के विषय में नैतिक शब्द का प्रयोग करता है तो यह कहना उचित ही होगा कि वह इसके द्वारा उस कर्म का वर्णन करता है। जब कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय का समर्थन करना चाहता है तो उसके लिए यह कहना पूर्णतः उचित है कि वह निर्णय सत्य है; यदि वह इस निर्णय का विरोध करना चाहता है तो उसके लिए यह कहना पूर्णतया उचित होगा कि वह मिथ्या है। "20 इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि अब एयर को अपना यह मत असंदिग्ध रूप से सत्य प्रतीत नहीं होता कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक तथा भावनाओं या संवेगों की अभिव्यक्तियां मात्र हैं जो न सत्य हो सकती है और न मिथ्या।

परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त उद्धरण में एयर ने नैतिक निर्णयों के विषय में जो विचार व्यक्त किए हैं उनमें स्वतोव्याघात स्पष्टतः बिखाई

देता है। एक ओर तो वे इन निर्णयों के संबंध में अपने पहले मत को निश्चित रूप से अनुचित मानते हैं और दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि वे इसे स्वीकार करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त उद्धरण में जब एयर यह कहते हैं कि नैतिक निर्णय सत्य अथवा मिथ्या हो सकते हैं और किसी कर्म के विषय में नैतिक शब्दों का प्रयोग करके हम उसका वर्णन कर सकते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने संवेगबाद का परित्याग कर रहे हैं। परंतु, जैसाकि हम आगे देखेंगे, वे वास्तव में अब भी इस सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन करते हैं। हां, उपयुक्त उद्धरण के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि संवेगव। द की सत्यता के संबंध में अब वे उतने आश्वस्त नहीं हैं जितने वे अपनी प्रथम पुस्तक, 'लैंग्वेज, टूथ एण्ड लॉजिक' लिखते समय थे। इस पुस्तक में व्यक्त किए गए अपने मत के विपरीत अब एयर यह मानते हैं कि नैतिक निर्णय कुष्ठ विशेष प्रकार के तथ्यों की और संकेत करते हैं जिन्हें उन्होंने 'नैतिक तथ्य' कहा है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'नैतिक तथ्य' में उनका क्या तात्पर्य है। जहां तक मुझे शात है, एयर ने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। परन्तु उनके मतानुसार "यह कहना निस्संदेह उचित है कि नीतिज्ञ अवश्य ही तथ्यात्मक वाक्य – विशेषतः नैतिक तथ्य को व्यक्त करने वाले वाक्य – कहता है। एयर नैतिक तथ्यों को अनुभवाश्चित तथ्यों से निश्चय ही भिन्न प्रकार के तथ्य मानते हलक तथ्यों को इन नैतिक तथ्यों के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कि कहा इस कठिनाई के होते हुए भी एयर के उपयुक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है के होते भी वायर अर्थ के संबंध में उनके मत में कुछ परिवर्तन अवश्य 20 हुआ है।

नैतिक निर्णयों के अर्थ की भांति इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के विषय में भी एयर ने अपने विचारों में कुछ संशोधन किया है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, पहले वे यह मानते थे कि नैतिक निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में किसी प्रकार के

तर्क नहीं दिए जा सकते। परंतु अब वे यह स्वीकार करते हैं कि इन निर्णयों की पुष्टि के लिए कुछ विशेष प्रकार के तर्क देना संभव है। एयर का कथन है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में हम जो तर्क देते हैं उनका उद्देश्य स्वयं हमारी अपनी अथवा अन्य व्यक्तियों की अभिवृत्तियों को परिवर्तित या प्रभा– बित करना ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि हम उस अर्थ में नैतिक निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में तर्क नहीं दे सकते जिस अर्थ में हम वैज्ञानिक तथा अनुभवाधित तथ्यात्मक कथनों के पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क देते हैं। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों का उद्देश्य किन्हीं तथ्यों की पुष्टि करना नहीं, अपितु अभिवृत्तियों में परिवर्तन करना ही होता है। अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए एयर ने लिखा है कि "जिस प्रकार हम अपने सौन्दर्यात्मक निर्णयों के लिए तर्क देते हैं उसी प्रकार हम अपने नैतिक निर्णयों के लिए भी तर्क दे सकते हैं और देते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि ये तर्क इन निर्णयों का समर्थन किस प्रकार करते हैं। तार्किक दृष्टि से नहीं। नैतिक तर्क निगमनात्मक नहीं होते। वैज्ञानिक अर्थ में भी ये तर्क नैतिक निर्णयों का समर्थन नहीं करते। हम यह कह सकते हैं कि हमारे पास अपने नैतिक निर्णयों के लिए प्रमाण है, किंतु हम इस प्रमाण तथा उन नैतिक निर्णयों में मेव नहीं कर सकते जिनके लिए यह प्रमाण माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रमाण बिल्कुल नहीं है। उपर्युक्त प्रश्न के संबंध में मेरा रुसी अब है कि जिन्हें हमारे नैतिक निर्णयों का प्रसस्त तक समझा जाता है वे बक्षी अर्थ में तर्क हैं कि वे हमारी अभिवृत्तियों को निर्धारित करते हैं। के समर्थन में तर्क नहीं दे सकते, किंतु ये निर्णय हमारी जिन अभिवृत्तियों को कार एयर के अनुसार हम ताकिक भवतियों को निर्धारित तो नैतिक निबंधों व्यक्त करते हैं उनका समर्थन करने के लिए हम तर्क अवश्य दे सकते हैं। यहां एयर के विचारों पर स्टीवंसन के मत का प्रभाव स्पष्ट रूप से

दिखाई देता है। इम असे खंड में देखेंगे कि अपनी पुस्तक 'एथिक्स ऐंड लेखेज' में स्टीवेसन से नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तकों के विषय में ऐसे ही विधार व्यक्त किए है। संभवतः उनके इन्ही विचारों से प्रभावित हो कर एयर ने नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के संबंध में अपना उपयूक्त मत प्रस्तुत किया है।

22. नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण से संबंधित एयर के संशोधित विचारों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि उन्होंने अपने संवेगवादी सिद्धांत का परित्याग कर दिया है। वस्तुतः एयर की पुस्तक, 'लेंग्वेज, टूथ ऐंड लॉजिक' के प्रकाशन के पश्चात अनेक दार्शनिकों ने उनके इस सिद्धांत की तीव्र आलोचना की थी। इन दार्श– निकों ने उनके सिद्धांत के विरुद्ध जो आपत्तियां उठाई थीं उनके प्रभाव को समाप्त या कम करनें के लिए ही एयर ने अपने विचारों में कुछ संशोधन किए थे जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। परंतु उनके विचारों में इन संशोधनों का यह अर्थ नहीं है कि अब वे संवेगवाद का समर्थन नहीं करते। वस्तुतः एयर अब भी इस सिद्धांत की आधारभूत मान्यताओं को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। वे अब भी यह मानते हैं कि नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य किन्हीं तथ्यों का वर्णन करना नहीं, अपितु भावनाओं को अभिव्यक्त तथा जागृत करना और अन्य व्यक्तियों को कुछ करने या न करने के लिए प्रेरित करना ही है। उनके निम्नलिखित वक्तव्य से इस तथ्य की भलीभांति पुष्टि होती है:– "जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि नैतिक कथनों का प्रयोग वास्तव में कैसे किया जाता है तो यह मालूम होता है कि ये कथन अन्य प्रकार के कथनों से इतने भिन्न रूप में कार्य करते हैं कि इन्हें एक पूर्णतः भिन्न श्रेणी में रखना ही उचित है। यह कहना उचित होगा कि या तो इन्हें 'कथन' बिल्कुल ही नहीं माना जा सकता, अथवा, यदि यह असुविधाजनक सिद्ध हो तो, कम से कम यह कहा जा सकता है कि ये कथन प्रतिज्ञप्तियां व्यक्त नहीं करते, फलतः नैतिक तथ्यों

जैसी कोई वस्तु नहीं है। "23 एयर के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि वे अब भी संवेगवाद का ही समर्थन करते हैं, किसी संज्ञानात्मक सिद्धांत का नहीं ।

"लेंग्वेज, टूथ एण्ड लॉजिक' की भांति अपने उपर्युक्त निबन्ध में भी एयर ने संवेगबाद का समर्थन करने के लिए प्रकृतिवाद तथा निर्प्रकृतिवाद इन दोनों संज्ञानात्मक सिद्धांतों का खंडन किया है। इन दोनों सिद्धांतों के विरुद्ध उनकी मुख्य आपत्ति यही है कि नैतिक शब्द किंहीं प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुणों का बोध नहीं कराते जैसा कि इन सिद्धांतों के समर्थक मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि नैतिक सब्जे सात तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक शब्दों से मूलतः भिन्न प्रकार के होते हैं जिनका एकमात्र कार्य किन्हीं गुणों का वर्णन करना है। यही कारण है कि गुणबोबक तथ्यात्मक शब्दों के आधार पर नैतिक शब्दों की परि तथ्यात्मक शब्दों के पर्यायों के रूप में नहीं कर सकते, क्योंकि इन दोनों प्रकार भाषा अथवा व्याख्या नहीं की जा सकती। हम नैतिक शब्दों का प्रयोग कभी भी के शब्दों के कार्य तथा उद्देश्य में आधारभूत अन्तर है। कुछ उदाहरणों द्वारा इसी आधारभूत अन्तर को स्पष्ट करते हुए एयर कहते हैं :– "यह कहना कि किसी मनुष्य की अभिप्रेरणायें अच्छी या बुरी थीं यह कहने के समान नहीं है कि वे क्या थी ? यह कहना कि किसी मनुष्य ने उचित अथवा अनुचित कर्म किया यह कहने के समान नहीं है कि उसने क्या किया ? ये नैतिक शब्द तथ्यात्मक नहीं हैं; ये उस वस्तु की किन्हीं विशेषताओं का वर्णन नहीं करते जिसके संबंध में इनका प्रयोग किया जाता है। यह कहना कि 'क' शुभ है केवल यही कहना नहीं है कि 'क' किसी गुण का बोध कराता है। इसका अर्थ यह है कि जिसमें भी वह गुण है उसे महत्त्व दिया जाना चाहिए, उसे प्राप्त करना चाहिए, उसका अनुमोदन करना चाहिए, अन्य वस्तुओं के स्थान पर उसे अस्तित्त्व में लाया जाना चाहिए, इत्यादि । मूल्यों के विषय में बात करना किसी वस्तु के होने या न होने का वर्णन करना नहीं है।

नैतिक समस्या यह है–मुझे क्या करना चाहिए ? मुझे कौन–सा दृष्टिकोण स्वीकार करता चाहिए ? नैतिक निर्णय इस अर्थ में निर्देशात्मक होते हैं।"24

एयर के उपर्युक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि वे नैतिक शब्दों को तथ्यात्मक बशब्दों से मूलतः भिन्न मानते हैं और इसी कारण वे किसी संज्ञानात्मक सिद्धांत का समर्थन नहीं करते । उनका कथन है कि नैतिक शब्द मूलतः मानकीय शब्द होते है जो कुछ विशेष मानकों अथवा प्रतिमानों के आधार पर मनुष्य के चरित्र तथा कर्मों का मूल्यांकन करते हैं, किन्हीं तथ्यों का वर्णनमात्र नहीं । इन शब्दों की यही विशेषता इन्हें 'कठोर', 'कोमल', 'लंबा', 'छोटा', 'लाल', 'हरा' आदि गुणबोधक तथ्यात्मक शब्दों से पृथक् करती है जो केवल वर्णनात्मक होते हैं। इसी आधार पर एयर निर्प्रकृतिवाद का भी खंडन करते हैं। इस सिद्धांत के बिरुद्ध उनका कथन है कि "यदि नैतिक शब्द को मानकीय माना जाता है तो यह तथाकथित निर्प्राकृतिक गुण का केवल वर्णन नहीं करता और यदि यह केवल इस गुण का वर्णन करता है तो यह मानकीय नहीं है और इसलिए यह उन कार्य को संपन्न नहीं करता जिसे नैतिक शब्दों का आवश्यक कार्य माना जाता है।" यहां एयर के मत पर हेयर के विचारों का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। जैसा कि हम तीसरे अध्याय में बता चुके हैं, हेयर ने अपनी पुस्तक, 'दि लेंग्वेज ऑफ मारला' में मुख्यतः इसी तर्फ के आधार पर प्रकृतिवाद को बंडन किया है और उनका यही तर्क निर्भकृतिवाद के विरुद्ध भी समान रूप से लागू होता है। सम्भवतः उनके विचारों से प्रभावित होकर एयर निर्भकृतिवाद के विर उपर्युक्त आपत्ति उठाई है जो निश्चय ही उचित एवं युक्तिसंगत है।

अपने निबंध के अंत में एयर ने कुछ ऐसे आरोपों का उत्तर दिया है जो संवेगवाद के आलोचक इस सिद्धांत के विरुद्ध प्रायः लगाते रहे हैं। इन आरोपों को निराधार तथा मिथ्या बताते हुए एयर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि

एक तटस्थ विश्लेषणात्मक अधिनैतिक सिद्धांत के रूप में संवेगवाद नैतिक निर्णयों की समुचित व्याख्या करता है। संवेगवाद के विरुद्ध प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि इसके अनुसार नैतिक निर्णयों को वास्तव में कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि वे भावनाओं अथवा संवेगों की अभिव्यक्तियां मात्र हैं। इस आरोप का खंडन करते हुए एयर ने लिखा है– "मैं यह नहीं कहता कि आचरण विषयक नियम तुच्छ या महत्त्वहीन हैं अथवा लोगों को उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। इसका कारण यह है कि उक्त निर्णय एक मूल्यात्मक निर्णय है जोन तो मैंने दिया है और न मैं देना चाहता हूं। और यदि मैं यह निर्णय देना भी चाहू तो भी मेरे सिद्धांत के साथ इसका कोई तार्किक संबंध नहीं होगा क्योंकि यह सिद्धांत पूर्णतः विश्लेषणात्मक है। उसका उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि नैतिक निर्णय देते समय लोग वास्तव में क्या करते हैं, यह उन्हें इस सम्बन्ध में कोई सुझाव नहीं देता कि उन्हें कौन–से नैतिक निर्णय देने चाहियें । और यही बात संपूर्ण नैतिक दर्शन के विषय में कही जा सकती है जैसा कि मैं इसे समझता हूं। यह भी एक कारण है कि बहुत से लोग नैतिक दर्शन को असंतोषप्रद विषय मानते हैं, क्योंकि हैं नीतिशास्त्र से मार्गदर्शन की अनुचित बाशा करते हैं। "26 इस प्रकार संवेगवाद को आचरण की दृष्टि से तटस्थ अधि– नैतिक सिद्धांत बताते हुए एयर ने इसके विरुद्ध आलोचकों के इस आरोप को अनुचित सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह सिद्धांत नैतिक निर्णयों को अनावश्यक तथा महत्त्वहीन बना देता है।

संवेगबाद के विरुद्ध अनेक दार्शनिकों ने यह आरोप भी लगाया है कि इस सिद्धांत के अनुसार वास्तव में कुछ भी शुभ या अशुभ नहीं है और कोई भी व्यक्ति शुभ–अशुभ के भेद पर विचार किए बिना कुछ भी कर सकता है। संवेगबाद के विरुद्ध इस आरोप का भी एयर दृढ़तापूर्वक खंडन करते हैं। उनका मत है कि यह भी एक मूल्यात्मक निर्णय है जो वे नहीं देना चाहते और जो उनके सिद्धांत का

अनिवार्य ताकिक परिणाम नहीं है। मुख्यतः इसी भाधार पर उन्होंने उक्त आरोप को अनुचित माना है। इस आरोप के विरुद्ध उनका कथन है कि "जब मैं यह कहता हूं कि नैतिक निर्णय वर्णनात्मक नहीं अपितु संवेगात्मक हैं, वे तथ्यात्मक कथन न होकर अभिवृत्तियों को अभिप्रेरित करने बाली अभिव्यक्तियां हैं और परिणामतः वे सत्य अथवा मिथ्या नहीं हो सकते..तो मेरे इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि कुछ भी शुभ या अशुभ, सस्ते या अनुचित नहीं है अथवा इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि हम बया करते हैं। ऐसा कहना स्वयं एक नैतिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करना करता। यह दृष्टिकोण मेरे सिद्धांत का अनियार्य निष्कर्ष नहीं है औरत में वास्तव में इसे स्त्रीकार करना चाहता हूं ।... अवश्य ही यह आशा की जाती है कि जिस अर्थ में मैं 'नैतिक दार्शनिक शब्दों' का प्रयोग करता हूं उस अर्थ में भी नैतिक दार्शनिक के अपने नैतिक प्रतिमान होंगे और वह कभी–कभी नैतिक निर्णय भी देगा; परंतु ये नैतिक निर्णय उसके दर्शन के तार्किक परिणाम नहीं हो सकते, क्योंकि नैतिक निर्णयों का विश्लेषण करना स्वयं नैतिक निर्णय देना नहीं है।"27 इस प्रकार एयर के विचार में संवेगवाद के विरुद्ध यह आरोप लगाना अनुचित है कि यह सिद्धांत लोगों के नैतिक आचरण पर अवांछनीय प्रभाव डालता है। सिद्धांतों की तटस्थता के विषय में एयर की उपयुक्त मान्यता केवल अंशतः सत्य है।

5. सी० एल० स्टीवैक्सन

जिन दार्शनिकों ने संवेगबाद के विकास में योगदान किया है उसमें अमेरिकन दार्शनिक सी० एल० स्टीवंसन का नाम सर्वप्रमुख है। कार्नैप और एयर ने संवेगवाद की आधारशिला अवश्य स्थापित कर दी थी, किन्तु इसे पूर्ण विकसित अधि–नैतिक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय स्टीवंसन को ही दिया जा

सकता है। एयर की पुस्तक, 'लैंग्वेज, टूथ एण्ड लॉजिक' के प्रकाशन के पश्चात 1937–38 में स्टीवंसन ने दर्शन विषयक सुविख्यात मासिक पत्रिता' 'माइंड' में कुछ महत्त्वपूर्ण लेख लिखे । इन लेखों में 'दि इमोटिव मीनिंग ऑफ एथिकल टर्स', 'परसुएसिव डैफ़िनिशन्स' तथा 'दि नेचर ऑफएथिकल डिसैग्रीमेंट' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संवेगवाद के विकास के इतिहास में स्टीवंसन के इन लेखों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उन्होंने सर्वप्रथम इन्हीं लेखों में इस सिद्धांत की कुछ आधारभूत मान्यताओं की विस्तार पूर्वक व्याख्या की थी। इन लेखों के पश्चात् 1944 में स्टीवंसन की प्रसिद्ध पुस्तक, 'ऐथिक्स एण्ड लेंग्वेज' प्रकाशित हुई जो आज भी संवेगवाद के अध्ययन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक भानी जाती है। अपनी इस पुस्तक में स्टीवैसन ने संवेगवाद के सभी प्रमुख पक्षों की सविस्तार विवेचना की है। इस पुस्तक का अध्ययन करने से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि इसमें उन्होंने संवेगवाद के विषय में उन विचारों में आवश्यक संशोधन तथा सुधार भी किए हैं जो उनसे पूर्व इस सिद्धांत के संबंध में कानैंप तथा एयर ने प्रस्तुत किए थे। यहां हम स्टीवंसन की इस पुस्तक तथा उनके उपर्युक्त लेखों के आधार पर संवगवाद के संबंध में उनके मत का विवेचन करेंगे । सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि स्टीवैसन के अनुसार नैतिक निर्णयों का अर्थ और स्वरूप क्या है। अपनी उपर्युक्त पुस्तक के प्रथम

अध्याय में उन्होंने स्वयं यही प्रश्न उठाया है। इस पुस्तक के दो मूल उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि "यह पुस्तक सम्पूर्ण नैतिक दर्शन का विवेचन न करके उसके एक विशिष्ट संकुचित भाग का ही विवेचन करती है। इसका प्रथम उद्देश्य 'शुभ', 'उचित', 'न्यायपूर्ण', 'चाहिए' आदि नैतिक शब्दों का अर्थस्पष्ट करना है। इसका दूसरा उद्देश्य उन सामान्य विधियों की व्याख्या करना है जिनके द्वारा नैतिक निर्णयों को प्रमाणित किया जा सकता है अथवा उनकी

पुष्टि की जा सकती है। 29 जैसाकि हम प्रथम अध्याय में बता चुके हैं, स्टीवंसन द्वारा वर्णित उपयुक्त दो उद्दश्य वस्तुतः अधि–नीतिशास्त्र की दो मूल समस्याएं हैं जिन पर सभी प्रमुख अधि–नीतिशास्त्रियों ने अपने–अपने सिद्धांतोनि अनुसार विचार किया है। इन उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि स्टीवेसन भी अपनी उक्त पुस्तक में नैतिक निर्णयों के अर्थ और उनके प्रमाणीकरण की व्याख्या करना चाहते हैं। संभवतः यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य संवेगवाद के अनुसार अधि–नीतिशास्त्र की उपयुक्त दोनों मूल समस्यात्रों का समाधान करना ही है। कार्नेप और एयरकी भांति स्टीवेसन भी यह मानते है कि नैतिक निर्णय संज्ञानात्मक या तथ्यात्मक न होकर मुख्यतः भावात्मक अथवा संवेगात्मक होते हैं। इन निर्णयों का प्रमुख उद्देश्य निर्णीत वस्तुओं के विषय में हमें किन्हीं तथ्यों का बोध कराना नहीं, अपितु वक्ता की भावनाओं या अभि वृत्तियों को व्यक्त करना तथा अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं अथवा अभिन् वृत्तियों को जागृत करके उन्हें कुछ विशेष कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित करना ही है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्टीवेसन यह कहते हैं कि नैतिक निर्णयों का मुख्य अर्थ अनिवार्यतः संवेगात्मक ही होता है। परन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि संवेगात्मक अर्थ के साथ–साथ इन निर्णयों का वर्णनात्मक अर्थ भी अवश्य होता है जो इन्हें पूर्णतः भावनात्मक वाक्यों से पृथक करता है।

नैतिक निर्णयों के उपर्युक्त 'संवेगात्मक' तथा वर्णनात्मक' अर्थ से स्टीवंसन का तात्पर्य है और इन दोनों प्रकार में अर्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध है–इन प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व यहां संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि सामान्यतः 'अर्थ' की परिभाषा अथवा व्याख्या करने के लिए स्टीर्वसन शब्दार्थ विषयक किस सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। जैसाकि हम इस अध्याय के प्रथम खंड में बता चुके हैं, उन्होंने मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार ही भाषा के 'अर्थ'

की व्याख्या की है। वे भाषा के अर्थ के विषय में उस निर्देशात्मक सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते जिसके आधार पर प्रकृतिवादियों तथा निर्प्रकृति– बादियों ने नैतिक निर्णयों क अर्थ की व्याख्या की थी। इस सिद्धांत के विरुद्ध स्टीवैन्सन का कथन है कि हमारी भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जो किसी वस्तु का वर्णन नहीं करते अथवा जो हमें किसी गुण का बोध नहीं कराते किन्तु इन शब्दों का अर्थ अवश्य होता है। 'आह', 'ओह', 'हाय' आदि ऐसे ही शब्द है जिनका केवल संवेगात्मक अर्थ होता है जिसकी व्याख्या निर्देशात्मक सिद्धांत के अनुसार नहीं की जा सकती। इसी कारण उक्त सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए स्टीवैन्सन शब्दार्थ विषयक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का ही समर्थन करते हैं। उनका परिन है। कि इस मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार किसी शब्द के 'अर्थ' को परिभाषा अनिवार्यतः उन व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर ही की जानी चाहिए जो इस शब्द का प्रयोग करते हैं। इसे ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'अर्थ' कहा जा सकता है। 'अर्थ' को शब्द का ही स्वभाव या गुण धर्म माना गया है, उन व्यक्तियों का नहीं जो इस शब्द का प्रयोग करते हैं।"30 वस्तुतः स्टीवंसन का विचार है कि प्रत्येक शब्द में श्रोता और वक्ता को प्रभावित करने की एक विशेष शक्ति होती है जिसे वह लगभग समान परिस्थितियों में बार–बार प्रयुक्त होने के फलस्वरूप प्राप्त करता है। शब्द की इसी शक्ति को वे उसका 'स्वभाव' अथवा 'गुणधर्म' कहते हैं जिसमें उनके अनुसार अनिवार्यतः. उन शब्द का अर्थ निहित रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी शब्द को सुनने अथवा पढ़ने के परिणामस्वरूप मनुष्य के मन में जो प्रतिक्रिया होती है वही उस शब्द का अर्थ है। इस प्रकार स्टीवैसन मनुष्य पर पड़ने वाले प्रत्येक शब्द के मनोवैज्ञानिक प्रभाव के आधार पर ही उस शब्द के अर्थ की व्याख्या करते हैं। संक्षेप में यही उनका शब्दार्थ विषयक

मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है जिसे उन्होंने निर्देशात्मक सिद्धांत के स्थान पर स्वीकार किया है।

अपने उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार ही स्टीवंसन ने नैतिक निर्णयों के संवेगात्म तथा वर्णनात्मक अर्थ की व्याख्या की है। हम ऊपर बता चुके हैं कि उनके विचार में इन निर्णयों का मुख्य अर्थ संवेगात्मक अर्थ है जो इन्हें तथ्यात्मक कयनों से पृथक करता है। अपने इसी संवेगात्मक अर्थ द्वारा नैतिक निर्णय वक्ता की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं और अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जागृत करते हैं। इस संवेगात्मक अर्थ का स्वरूप क्या है और हमारी भाषा के कुष्ठ वाब्द इसे कैसे प्राप्त करते हैं – इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्टीवेंसन कहते है कि "संवेगात्मक अर्थ किसी शब्द की वह शक्ति है जिसे यह शब्द संवेगात्मक परिस्थितियों में बार–बार प्रयुक्त होने के फलस्वरूप प्राप्त करता है और जिसके द्वारा वह अभिवृत्तियों का वर्णन करने के स्थान पर उन्हें जागृत अथवा प्रत्यक्षतः अभिव्यक्त करता है।... इस प्रकार के अर्थ द्वारा नैतिक निर्णय अभिवृत्तियों को परिर्वार्तत करते हैं।... संवेगात्मक अर्थ को वर्णनात्मक अर्थ का सचान लेने की आवस्यत्तिता कहते है। नीतिशास्त्र में तथा अन्य स्थानों पर इसके दुदरयोग किया जाता है। 31 इस संवेगात्मक अर्थ के स्वरूप को भली–भांति अपने समुचित उपयोग हैं और यह आपत्तिजनक तभी होता है जब इसका स्पष्ट करने के लिए स्टीवंसन ने हंसी, उच्छवास कराहट आदि मानवीय अभि– का प्रयोग किए बिना ही इन शारीरिक चेष्टाओं द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं उसी प्रकार हम भाषा के माध्यम से शब्दों के संवेगात्मक अर्थ द्वारा भी अपनी इन्हीं भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। 'आह', 'ओह', 'अहा', 'हाय' आदि शब्द भावनाओं या संवेगों को अभिव्यक्त तथा जागृत करने के कारण ही पूर्णतः संवेगात्मक शब्द हैं। ये और इसी प्रकार के अन्य अनेक शब्द किन्हीं तथ्यों का

वर्णन न करके हमारी भावनाओं को अभिव्यका तथा जागृत करते हैं, अतः इन शब्दों का अर्थ संवेगात्मक ही होता है। इन प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्टीवैसन के मतानुसार किसी शब्द का संवेगात्मक अर्थ उसकी वह शक्ति है जिसके द्वारा वह मानवीय भावनाओं या संवेगों को अभिव्यक्त, जागृत अथवा प्रभावित करता है।

परन्तु स्टीवैन्सन का विचार है कि भाषा का वर्णनात्मक अर्थ उपयुक्त संवेगात्मक अर्थ से पर्याप्त सीमा तक भिन्न होता है। जो शब्द हमें किन्हीं तथ्यों, गुणों, सम्बन्धों, स्थितियों या विश्वासों की जानकारी देते हैं उनका अर्थ वर्ण–नात्मक होता है। ऐसे शब्द भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करने के स्थान पर कुछ विशेष तथ्यों का वर्णन करते हैं। इसी कारण इन शब्दों को 'वर्णनात्मक शब्द' कहा जाता है। 'पृथ्वी', 'पुस्तक', 'लंबा', 'काला' आदि शब्द ऐमे ही वर्णनात्मक शब्द हैं। इस प्रकार के वर्णनात्मक शब्दों से हमें किन्हीं तथ्यों ज्ञान प्राप्त होता है, अतः वर्णनात्मक अर्थ का संबंध हमारे ज्ञान से है, भावनाओं अथवा संवेगों से नहीं। अपने उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार इस वर्णनात्मक अर्थ की परिभाषा करते हुए स्टीवेंसन कहते हैं कि "किसी शब्द का वर्णनात्मक अर्थ उसका वह स्वभाव अथवा गुणधर्म है जिसके द्वारा बह 'संज्ञानात्मक' मानसिक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करता है और यहां 'संज्ञानात्मक शाब्द को ऐसे सामान्य अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए जो विश्वास करना, विचार करना, मान लेना आदि विशेष प्रकार की मानसिक क्रियाओं का वोष कराता है। अवश्य ही हमें यह कहकर संतोष करना चाहिए कि वर्णनात्मक बर्ष किसी शब्द का वह गुणधर्म करे संतोष करना बाहिए कि वा। वर्णनात्मक अर्थ भी इस परिभाषा से यह स्पष्ट मान कि स्टोवेसन के अनुसार इस अर्थ का सम्बन्ध अनिवार्यतः ज्ञानात्मयह स्पष्ट है कि स्टीवेसन के अस ही है। करता हर्मनात्मक अर्थ की यह संज्ञानात्मकता हो और

सथगात्मक अर्थ से पृथ करती है। इस प्रकार कानेंप की भांति स्त्मकता ही इसे संवेगात्मकों को दो बसों में विभाजित करते हैं संवेगात्मक कार्य तथा वर्णनात्मक कार्य। जब हम भापा को जागृत करते हैं तो इसे 'संवेगात्मक कार्य' कहा जाता है। परन्तु जब हुन 32. नही पुरत, भाषा के माध्यम से किन्हीं तथ्यों का वर्णन करके दूसरों को इन तथ्यों का बोध कराते हैं तो इसे 'वर्णनात्मक कार्य' की संज्ञा दी जा सकती है। हम देख चुके हैं कि कार्टूप ने भाषा के इन दोनों कार्यों को क्रमशः 'अभिव्यक्तिपरक कार्य' तथा 'प्रतिनिधिक कार्य' कहा है। स्टीवैन्सन ने ऊपर संवेगात्मक अर्थ और वर्णनात्मक अर्थ के विषय में जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि वे भी कार्नैप द्वारा किए गए भाषा के कार्यों के इस वर्गीकारण को स्वीकार करते हैं।

यह सत्य है कि स्टीवंसन के विचार में संवेगात्मक अर्थ तथा वर्णनात्मक अर्थ एक–दूसरे से पर्याप्त सीमा तक भिन्न हैं, किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि इन दोनों प्रकार के अर्थों में कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः स्टीवैन्सन इन दोनों अर्थों में अन्तर स्वीकार करते हुए भी इन्हें परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध मानते हैं । उनका कथन है कि किसी शब्द के दोनों प्रकार के अर्थ हो सकते हैं– अर्थात् वह हमारी भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों को भी प्रभावित कर सकता है और हमारे ज्ञान को भी। वस्तुतः हमारी भाषा में बहुत से सामान्य शब्द ऐसे हैं जो संवेगात्मक भी हैं और वर्णनात्मक भी। ऐसे शब्द प्रसंगानुसार हमारी भावनाओं को व्यक्त तथा जागृत करते हैं और किसी तथ्य या वस्तु का वर्णन करते हैं। उदाहरणार्थ अपने सामान्य अर्थ में हब्शी शब्द वर्णनात्मक है जो हमें एक विशेष जाति का बोध कराता है। परंतु जब हम किसी व्यक्ति को 'हब्शी' कहते हैं तो इस शब्द का अर्थ केवल वर्णनात्मक न होकर संवेगात्मक भी होता है, क्योंकि इस शब्द द्वारा हम व्यक्ति के प्रति तिरस्कार और घृणा की भावना व्यक्त करते हैं।

इसी प्रकार 'स्वतंत्रता', 'समानता', 'संस्कृति', 'साम्यवाद', लोकतंत्र' आदि शब्द वर्णनात्मक होने के साथ–साथ संवेगात्मक भी है जिनके साथ हमारी कुछ विशेष भावनाएं सम्बद्ध हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संवेगात्मक और वर्णनात्मक अर्थ में बहुत घनिष्ठ संबंध है। इन दोनों प्रकार के अर्थों में इसी घनिष्ठ सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए स्टीवैन्सन कहते हैं कि "भाषा में संवेगात्मक तथा वर्णनात्मक अर्थों का विकास दो पूर्णतः भिन्न प्रक्रियाओं का प्रतिनिधित्त्व नहीं करता । इनमें परस्पर निरंतर सम्बन्ध बना रहता है ।... उदाहरणार्थ अमेरिका के अधिकतर लोगों के लिए 'लोकतंत्र' का सुखद संवेगात्मक अर्थ है, क्योंकि यह शब्द जिस प्रणाली का वर्णन करता है उससे वे प्रसन्न होते हैं। "अपनी उत्पत्ति तथा अपने व्यावहारिकप्रयोग में संवेगात्मक और वर्णनात्मक अयों का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक ही संपूर्ण स्थिति के विभिन्न पक्ष हैं, इसके ऐसे 'भाग' नहीं जिन्हें एक–दूसरे से पूर्णतः पृथक करके समझा जा सके लिए इस प्रकार यद्यपि ही जिन्हें एक दूसरे कायों को भली–भांति समझने के लिए संवेगात्त्मक तथा वर्णनात्मक अर्थ को एक–दूसरे से भिन्न मानते हैं, फिर भी उनका निश्चित मत है कि ये दोनों अर्थ घनिष्ठ रूप से परस्पर निरंतर सबद्ध रहते हैं। संवेगात्मक तथा वर्णनात्मक अर्थ के स्वरूप और इन दोनों के सम्बन्ध के विषय में स्टीवैन्सन के मत का विवेचन करने के पश्चात अब इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उनके अनुमार 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों का अर्थ क्या है। अपने सिद्धांत संवेगवाद के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्टीव सन कहते हैं कि सभी नैतिक शब्दों का मुख्य अर्थ संवेगात्मक और गौण अर्थ वर्णनात्मक होता है। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कुछ प्रमुख नैतिक शब्दों के अर्थ पर पृथक–पृथक विचार किया है। उदाहरणार्थ 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द के विषय में उनका कथन है कि अधिकतर प्रसंगों में इसका मुख्य

अर्थ संवेगात्मक ही होता है। मूर की भांति स्टीवंसन भी 'शुभ' को अपरिभाष्य मानते है, किन्तु इसकी अपरिभाप्यता के समर्थन में उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किया है वह मूर द्वारा दिए गए तर्क से पूर्णतः भिन्न है। जैसाकि हम चौथे अध्याय में देख चुके हैं, मूर के मतानुसार 'शुभ' के अपरिभाष्य होने का प्रमुख कारण यह है कि वह सरल, अविश्लेष्य तथा अद्वितीय निर्प्राकृतिक गुण का बोध कराता है। परन्तु स्टीवंसन 'शुभ' की अपरिभाष्यता के सम्बन्ध में मूर के इस मत को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनके विचार में 'शुभ' किसी प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुण का बोध नहीं कराता । मूर के विपरीत वे यह मानते हैं कि 'शुभ' के अरिभाष्य होने का वास्तविक कारण इस शब्द का विशेष संवेगात्मक अर्थ है जिसे किसी अन्य शब्द द्वारा ठीक–ठीक अभि– व्यक्त नहीं किया जा सकता । इसी आधार पर 'शुभ' को अपरिभाष्य बताते हुए स्टीवेसन कहते हैं कि "यदि परिभाषा से यह आशा की जाती है कि यह 'शुभ' के प्रचलित संवेगात्मक अर्थ को सुरक्षित रखे तो 'शुभ' शब्द अपरिभाष्य है। इसका कोई भी ठीक–ठीक संवेगात्मक पर्यायवाची शब्द नहीं है। इस शब्द के अपरिभाध्य होने का कारण वही है जो 'अहा' शब्द के अपरिभाष्य होने का कारण है। इसकी परिभाषा करने के स्थान पर हम इसके अर्थ को स्पष्ट कर सकते हैं। इस प्रकार स्टीवंसन के विचार में शुभ की अपरिभाष्यता का कारण इसका संवेगात्मक अर्थ ही है, किसी सरला अविश्लेष्य तथा अद्वितीय निर्प्राकृतिक गुण की ओर इसका संकेत करना नहीं। संवेगात्मक होता है तो इससे उनका तात्पर्य यह है कि यह शब्द मुख्यतः हमारे स्टीवेन्सन यह कहते हैं कि कुरना नहीं गच्छा' शब्द का प्रमुत्त भई अनुमोदन की भावना को अभिव्यक्त करता है और अन्य व्यक्तियों में इसी भावना को जागृत करता है। इससे स्पष्ट है कि अपने संवेगात्मक अर्थ में 'शुभ' का संबंध हमारे अनुमोदन की भावना से ही है। परन्तु कानेंप और एयर के विपरीत स्टीवैन्सन यह मानते हैं कि संवेगात्मक अर्थ के साथ 'शुभ' का

वर्ण– मात्मक अर्थ भी होता है। इस वर्णनात्मक अर्थ में 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द हमें उस वस्तु के कुछ विशेष गुणों का बोध कराता है जिसे हम 'शुभ' अथवा 'अच्छी' कहते हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "वह एक अच्छा व्यक्ति है" तो इससे हमारा तात्पर्य यह हो सकता है कि वह व्यक्ति उदार, दयालु, स्नेही और ईमानदार है। इस अर्थ में 'अच्छा' शब्द– जो 'शुभ' शब्द का ही पर्याय– वाची है– उस व्यक्ति के इन गुणों का वर्णन करता है। यही कारण है कि इस प्रकार के प्रसंगों में 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द के उक्त अर्थ को स्टीवैन्सन ने 'वर्ण– मात्मक अर्थ' माना है। उनका कथन है कि कुछ अन्य प्रसंगों में इस शब्द का अर्थ 'उपयुक्त', 'प्रभावशाली' अथवा 'प्रथा के अनुरूप' हो सकता है। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते हैं कि "शीत–काल में गर्म कपड़े पहनना अपने आपको स्वस्थ रखने का अच्छा– अर्थात् उपयुक्त या प्रभावशाली – साधन है।" इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि "वृद्ध व्यक्तियों का आदर करना अच्छा– अर्थात् समाज में प्रचलित प्रथा के अनुरूप है।" ऐसे प्रसंगों में स्टीवंसन 'अच्छा' या 'शुभ' शब्द के अर्थ को लगभग पूर्णतः वर्णनात्मक अर्थ मानते हैं । उनका कथन है कि ऐसे प्रसंगों में इस शब्द का संवेगात्मक अर्थ बहुत ही गौण होता है। 35

'शुभ' के विषय में स्टीवैसन के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार तथ्यात्मक शब्दों के विपरीत इस शब्द का अर्थ प्रायः अस्पष्ट तथा अनिश्चित होता है। जब वर्णनात्मक अर्थ में किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के लिए 'अच्छा' या 'शुभ' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि किसी विशेष प्रसंग में यह शब्द उसके किन विशेष गुणों का वर्णन करता है। इसका तात्पर्य यही है कि स्टीवेंसन के अनुसार वर्णनात्मक अर्थ मैं भी 'शुभ' की ठीक–ठीक परिभाषा करना संभव नहीं है। 'शुभ' की भांति अन्य नैतिक शब्दों के अर्थ में भी यही अस्पष्टता और अनिश्चितता अनिवार्यतः पाई तथ्य का

अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि नैतिक शब्दों का प्रयोग एक ही प्रकार जाती है। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए स्टीवेसन कहते हैं कि "हमें इस के नियमों के अनुसार नहीं किया जाता और विश्लेषण उनके किसी एक 'वास्त–विक' अर्थ को नहीं खोज सकता।"3" वस्तुतः इसका कारण यह है कि 'घुम' तथा अन्य नैतिक शब्दों का संवेगात्मक अर्थ प्रायः उनके वर्णनात्मक अर्थ पर निर्भर रहता है और यह वर्णनात्मक अर्थ कभी भी पूर्णतः स्पष्ट तथा निश्चित नहीं होता। इस प्रकार स्टीवेसन के विचार में अस्पष्टता तथा अनिश्चितता नैतिक–शब्दों की अनिवार्य विशेषता है जो इन्हें तथ्यात्मक शब्दों से पृथक् करती है। 'शुभ' की भांति 'उचित', 'कर्तव्य', 'चाहिए' आदि अन्य नैतिक शब्दों को भी स्टीवेसन मुख्यतः संवेगात्मक शब्द ही मानते हैं। परन्तु उनका कथन है कि 'शुभ' तथा इन नैतिक शब्दों के अर्थ में एक महत्त्वपूर्ण अंतर है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। इस अंतर का संबंध इन शब्दों के प्रयोग से है। 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग हम कर्मों के साथ–साथ वस्तुओं तथा व्यक्तियों के लिए भी करते हैं। उदाहरणार्थ हम कहते हैं कि "यह शुभ कर्म है", "यह अच्छी पुस्तक है" अथवा "वह अच्छा व्यक्ति है।" परंतु 'उचित', 'कर्तव्य' और 'चाहिए' का प्रयोग हम मानवीय कमों के संदर्भ में ही करते हैं। हम बहते हैं कि "यह कर्म उचित है", "अमुक कर्म हमारा कर्तव्य है" अथवा "हमें यह कर्म करना चाहिए।" बस्तुओं तथा व्यक्तियों के मूल्यांकन के लिए हम इन शब्दों का प्रयोग नहीं करते । हम यह नहीं कहते कि "वह उचित व्यक्ति है" अथवा "यह उचित पुस्तक है" । परंतु स्टीवेसन का मत है कि यह अंतर केवल भाषा–प्रयोग तक हो सीमित है; इसका नैतिक शब्दों के संवेगात्मक अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस दृष्टि से सभी नैतिक शब्दों का अर्थ लगभग समान है। 'शुभ' की भांति अन्य नैतिक शब्द भी वक्ता की भावनाओं या अभिवृत्तियों को व्यक्त करते हैं और दूसरों में इन भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों को जागृत करते हैं। इस

मुख्य संवेगात्मक अर्थ के साथ–साथ इन नैतिक शब्दों का भी गौण वर्णनात्मक अर्थ अवश्य होता है।

एउचित' का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्टीवेसन कहते हैं कि इस शब्द का प्रयोग हम शिष्यों को कुछ विशेष कर्म करने का प्रोत्साहन देने के लिए करते हैं। जब हम किसी व्यक्ति से यह कहते हैं कि "अमुक वर्ग उचित है" तो हम उसे वह कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। 'अनुचित' शब्द का प्रयोग हम इसके पूर्णतः विपरीत अर्थ में करते हैं। किसी व्यक्ति के कामको अनुचित कह कर हम उसे में 'उचित' तथा 'अनुचित' का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों के आचरण पर मनोवांछित भः अह कर्म न करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार स्टीवेसन के विचार प्रभाव डालना है, अतः इन शब्दों के साथ हमारी भावनाएं या अभिवृत्तियां अनि– वार्यतः संबद्ध रहती हैं। इस दृष्टि से 'शुभ' की भांति ये दोनों शब्द भी मुख्यतः संवेगात्मक हैं। परंतु स्टीवंसन ने इन शब्दों का वर्णनात्मक अर्थ भली–भांति स्पष्ट नहीं किया। संभवतः यह कहा जा सकता है कि 'उचित' का वर्णनात्मक अर्थ है 'किसी विशेष नियम के अनुरूप होना' और अनुचित' का वर्णनात्मक अर्थ है 'इस नियम के विरुद्ध होना'। इसी आधार पर शायद इन शब्दों की वर्णनात्मक परि– भाषा की जा सकती है, किंतु इस संबंध में स्टीवंसन का मत स्पष्ट नहीं है।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, 'उचित' की भांति 'कर्तव्य' और 'चाहिए' का प्रयोग भी कमों के लिए ही किया जाता है। परंतु स्टीवंसन का मत है कि इम समानता के होते हुए भी इन दोनों शब्दों का अर्थ 'उचित' के अर्थ से भिन्न है। 'उचित' और 'कर्तव्य' के अर्थ में सोदाहरण अंतर स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "उदाहरण के लिए इस कथन पर विचार कीजिएः 'अत्यधिक दानशील होना उसके लिए उचित है, किंतु यह उसका कर्तव्य नहीं है– अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि उसे अत्यधिक दानशील होना चाहिए' । स्पष्टतः 'उचित' में बाध्यता का प्रभाव

कम होता है। यह कोई कर्म करने के लिए मनुष्य की प्रशंसा करता है, जबकि 'कर्तव्य' और इसके पर्यायवाची शब्द कोई कर्म न करने लिए उसकी निंदा करते हैं। अमुक कर्म करना वर्तव्य है' का अर्थ यह है कि 'वह कर्म न करना अनुचित है'; इसका अर्थ यह नहीं है कि 'वह कर्म करना उचित है'।"37 वस्तुतः स्टीब्रेसन यह मानते हैं कि 'कर्तव्य' में अनिवार्यता अथवा बाध्यता का तत्त्व अवश्य पाया जाता है, किंतु 'उचित' में इस तत्त्व का अभाव होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो कर्म मनुष्य का कर्तव्य है उसे करने के लिए बह बाध्य है, किंतु जो कर्म उसके लिए केवल उचित है उसे करने के लिए वह वाध्य नहीं है। यही कारण है कि उचित कर्म करने लिए हम मनुष्य की प्रशंसा करते हैं, किंतु जब वह अपने कर्तव्य की पूति करता है तो उसके प्रति हम केवल अपना संतोष ही व्यक्त करते हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य की पूति नहीं करता तो हम उसकी निदा करते हैं, किंतु यदि वह उचित कर्म नहीं करता तो हम उसकी निदा नहीं करते ।

द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। यदि कोई व्यक्ति अपने परिवार का भरण–पोषण नहीं करता तो हम उसकी निंदा करते हैं; परंतु यदि वह ऐसा करता है तो (कर्त्तव्य' और 'उचित कर्म' के उपर्युक्त अंतर को स्टीवेंसन ने एक उदाहरण एस हैं कि यह तो उसका कर्तव्य ही था जिसकी पूर्ति उसने की। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति चिकित्सा संबंधी ज्ञान अथवा किसी अन्य महान् उद्देश्य के लिए अपना जीवन खतरे में डालता है तो हम उसकी प्रशंसा करते हैं, क्योंकि हम यह मानते हैं कि ऐसा करना उसके लिए उचित होते हुए भी उसका कर्तव्य नहीं था। परन्तु यदि वह इस महान् उद्देश्य के लिए अपने जीवन को खतरे में नहीं डालता तो यह उसका कर्तव्य न होने के कारण हम इसके लिए उसकी निदा भी नहीं करते। 38 इस उदाहरण से स्पष्ट है कि स्टीवंसन के मतानुसार 'कर्त्तव्य' से हमें किसी कर्म

को करने की बाध्यता का बोध होता है, किंतु 'उचित' के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता और यही इन दोनों शब्दों के अर्थ में आधारभूत अंतर है।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'कर्तव्य' और 'चाहिए' इन दोनों शब्दों को स्टीवंसन लगभग समानार्थक शब्द ही मानते हैं, क्योंकि उनके विचार में इन दोनों शब्दों का प्रयोग हम लगभग समान परिस्थितियों में करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "अमुक कर्म उसका कर्तव्य है" तो सामान्यतः इससे हमारा तात्पर्य यही होता है कि "वह कर्म उसे करना चाहिए"। स्पष्ट है कि अर्थ की दृष्टि से 'कर्तव्य' और 'चाहिए' में कोई आधारभूत अंतर नहीं है। परन्तु स्टीवेंसन का विचार है कि 'कर्त्तव्य' शब्द का प्रयोग हम केवल नैतिक अर्थ में ही करते हैं, जबकि 'अच्छा' और 'उचित' की भांति 'चाहिए' का प्रयोग निर्नैतिक अर्थों में भी किया जाता है। इस आधार पर इन तीनों शब्दों को 'कर्तब्य' से कुछ भिन्न माना जा सकता है। परंतु नैतिक अर्थ की दृष्टि से 'कर्तव्य' और 'चाहिए' ये दोनों शब्द लगभग समानार्थक ही है। स्टीवेसन के मतानुसार 'शुभ' और 'उचित' की भांति इन दोनों शब्दों का मुख्य अर्थ भी वर्णनात्मक न होकर संवेगात्मक ही है।

नैतिक शब्दों के अर्थ के विषय में अपने उपर्युक्त विचारों के आधार पर ही स्टीवेसन ने नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप की व्याख्या की है। उनका मत है कि ये निर्णय मुख्यतः संवेगात्मक तथा गौण रूप से वर्णनात्मक होते हैं। इन निर्णयों का संवेगात्मक अर्थ इन्हें तथ्यात्मक कथनों से और इनका वर्णनात्मक अर्थ इन्हें पूर्णतः संवेगात्मक वाक्यों से पृथक् करता है। नैतिक निर्णयों का प्रमुख उद्देश्य बक्ता की अभिवृत्तियों को व्यक्त करना उतर है। जैविकतयों की अभिवृत्तियों को वस्तुओं के कुछ विशेष गुणों का भी वर्णन करते हैं। इस प्रकार स्टीवंसन के परिवर्तित या प्रभावित करना ही होता है और अन्य व्यक्तियों की निर्णय निशति

अनुसार नैतिक निर्णयों में संवेगात्मक तथा वर्णनात्मक ये दोनों तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं और यही इन निर्णयों की मुख्य विशेषता है। उपर्युक्त दोनों तत्त्वों के आधार पर उन्होंने नैतिक निर्णयों के अर्थ का विश्लेषण इस प्रकार किया है– (1) "यह शुभ है" का अर्थ यह है कि (क) "मैं इसका अनुमोदन करता हूं"; (ख) "आप भी ऐसा ही कीजिए"। (2) "यह अशुभ है" का अर्थ यह है कि (क) "मैं इसका अननुमोदन करता हूं"; (ख) "आप भी ऐसा ही कीजिए"। (3) "उसे ऐसा करना चाहिए" का अर्थ यह है कि (क) "मैं उसके द्वारा ऐसा न करने का अननुमोदन करता हूं"; (ख) "आप भी ऐसा ही कीजिए"। (4) "यह अनुचित है" का अर्थ यह है कि (क) "मैं इसका अननुमोदन करता हूँ"; (ख) "आप भी ऐसा ही कजिए"। उपर्युक्त नैतिक निर्णयों के अर्थ के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्टीवंसन के विचार में प्रत्येक नैतिक निर्णय में दो तत्त्व अनिवार्यतः पाए जाते हैं। उन्होंने (क) भाग के प्रथम तत्त्व को 'वर्ण– नात्मक' और (ख) भाग के द्वितीय तत्त्व को 'आज्ञात्मक' तत्त्व कहा है। प्रथम तत्त्व वक्ता के अनुमोदन या अननुमोदन से संबंधित अभिवृत्ति का वर्णन करता है बौर दूसरा तत्त्व श्रोता की इसी अभिवृत्ति को प्रभावित अथवा परिवर्तित करता है। स्टीवैसन ने आज्ञात्मक तत्त्व को 'संवेगात्मक तत्त्व' भी कहा है, क्योंकि उनके अनुसार यही तत्त्व अन्य व्यक्तियों की भावनाओं अथवा उनके संवेगों को प्रभादित या परिवर्तित करता है। 39 वस्तुतः यह आज्ञात्मक अथवा संवेगात्मक तत्त्व ही उनके सिद्धांत को व्यक्तिनिष्ठवाद से पृथक् करता है जिसके समर्थक नैतिक निर्णयों के प्रथम वर्णनात्मक तत्त्व के आधार पर ही इन निर्णयों के अर्थ की व्याख्या करते हैं।

अपने उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर नैतिक निर्णयों का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्टीवेसन ने आज्ञात्मक वाक्यों के साथ इन निर्णयों की तुलना की है। उनका विचार है कि तथ्यात्मक कथनों के विपरीत ये निर्णय वास्तव में आज्ञात्मक वाक्यों

की भांति दूसरों को कुछ करने या न करने के लिए प्रेरित करते हैं ! नैतिक निर्णयों और आज्ञात्मक वाक्यों के इस उद्देश्य की समानता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि "आज्ञात्मक तथा नैतिक दोनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग लोगों के लक्ष्यों और आचरण का केवल वर्णन करने की अपेक्षा उन्हें प्रोत्साहित, शरिवर्तित अथवा प्रभावित करने के लिए अधिक किया जाता है। इस दृष्टि से ये दोनों विज्ञान के वाक्यों से भिन्न होते हैं। यह स्पष्ट है कि जिन तकों में अभि– वृत्ति संबंधी असहमति होती है उनमें नैतिक निर्णयों के समान ही आज्ञात्मक हास्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कौन–सा तत्त्व नैतिक कथनों को वैज्ञानिक कथनों से पृथक करता है– इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नैतिक कथनों का अर्थ लगभग और अंशतः आज्ञात्मक होता है। यह आज्ञात्मक अर्थ इस बात की व्याख्या करता है कि अभिवृत्ति सम्बन्धी सहमति तथा असहमति के साथ नैतिक निर्णयों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों है और यह इस बात को भी समझने में हमारी सहायता करता है कि मानकीय नीतिशास्त्र को मनोविज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञानों से किस प्रकार पृथक किया जा सकता है।"40

स्टीवैन्सन के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि कार्नेप तथा एयर की भांति वे भी नैतिक निर्णयों को आज्ञात्मक वाक्यों के समान मानते हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि स्टीवंसन के अनुसार इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः वे यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णयों और आज्ञात्मक वाक्यों में पर्याप्त समानता के होते हुए भी ये दोनों एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। इन दोनों में प्रथम अंतर यह है कि आज्ञात्मक वाक्य किसी व्यक्ति को कुछ करने या न करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से आदेश देते हैं जिसके कारण वह प्रायः उस आदेश का पालन करने के लिए अनिच्छुक हो जाता है। इसके विपरीत नैतिक निर्णय उसे कुछ करने या न करने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से सुझाव देते हैं

अथवा प्रेरित करते हैं, अतः इनके अनुसार आचरण करने के लिए वह स्वेच्छया तत्पर हो जाता है। इस दृष्टि से आज्ञात्मक वाक्यों की अपेक्षा नैतिक निर्णय अपने उद्देश्य में अधिक सफल होते हैं। स्टीवेसन के अनुसार आज्ञात्मक वाक्यों तथा नैतिक निर्णयों में दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि प्रत्यक्षतः आज्ञा देने बाला व्यक्ति अपनी आज्ञा का कारण बताने के लिए प्रायः अपने आप को बाध्य नहीं समझता, किन्तु नैतिक निर्णय देने वाला व्यक्ति अपने निर्णय का कारण बताने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि किन्हीं तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा नैतिक निर्णयों का समर्थन करना अनिवार्य होता है, परन्तु आज्ञात्मक वाक्यों के लिए ऐसा करना अनिवार्य नहीं माना जाता । उपर्युक्त दो भेदों के अतिरिक्त आज्ञात्मक वाक्यों और नैतिक निर्णयों में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर भी होते हैं जिनका उल्लेख स्टीवंसन ने नहीं किया। इस समस्या पर हम प्रस्तुत अध्याय के अंतिम खंड में अधिक विस्तार से विचार बारेंगे। यहां इतना कह देना ही पर्याप्त है कि स्टीवेसन नैतिक निर्णयों तथा आज्ञात्मक वाक्यों में कुछ समानताओं को स्वीकार करते हुए भी उन्हें एक–दूसरे

से भिन्न मानते हैं। नैतिक निर्णयों के उपर्युक्त विश्लेषण में स्टीवंसन ने उनका जो वर्णनात्मक अर्थ बताया है वह उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। हम देख चुके हैं कि उनके अनुसार इन निर्णयों का वर्णनात्मक अर्थ वक्ता के अनुमोदन या अननुमोदन की अभिवृत्ति का वर्णन करता है। परन्तु वास्तव में नैतिक निर्णयों का यह अर्थ वर्णनात्मक न होकर संवेगात्मक ही है, क्योंकि इसके अनुसार ये निर्णय वक्ता की कुछ विशेष भावनाओं या अभिवृत्तियों को व्यक्त करते हैं, निर्णीत वस्तुओं के गुणों का वर्णन नहीं। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि जिसे स्टीवेसन नैतिक निर्णयों का 'वर्णनात्मक अर्थ' मानते हैं वह वस्तुतः उनके संवेगा स्मक अर्थ का ही एक भाग है। संभवतः इसी कारण उन्होने अपनी

पुस्तक, ऐथिक्स एण्ड लैंग्वेज' के उत्तरार्द्ध में स्वयं ही नैतिक निर्णयों का भिन्न वर्णनात्मक अर्थ बताया है जिसमें उन्होंने वक्ता की अभिवृत्तियों के वर्णन का उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत वे यह कहते हैं कि नैतिक निर्णयों का वर्णनात्मक अर्थ वह है जो निर्णीत वस्तुओं के किन्हीं विशेष गुणों का वर्णन करता है। इन निर्णयों के वर्णनात्मक अर्थ के विषय में अपने इस मत को उन्होंने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। "यह शुभ है" का अर्थ यह है कि "इसमें क, ख, ग मामक गुण या सम्बन्ध है।" इसके अतिरिक्त 'शुभ' का प्रशंसामूलक संवेगात्मक अर्थ भी है जिसके द्वारा वह वक्ता के अनुमोदन को अभिव्यक्त करता है और श्रोता में इस अनुमोदन को जागृत करता है। 41 यह समझना कठिन नहीं है कि नैतिक निर्णयों के वर्णनात्मक अर्थ के सम्बन्ध में स्टीवेसन के ये विचार इस अर्थ के विषय में उनके पूर्वोक्त विचारों से बहुत भिन्न है। वस्तुतः वर्णनात्मक अर्थ के स्वरूप के विषय में उनका यही मत उचित और तर्कसंगत है। हम अगले अध्याय में देखेंगे कि हेयर, नावल–स्मिथ आदि अन्य दार्शनिकों ने भी वर्णनात्मक अर्थ के सम्बन्ध में स्टीर्वेसन के उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया है।

परन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्टीवेसन के विचार में नैतिक निर्णयों का यह वर्णनात्मक अर्थ गौण ही होता है और इसमें प्रसंगानुसार अनिवार्यतः परिवर्तन होता रहता है। वर्णनात्मक अर्थ की इस परिवर्तनशीलता के विषय में उनका कथन है कि " 'क शुभ है' इस निर्णय का अर्थ एक श्रोता के निए यह हो सकता है कि 'क' में कुछ गुण हैं और दूसरे श्रोता के लिए इसका कर्ष यह हो सकता है कि 'क' में कुछ अन्य गुण हैं, जबकि बक्ता का तात्पर्य कुष्ठ • स्टीबेसन यह कहते हैं कि नैतिक निर्णयों का वर्णनात्मक अर्थ गौण होता है। उनके अन्य विशेष गुणों के समूह से हो सकता है।"42 ऐसी स्थिति में किसी

नैतिक शब्द का कोई एक निश्चित वर्णनात्मक अर्थ बताना सम्भव नहीं है। इसी कारण अनुसार इन निर्णयों का मुख्य अर्थ संवेगात्मक ही है ओ सदैव इनके गाव सम्बद्ध रहता है और जिसमें प्रसंगानुसार परिवर्तन नहीं होता। इस प्रमुख तथा अपरिवर्तनशील अर्थ के कारण ही नैतिक निर्णय तटस्थ और वर्णनात्मक न होकर सदैव मुख्यतः संवेगात्मक होते हैं। नैतिक निर्णयों के अर्थ के विषय में स्टीवेवत का यह मत कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है– इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत अध्याय के अंतिम खंड में विस्तार से विचार करेंगे।

नैतिक निर्णयों के अर्थ के अतिरिक्त इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के संबंध में भी स्टीवेसन ने विस्तारपूर्वक अपने विचार व्यक्त किए हैं। कार्नेप और एयर के विपरीत वे यह मानते हैं कि इन निर्णयों के समर्थन में कुछ विशेष प्रकार के तर्क देना संभव है। नैतिक निर्णयों की पुष्टि के लिए किस प्रकार के तर्क दिए ज सकते हैं– इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व स्टीवेसन ने यह मूल प्रश्न उठाया है कि नैतिक विवादों में पाई जाने वाली असहमति का वास्तविक स्वरूप क्या है। उनका मत है कि इस मूल प्रश्न का समुचित उत्तर दिए बिना हम उन तथों के स्वरूप के विषय में कुछ नहीं कह सकते जो नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाते हैं। यही कारण है कि अपनी पुस्तक, 'ऐचिक्स एण्ड लेंग्वेज' के प्रथम अध्याय में उन्होंने इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है कि नैतिक विवादों में जो असहमति पाई जाती है वह वास्तव में किस प्रकार की असहमति होती है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए स्टीवंसन ने असहति को मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया है–विश्वास सम्बन्धी असहमति और अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति। उन्होंने इन दोनों प्रकार की असहमतियों के स्वरूप और इनके पारस्परिक संबंध का विस्तृत विवेचन किया है। उनका कथन है कि "हमारा प्रथम प्रश्न सीमित मालूम होते हुए भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा : नैतिक सहमति तथा असहमति का स्वरूप

क्या है? क्या यह सहमति अथवा असहमति प्राकृतिक यह मुख्यतः भिन्न प्रकार की सहमति या असहमति होती है ? 43 जब स्टीवेसन विज्ञानों में पाई जाने वाली सहमति या असहमति के समान होती है अथवा स्या इस प्रश्न को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अथवा मूल प्रश्न कहते हैं तो इससे उनका तालार्थ यही है कि वस्तुतः उक्त प्रश्न के उत्तर के आधार पर ही हम नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तक का स्वरूप निश्चित कर सकते हैं। उक्त दोनो असहमति' का भी उल्लेख किया है जो उनके मतानुसार विश्वास सम्बन्धी प्रकार की असहमतियों के साथ–साथ असहमति का ही एक रूप है। इसी कारण उन्होंने इस असहमति को तीसरे प्रार 43. उन्होंने 'अभिवृत्ति विषयक विश्वास संबंधी की असहमति के रूप में स्वीकार नहीं किया। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कथन है कि असहमति के स्वरूप तथा वर्गीकरण के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है वह सहमति के स्वरूप और वर्गीकरण पर भी समान रूप से लागू होता है।

विश्वास सम्बन्धी असहमति के विषय में स्टीर्बसन का कथन है कि इसका सम्बन्ध हमारे विश्वासों से है जो अनिवार्यतः तथ्यों से सम्बद्ध रहते हैं। प्रायः ये तथ्य ऐसे होते हैं जो हमारे अनुभव तथा निरीक्षण के विषय हो सकते हैं और इसी कारण सामान्य वैज्ञानिक विधियों द्वारा इन तथ्यों पर आधारित विश्वासों की परीक्षा की जा सकती है। जब किसी वस्तु या घटना के विषय में दो व्यक्तियों के विश्वासों में अन्तर अथवा विरोध होता है तो स्टीवंसन के अनुसार इसे ही 'विश्वास सम्बन्धी असहमति' कहा जाता है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति कहता है कि भारत की स्वतन्त्रता के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष सर्वप्रथम 1857 में आरम्भ हुआ और दूसरा व्यक्ति कहता है कि यह संघर्ष सर्वप्रथम 1942 में बारम्भ हुआ तो उनकी इस अमहमति को 'विश्वास सम्बन्धी असह्मति' की संज्ञा दी जाएगी। इसी प्रकार यदि एक व्यक्ति कहता है कि 'गोदान' प्रेमचन्द ने लिखा है और दूसरा

व्यक्ति कहता है कि 'गोदान' जैनेन्द्र ने लिखा है तो उनकी इस असहमति को भी 'विश्वास सम्बन्धी असहमति' ही कहा जाएगा। यदि एक व्यक्ति का कथन है कि मलेरिया मच्छरों के कारण फैलता है और दूसरे व्यक्ति का कयन है कि वह मक्खियों के कारण फैलता है तो इन दोनों व्यक्तियों की यह असहमति भी 'विश्वास सम्बन्धी असहमति' ही होगी। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस प्रकार की असहमति का सम्बन्ध कुछ तथ्यों पर आधारित हमारे विश्वासों से ही है जिन्हें प्रयोग, निरीक्षण आदि वैज्ञानिक विधियों द्वारा सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है। सभी वर्णनात्मक विज्ञानों में प्रायः यही विश्वास सम्बन्धी बसहमति पाई जाती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्टीवंसन के विचार में अभिवृत्ति विषयक विश्वास सम्बन्धी असहमति भी इसी विश्वास सम्बन्धी असहमति का एक रूप है। जब किसी अभिवृत्ति के सम्बन्ध में दो व्यक्तियों के विश्वास एक–दूसरे से भिन्न अथवा परस्पर विरोधी होते हैं तो उनकी इस असहमति को 'अभिवृत्ति विषयक विश्वास सम्बन्धी असहमति' कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि 'क' बहता है कि 'ग', 'ब' को पसन्द करता है अथवा उसका अनुमोदन करता है और कहता है कि 'ज, को पहारदसन्द नहीं करता या उसका अनुमोदन नहीं करहर पति की अहमति को इस प्रकार की असहमति में विश्वासों का सम्बन्ध कुछ वस्तुओं या तथ्यों से न होकर केवल अभिवृत्तियों से ही होता है। इसी कारण स्टीवैसन ने इसे 'विश्वास सम्बन्धी असहमति' के स्थान पर 'अरि वृत्ति विषयक विश्वास सम्बन्धी असहमति' की संज्ञा दी है। फिर भी वे इसे विश्वास सम्बन्धी असहमति से मूलतः भिन्न न मानकर उसी का एक रूप मानते है, क्योंकि अंततः यह असहमति भी दो व्यक्तियों के विभिन्न अथवा विरोधी विश्वासों पर ही आधारित होती है।

परन्तु स्टीवैन्सन का मत है कि अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमत्ति उक्त विश्वास सम्बन्धी असहमति से भिन्न प्रकार की होती है। इस असहमति का सम्बन्ध तथ्यों पर आधारित विश्वासों से न होकर हमारी अभिवृत्तियों, भावनाओं, इच्छाओं तथा आकांक्षाओं से होता है। जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु, घटना अथवा व्यक्ति के विषय में भिन्न–भिन्न या विरोधी अभिवृत्तियां अथवा इच्छाएं व्यक्त करते हैं तो इसे 'अभिवृत्ति' संबंधी असहमति' कहा जाता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि स्टीवैत्सन 'अभिवृत्ति' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में करते हैं जिसके अंतर्गत मनुष्य के संवेग तथा उसकी भावनाएं, इच्छाएं, आकांक्षाएं आदि सम्मिलित है। इससे स्पष्ट है कि उक्त अभिवृति सम्बन्धी असहमति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जब एक व्यक्ति किसी वस्तु, कर्म या व्यक्ति को पसंद करता है अथवा उसका अनुमोदन करता है और दूसरा व्यक्ति हंसी वस्तु, कर्म या व्यक्ति को पसन्द नहीं करता अथवा उसका अननुमोदन करता है तो उन दोनों व्यक्तियों की इस असह मति को 'अभिवृति सम्वन्धी असहमति' की संज्ञा दी जा सकती है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति कहता है कि उसे शास्त्रीय संगीत बहुत अच्छा लगता है और दूसरा व्यक्ति कहता है कि वह शास्त्रीय संगीत को बिल्कुल पसंद नहीं करता तो इन सयों की इस असहमति को 'अभिवृक्ति सम्बन्धी असहमति' कहा जाएगा। वैसा प्रकार यदि एक व्यक्ति कहता है कि गाय बहुत पवित्र तथा हमारी माता के समान है और दूसरा व्यक्ति कहता है कि अन्य पशुओं की भांति गाय भी एक सामान्य पशु है तो इन दोनों व्यक्तियों है कि असमान भी 'अभिवृत्ति सम्बनी वृत्तियों, भावनाओं अथवा इच्छाओं का विशेष स्थान है और यही तथ्य इस असह असहमति' ही होगी। स्पष्ट है कि इस प्रकार की असहमति में मनुष्य की असि मति को विश्वास सम्बन्धी असहमति से पृथक करता है जिसमें तथ्यों पर आधारित विश्वासों का ही प्रमुख स्थान होता है।

मुख्यतः इसी आधार पर स्टीवेन्सन ने विश्वास संबंधी असहमति तथा अभि वृत्ति संबंधी असहमति में अंतर स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि "इन दोनों प्रकार की बसहमतियों में मुख्य अंतर यह है कि विश्वास संबंधी असहमति का संबंध तथ्यों के ठीक–ठीक वर्णन अथवा उनकी ठीक–ठीक व्याख्या से हैं, किन्तु अभिवृत्ति संबंधी असहमति का संबंध इन तथ्यों को पसंद करने अथवा पसंद न करने औरमानवीय प्रयास द्वारा उन्हें नया रूप देने से है।"44 "प्रथम असहमति में ऐसे दो विरोधी विश्वास सम्मिलित होते हैं जो दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते; दूसरी असहमति में ऐसी दो विरोधी अभिवृतियां सम्मिलित होती हैं जिन्हें एक साथ स्वीकार नहीं किया जा संकता।"45 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्टीवैन्सन के मता– नुसार विश्वास संबंधी असहमति तथा अभिवृत्ति संबंधी असहमति ये दोनों भिन्न– भिन्न प्रकार की असहमतियां हैं जिनमें भेद करना आवश्यक है। यह सभव है कि किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना के संबंध में दो व्यक्तियों के विश्वासों में कोई अंतर न हो, किंतु फिर भी उन व्यक्तियों में उसके विषय में अभिवृत्ति संबंधी असहमति हो– अर्थात् एक उसे पसंद करता हो और दूसरा उसे पसंद न करता हो। इसी प्रकार किसी वस्तु, घटना अथवा व्यक्ति के विषय में दो व्यक्तियों की अभिवृत्तियों में कोई अंतर न होते हुए भी उनमें विश्वास संबंधी असहमति हो सकती है। इसका अर्थ यही है कि स्टीवैन्सन के विचार में इन दोनों प्रकार की असहमतियों का पृथक तथा स्वतंत्र अस्तित्त्व है और वे अनिवार्यतः एक–दूसरे पर निर्भर नहीं हैं।

परंतु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त दोनों प्रकार की असहमतियों को एक–दूसरे से पृथक और स्वतंत्र मानते हुए भी स्टीवैन्सन यह स्वीकार करते हैं कि इन दोनों में अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है। उनका विचार है कि हमारे व्यावहारिक जीवन में विश्वास तथा अभिवृतियां प्रायः परस्पर संबद्ध रहते

हैं, अतः इन पर आधारित सहमतियां और असहमतियां भी प्रायः एक साथ पाई जाती हैं। अधिकतर विवादों में विश्वास संबंधी असहमति और अभिवृत्ति संबंधी असहमति इन दोनों को प्रायः देखा जा सकता है। हां, यह अवश्य कहा सस्ता है कि इन दोनों को प्रायवदेवास संबंधी असहमति की प्रधानता होती है और किसी में अभिवृत्ति संबंधी असहमति की । इन दोनों प्रकार की असह– अतियों के पारस्परिक घनिष्ठ संबंध का उल्लेख करते हुए स्टीवैन्सन कहते हैं। असहमतियां एक साथ विद्यमान रहती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे यह बात नहीं है के घनिष्ठ संबंध का केवल एक ही प्रकार की असहमति होती विश्वास तथा हमारी अभिवत्तियों को एक–दूसरे से विल्कुल अलग–अलग नहीं है और दूसरे प्रकार की असहमति का अभाव होता है। प्रायः दोनों प्रकार की किया जाना चाहिए। हमारी अभिवृत्तियों का हमारे विश्वासों पर प्रायः प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार हमारे विश्वास भी हमारी अभिवृत्तियों पर प्रायः प्रभाव पस्तते हैं, क्योंकि जब हम किसी वस्तु के स्वरूप के विषय में अपने विश्वास बदस जाते हैं तो उसके प्रति हमारे अनुमोदन में भी परिवर्तन हो जाता है। फलतः उन दोनों प्रकार की असहमतियों में बहुत घनिष्ठ संबंध होता है जिनकी यहां विवेचना की गई है। वस्तुतः कुछ मामलों में एक असहमति का अस्तित्त्व दूसरी असहमति पर पूर्णतः निर्भर होता है।"46 स्टीवेन्सन के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार अधिकतर विवादों में विश्वास संबंधी असहमति और अभिवृत्ति संबंधी असहमति प्रायः परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहती हैं।

अब इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के संबंध में स्टीवैन्सन के मत पर विचार करना आवश्यक है कि नैतिक विवादों में किस प्रकार की असहमति पाई जाती है। इस संबंध में उनका कथन है कि प्राचीन काल से सभी प्रकार के नैतिक विवादों में केवल विश्वास संबंधी असहमति को ही स्वीकार किया जाता रहा है और अभि–

वृत्ति संबंधी असहमति की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। प्रायः सभी दार्शनिक यही मानते रहे हैं कि नैतिक विवादों में व्यक्तियों के विश्वासों का ही महत्त्व है, उनकी अभिवृत्तियों का नहीं। परंतु स्टीवैन्सन के विचार में नैतिक विवादों के विषय में दार्शनिकों का यह दृष्टिकोण नितांत एकांगी तथा अनुचित है। इसका कारण यह है कि अन्य विवादों की भांति नैतिक विवादों में भी वस्तुतः विश्वास संबंधी असहमति और अभिवृत्ति संबंधी असहमति दोनों ही प्रायः विद्यमान रहती है। जब किसी कर्म के औचित्य के विषय में किन्हीं दो व्यक्तियों में नैतिक विवाद होता है तो इस विवाद में उस कर्म से संबंधित उनके विरोधी विश्वासों के साथ– साथ उनकी विरोधी अभिवृत्तियां भी प्रायः देखी जा सकती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नैतिक विवाद में भाग लेने वाले व्यक्ति विवादास्पद कर्म के विषय में अपने अलग–अलग या विरोधी विश्वासों को व्यक्त करने के अतिरिक्त उसके प्रति अनु– मोदन तथा अननुमोदन संबंधी अपनी विरोधी भावनाओं को भी अवश्य अभिव्यक्त करते हैं। यही कारण है कि कोई भी नैतिक विवाद पूर्णतः तथ्यात्मक नहीं होता। नैतिक विवादों की यही विशेषता उन्हें विज्ञान संबंधी तथा अन्य तथ्यात्मक बिबादों से पृथक करती है। ऐसी स्थिति में स्टीवैन्सन के मतानुसार नैतिक विवादों में अभिवृत्ति संबंधी असहमति की उपेक्षा करते हुए केवल विश्वास संबंधी

असह्मति को ही स्वीकार करना उचित नहीं है। नंतिक विवादों के लिए उपयुक्त दोनों प्रकार की का उल्लेख करते हुए स्टीवेन्सन कहते हैं कि "जब नैतिक समस्याएं विवादास्पद असहमतियों के महत्व हो जाती हैं तो उनमें दोनों प्रकार की असहमतियां सम्मिलित रहती हैं। उनमें लगभग अनिवार्य रूप से विश्वास संबंधी असहमति होती है जिस पर पर्याप्त और समुचित ध्यान देना आवश्यक है; किंतु उनमें अभिवृत्ति संबंधी असहमति भी पाई जाती है। ऐसा विश्लेषण जो व्यावहारिक जीवन में नीतिशास्त्र का संपूर्ण चित्र प्रस्तुत करना

चाहता है उसे सावधानी से इन दोनों तत्त्वों को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए । उसे इनमें से किसी भी एक तत्त्व की उपेक्षा करके केवल दूसरे तत्त्व को ही महत्त्व नहीं देना चाहिए। यदि हमें नैतिक समस्याओं के मूल स्वरूप को समझना है और अपनी उस शक्ति की भी बचत करनी है जो इन समस्याओं के समाधान के लिए लगानी पड़ती है तो हमें नैतिक असहमति के दोनों रूपों पर अवश्य ही समुचित ध्यान देना चाहिए। अभिवृत्तियों तथा विश्वासों दोनों का ही महत्त्व है और इन दोनों को परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध मानकर ही इन्हें समझा जाना चाहिए।"47 इस प्रकार स्टीवैन्सन का यह निश्चित मत है कि नैतिक विवादों में विश्वास संबंधी असहमति और अभिवृत्ति संबंधी असहमति इन दोनों का स्थान है, अतः इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा करना अनुचित तथा अवांछनीय होगा।

परंतु यहां यह उल्लेखनीय है कि नैतिक विवादों के लिए उपर्युक्त दोनों प्रकार की असहमतियों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी स्टीवैन्सन यह मानते है कि वस्तुतः इन विवादों के लिए विश्वास संबंधी असहमति की अपेक्षा अभिवृत्ति संबंधी असहमति का अधिक महत्त्व है। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णय मुख्यतः संवेगात्मक होते हैं जिनके माध्यम से हम अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त कारते हैं और अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जागृत करते हैं। हम देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन के विचार में नैतिक निर्णयों की यही संवेगात्मकता उन्हें तथ्यात्मक कथनों से पृथक करती है जो वर्णनात्मक होने के कारण संवेगात्मक दृ ष्टि से तटस्थ होते हैं और इसी कारण जिनमें हमारे विश्वासों का प्रमुख स्थान होता है। नैतिक निर्णयों के इस संवेगात्मक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए स्टीवेन्सन यह कहते हैं कि नैतिक विवादों के लिए विश्वास संबंधी असहमति की अपेक्षा अभिवृत्ति संबंधी असहमति का अधिक महत्त्व होना स्वाभाविक ही है। बास्तव में यह अभिवृत्ति संबंधी असहमति ही उन विवादों को 'नैतिक विवाद बनाती है

जिन विवर्तित संबंधी अभिवृत्तियों अथवा भावनाएं अनिवार्यतः संवय परती है। यही कारण हमारी नही दाव्यिक्तियों में विवादास्पद बस्तु के विषय में अभिवृत्ति संबंधी असहमतिन्ही समाप्त हो जाने पर उस बस्तु से संबंधित उनका नैतिक विवाद भी समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह अभिवृत्ति संबंधी असहमति नैतिक विवाद से संबद्ध विश्वासों को भी पर्याप्त सीमा तक प्रभावित करती है। इस दृष्टि से भी नैतिक विवादों के लिए इस प्रकार की असहमति का विशेष महत्त्व है।

उपर्युक्त दोनों तथ्यों को ध्यान में रखते हुए स्टीवैन्सन ने नैतिक विवादों के लिए अभिवृत्ति संबंधी असहमति के विशेष महत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया है– "यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि नैतिक विवादों में सामान्यतः विश्वास संबंधी असहमति होती हैं; किंतु उनमें अभिवृत्ति संबंधी असहमति भी पाई जाती है। हम इस बात को चाहे अनुभव करें या न करें, अभिवृत्ति संबंधी असहमति का विशेष महत्त्व यह है कि हम इसे सामान्यतः नैतिक विवादों की मूल विशेषता के रूप में देखते हैं। यह समझना सरल है कि नैतिक विवाद में अभिवृत्ति संबंधी असहमति का प्रमुख स्थान होता है। इसके दो कारण हैं : सर्व– प्रथम अभिवृति संबंधी असहमति यह निश्चित करती है कि इस विवाद के संदर्भ में कौन से विश्वास प्रासंगिक हैं। दूसरा कारण यह है कि कुछ सीमा तक विश्वास संबंधी असहमति के बने रहने पर भी जब अभिवृति संबंधी असहमति समाप्त हो जाती है तो सामान्यतः नैतिक विवाद भी समाप्त हो जाता है।"48 इस प्रकार यद्यपि स्टीवैन्सन नैतिक विवादों के लिए विश्वास संबंधी असहमति तथा अभि– वृत्ति संबंधी असहमति दोनों का महत्त्व स्वीकार करते हैं, फिर भी उनके अनुसार इन विवादों में सामान्यतः अभिवृत्ति संबंधी असहमति का ही प्रमुख स्थान होता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि नैतिक विवादों को समाप्त करने के लिए किस प्रकार की विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। क्या हम इन विवादों का

अंत करने के लिए उन्हीं वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग कर सकते हैं जिनका प्रयोग हम तथ्यात्मक विवादों को समाप्त करने के लिए करते हैं ? अथवा क्या नैतिक विवादों को समाप्त करने के लिए कुछ अन्य विधियों का प्रयोग करता अनिवार्य है ? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर स्टीवैन्सन ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनका मत है कि जो नैतिक विवाद मुख्यतः विश्वास संबंधी असहमति पर बाधारित होते हैं उनका निराकरण प्रयोग, निरीक्षण आदि वैज्ञानिक विधियों द्वारा किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि हमारे विश्वासों का आधार प्रायः कुछ परीक्षा की जा सकती है। जब इन वैज्ञानिक विधिको विधि सहायता से तथ्यों की समुचित परीक्षा कर लेने के फलस्वरूप दो व्यक्तियों के विश्वासों में मतभेद समाप्त हो जाता है तो इन विश्वासों पर आधारित उनके नैतिक विवाद का भी स्वतः अंत हो जाता है। इस संबंध में स्टीवैन्सन कहते हैं– "यह स्पष्ट है कि जिस सीमा तक विवाद में विश्वास संबंधी असहमति पाई जाती है, उसका अंत करने के लिए विज्ञानों की सामान्य विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। यदि विश्वासों की पुष्टि के लिए केवल ये विधियां ही बौद्धिक विधियां हैं – और मैं मानता हूं कि ऐसा ही है – तो मूल्यों से संबंधित विवादों में पाई जाने वाली विश्वास संबंधी असहमति को इन्हीं वैज्ञानिक तथा बौद्धिक विधियों द्वारा समाप्त किया जा सकता है।... प्रारंभ में ये विधियां केवल विश्वास संबंधी सहमति ही स्थापित कर सकती हैं। इसके पश्चात् यदि ये विधियां अभिवृत्ति संबंधी सहमति भी स्थापित करती हैं तो इसका कारण केवल यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि विश्वासों में परिवर्तन के फलस्वरूप अभिवृत्तियों में भी परिवर्तन होता है।"49 इस प्रकार स्टोर्बन्सन के अनुसार बौद्धिक और वैज्ञानिक विधियां मुख्यतः विश्वास संबंधी असह्मति पर आधारित नैतिक विवादों को समाप्त करने में हमारे लिए सहायक हो सकती हैं, अतः इस दृष्टि से इन विधियों के महत्त्व को स्वोकार करना आवश्यक है।

परन्तु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, स्टीवैन्सन यह मानते हैं कि नैतिक विवाद केबल विश्वास सम्बन्धी असहमति पर आधारित नहीं होते; इन विवादों में अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति का ही प्रमुख स्थान होता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि क्या प्रयोग, निरीक्षण आदि वैज्ञानिक विधियां नैतिक विवादों को समाप्त कर सकती हैं। स्टीवैन्सन इस प्रश्न का स्पष्टतः और निश्चित रूप से सकारात्मक उत्तर देते हैं। उनका मत है कि हमारी भावनाओं अथवा अभि– वृश्तियों पर इन वैज्ञानिक विधियों का प्रत्यक्षतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये विधियां केवल विश्वासों के माध्यम से हमारी अभिवृत्तियों को अप्रत्यक्षतः प्रभावित करती हैं। परन्तु हमारी अभिवृत्तियों पर इन वैज्ञानिक विधियों का परोक्ष प्रभाव पड़ना भी अनिवार्य नहीं है। इसका कारण यह है कि ये विधियां नैतिक विवाह में भाग लेने वाले व्यक्तियों की विश्वास संबंधी असहमति का ही निरा– बति के समाप्त हो जाने पर भी उन व्यक्तियों में अभिवृत्ति संबंधी असहमति करण कर सकती हैं, किंतु हम देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन के अनुसार इस असह बनी रह सकती है जिसके फलस्वरूप उनका नैतिक विवाद भी पूर्ववत् बना रह सकता है। किसी कर्म के स्वरूप तथा परिणामों के विषय में दो व्यक्तियों के विश्वासों में पूर्ण समानता के होते हुए भी उनमें अभिवृत्ति संबंधी असहमति हो सकती है–अर्थात् उन्हीं विश्वासों के कारण एक व्यक्ति उस कर्म का अनुमोदन कर सकता है और दूसरा उसका अननुमोदन कर सकता है।

उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्टीवैन्सन कहते हैं– "कम से कम तार्किक दृष्टि से यह संभव है कि यद्यपि दो व्यक्तियों के सभी विश्वास समान हों और यद्यपि उनमें से किसी ने भी तार्किक या आगमनात्मक भूल न की हो अथवा किसी प्रासंगिक प्रमाण की उपेक्षा न की हो, फिर भी उन दोनों व्यक्तियों में अभिवृत्ति संबंधी असहमति विद्यमान हो। पूर्ण वैज्ञानिक सत्य से भली–भांति अवगत

होते हुए भी अपने स्वभाव, प्रारम्भिक प्रशिक्षण अथवा सामाजिक स्थिति में भिन्नताओं के कारण दो व्यक्ति भिन्न–भिन्न अभिवृत्तियां बनाए रख सकते हैं। इसी कारण मेरा निष्कर्ष यह है कि 'मानकीय विज्ञानों' में वैज्ञानिक विधियों की वह निश्चित भूमिका नहीं हो सकती जो प्राकृतिक विज्ञानों में होती है। यह संभव है कि वैज्ञानिक ज्ञान का विकास मूल्यों से संबंधित बहुत–से विवादों को स्थाई रूप से अनिर्णीत ही छोड़ दे। विज्ञान की पूर्णतः बौद्धिक विधियां और वास्तव में तर्कना संबंधी सभी विधियां – मूल्यों से सम्बन्धित विवादों को समाप्त करने में अपर्याप्त सिद्ध हो सकती हैं, यद्यपि वे इसमें बहुत सहायता कर सकती हैं। 50 इस प्रकार स्टीवैन्सन का यह निश्चित मत है कि वैज्ञानिक तथा बौद्धिक विधियों द्वारा ही नैतिक विवादों को पूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये विवाद विश्वास संबंधी असहमति के साथ–साथ अभिवृत्ति संबंधी असहमति पर भी आधारित होते हैं जिस पर इन विधियों का प्रत्यक्ष रूप से कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि स्टीवेन्सन के अनुसार नैतिक विवादों का अंत करने के लिए वैज्ञानिक विधियों के अतिरिक्त अन्य कौन–सी विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में उनका कथन है कि मुख्यतः अभिवृत्ति संबंधी असहमति पर आधारित नीत्तर में उनका कथन से के लिए इन बौद्धिक विधियों के साथ–साथ कुछ विशेष निको विवादेवकीयो का भी प्रयोग कर सकते हैं। इन निबों दिक विधियों को उत्हनि यो विक विधियों कहा है। वे ऐसी परिवर्तित करती हैं। उपदेश देना, प्रचार करना, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से या अभिवृत्तियों को प्रत्यक्षतः सुझाव देना, विशेष संवेगात्मक शब्दों द्वारा किसी व्यक्ति को कोई कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित करना आदि उपाय प्रवर्तक विधियों के स्पष्ट उदाहरण हैं। इन विधियों का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों को प्रभावित या परिवर्तित करके उसे किसी विशेष कार्य में प्रवृत्त

करना ही होता है, बौद्धिक ताँ द्वारा किसी सत्य की स्थापना करना नहीं। इसी कारण इन विधियों को 'निर्वोद्धिक प्रवर्तक विधियां' कहा जाता है। यह समझना कठिन नहीं है कि इन विधियों में युक्तियों की अपेक्षा भावनाओं का कहीं अधिक महत्त्व होता है जिग्के माध्यम से ये अपने उपर्युक्त उद्देश्य की पूति करती हैं। स्टीवैन्सन का विचार है कि नैतिक विवादों को समाप्त करने के लिए प्रायः इन प्रवर्तक विधियों का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि इन विवादों में अभिवृत्ति संबंधी असहमति की प्रधानता होती है। नैतिक विवादों की समाप्ति की दृष्टि से इन विधियों के महत्त्व का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि "नैतिक विवाद का समा– घान करने के लिए अभिवृत्ति संबंधी असहमति को दूर करना आवश्यक है जिससे एक पक्ष या दूसरे पक्ष अथवा दोनों पक्षों की अभिवृत्तियों में परिवर्तन हो सके । अभिवृत्तियों को परिवर्तित करने का एक उपाय विश्वासों में परिवर्तन करना है। परन्तु मनुष्य की अभिवृत्तियों को परिवर्तित करने के अन्य उपाय भी हैं जो ऐसे तकों पर निर्भर नहीं हैं जिनके द्वारा विश्वासों में परिवर्तन होता है।''' निर्वाद्धिक विधियों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधि को व्यापक अर्थ में प्रवर्तक बिधि कहा जा सकता है। यह विधि शब्दों के प्रत्यक्ष संवेगात्मक प्रभाव पर ही निर्भर रहती है। श्रोता की अभिवृत्तियों को विश्वासों के परिवर्तन के माध्यम से नहीं, अपितु स्पष्ट या सूक्ष्म, अपरिष्कृत या परिष्कृत उपदेश द्वारा परिवर्तित किया जाता है। "51 इस प्रकार स्टीवैन्सन के अनुसार नैतिक विवाद में भाग लेने बाले व्यक्तियों की अभिवृत्तियों को उक्त प्रवर्तक विधियों द्वारा प्रभावित या परिवर्तित करके इस विवाद को समाप्त किया जा सकता है। परन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्टीवेन्सन इन विधियों को 'निवौं द्धिक' ही मानते हैं, 'बौद्धिक'– अर्थात् तर्कबुद्धि के विरुद्ध – नहीं। ये विधियां इस अर्थ में निवों– द्वित्र हैं कि इनका प्रयोग करने वाला व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए तकौ अबबा युक्तियों का आधार नहीं

लेता; वह कुछ अन्य उपायों द्वारा श्रोता की भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करने का प्रयास करता है। इसी कारण हमारी भाषा में प्रचलित संवेगात्मक शब्दों का इन विधियों के लिए विशेष महत्त्व होता है। हम देख चुके हैं कि स्टीवेसन नैतिक शब्दों तथा निर्णयों को मुख्यतः संवेगात्मक मानते हैं, अतः उनका निश्चित मत है कि नैतिक विवादों की समाप्ति के लिए नियौद्धिक प्रवर्तक विधियों का प्रयोग सफलता– पूर्वक किया जा सकता है।

प्रवर्तक विधियों के महत्त्व के विषय में स्टीवैन्सन ने ऊपर जो कुछ कहा है उसका अर्थ यह नहीं है कि वे नैतिक विवादों के समाधान के लिए बौद्धिक तथा बज्ञानिक विधियों की उपेक्षा करते हैं। वस्तुतः उन्होंने इन विवादों को समाप्त करने के लिए निर्दो द्धिक प्रवर्तक विधियों के साथ–साथ कुछ सीमा तक बौद्धिक और वैज्ञानिक विधियों के महत्त्व को भी स्पष्टतः स्वीकार किया है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, उनके अनुसार नैतिक विवादों में विद्यमान विश्वास सम्बन्धी असहमति का निराकरण निश्चय ही इन बौद्धिक विधियों द्वारा क्रिया जा सकता है, अतः इस दृष्टि से इन विधियों का भी पर्याप्त महत्त्व है। व्याव हारिक जीवन में किसी भी नैतिक विवाद को सुलझाने के लिए हम प्रायः उपर्युक्त दोनों प्रकार की विधियों का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि नैतिक विवादों में प्रायः विश्वास संबंधी असहमति और अभिवृत्ति संबंधी असह– मति दोनों ही पाई जाती हैं। ऐसी स्थिति में इन विवादों की समाप्ति के लिए बौद्धिक तथ निबों द्धिक दोनों प्रकार की विधियों का एक ही साथ प्रयोग करना प्रायः आवश्यक हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक और प्रवर्तक विधियां एक–दूसरे से पूर्णतः पृथक न होकर परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहती हैं। इन दोनों प्रकार की विधियों के इसी पारस्परिक घनिष्ठ संबंध का उल्लेख करते हुए स्टीवैन्सन कहते हैं कि "बहुत–से मामलों में प्रवर्तक और बौद्धिक विधियों में इतना घनिष्ठ संबंध होता है

कि उन्हें पृथक करना बहुत कठिन हो जाता है। केबल प्रवर्तक विधियों का प्रयोग बहुत ही कम किया जाता है। बस्तुतः हमारी भाषा ही हमें ऐसा नहीं करने देती, क्योंकि ऐसे शब्द बहुत ही कम है जिनका केवल संवेगात्मक अर्थ होता है। जिस प्रकार बहुत ही कम सुक्तियां पूर्णतः प्रवर्तक होती है उसी प्रकार बहुत ही कम युक्तियों पूर्णतया बौद्धिक होती हैं। '७४ स्टीवेन्सन के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके मतानु सार नैतिक विवादों के समाधान के लिए प्रवर्तक तथा बौद्धिक दोनों विधियां महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। परन्तु फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि वे इन विवादों को समाप्त करने के लिए वैज्ञानिक एवं बौद्धिक विधियों की अपेक्षा प्रवर्तक विधियों को ही अधिक महत्त्व देते हैं। वे उन दार्शनिकों से सहमत नहीं हैं जो प्रवर्तक विधियों को केवल प्रचार की विधियों माना कर नैतिक विवादों में उन्हें कोई स्थान नहीं देते। इन दार्शनिकों के विपरीत स्टीर्वन्सन का मत है कि संवेगबाद मुख्यतः अभिवृत्ति संबंधी असहमति पर आधारित होने के कारण नैतिक विवादों के समाधान के लिए प्रवर्तक विधियों का विशेष महत्त्व है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि निवौं द्विक प्रवर्तक विधियों के सम्बन्ध में अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर ही स्टीर्वन्सन ने नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तों के स्वरूप तथा उद्देश्य की व्याख्या की है। कार्नैप और एयर के विपरीत वे यह तो मानते हैं कि इन निर्णयों की पुष्टि के लिए कुछ तर्क अवश्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं। परन्तु उनका विचार है कि ये तर्क केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही इन निर्णयों की पुष्टि करते हैं, ताकिक दृष्टि से नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने नैतिक निर्णय के समर्थन में तर्क देता है तो वह इस निर्णय को तार्किक दृष्टि से उचित सिद्ध करने के स्थान पर मनो– इंज्ञानिक दृष्टि से उन व्यक्तियों की अभिवृत्तियों को प्रभावित या परिवर्तित करने का प्रयास करता है जो इस निर्णय का विरोध करते हैं। यदि प्रारम्भ में उसके निर्णय का

विरोध करने वाले ये व्यक्ति उसके तर्कों से प्रभावित होकर अंततः उसके निर्णय को स्वीकार कर लेते हैं तो स्टीवैन्सन के अनुसार यह कहा जा सकता है कि इससे उसके निर्णय की पुष्टि हो जाती है। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों का मुख्य उद्देश्य यही है कि इन निर्णयों के प्रति उदासीन अथवा इनका विरोध करने वाले व्यक्ति अंततः इन्हें स्वीकार कर लें और इनके अनुरूप आचरण करें। जो तर्क अपने इस उद्देश्य में सफल होते हैं उन्हें ही उचित और प्रभावशाली तर्क कहा जा सकता है।

हम देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन के अनुसार प्रत्येक नैतिक निर्णय में अनि– बार्यतः ब्राज्ञात्मक तत्त्व विद्यमान रहता है जिसका उद्देश्य अन्य व्यक्तियों की अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिर्वार्तत करना ही होता है। परन्तु कोई भी व्यक्ति किसी नैतिक निर्णय को स्वीकार करने और उसके अनुरूप आचरण करने के लिए तब तक उद्यत नहीं होता जब तक उसे इस निर्णय के समर्थन में अचित कारण नहीं बताए जाते। ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णय देने वाले व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह अपने निर्णय के समर्थन में उचित कारण या तर्क प्रस्तुत करे। इस प्रकार स्टीवैन्सन के विचार में नैतिक निर्णयों की पुष्टि के लिए तर्क देना केवल वांछनीय ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। नैतिक निर्णयों की पुष्टि के लिए हम जो तर्क अन्तु उनका मत है कि इन निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्क उस कार के नहीं होते है कि कान निर्णयों हमें अपने तथ्यात्मक और तार्किक कथनों देते हैं कथनों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों में पाई जाती है। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले तर्क स्वयं इन निर्णयों को उचित सिद्ध न करके अन्य व्यक्तियों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिर्वार्तत करते हैं। वस्तुतः इसी अर्थ में स्टीवैन्सन ने इन तकों को मनोवैज्ञानिक तर्क कहा है। उनके

विचार में ये मनोवैज्ञानिक तर्क उन तर्कों से मूलतः भिन्न होते हैं जो हम वैज्ञानिक अथवा तथ्यात्मक कथनों की पुष्टि के लिए प्रस्तुत करते हैं।

नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले इन मनोवैज्ञानिक तकों के स्वरूप तथा उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए स्टीवैन्सन ने लिखा है– "जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'क' शुभ है तो उससे यह अनुरोध नहीं किया जाता कि वह 'क' के प्रति अपने अनुमोदन को प्रमाणित करे। उससे ऐसे कारण प्रस्तुत करने का अनुरोध किया जाता है जो उसकी अभिवत्तियों को उसके विरोधी के लिए स्वीकार्य बना दें। इससे यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार ये कारण स्वभावतः प्रमाण संबंधी कुछ उद्देश्यों की पूति करते हैं। ये श्रोता को अपनी इच्छा से नैतिक निर्णय को स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और उसे ऐसा महसूस नहीं होने देते कि यह निर्णय 'मताग्रहपूर्ण', 'अकारण' अथवा 'निराधार' है। इन समर्थक कारणों में ताकिक अनिवार्यता नहीं पाई जाती । जो व्यक्ति विरोधी नैतिक निर्णय देते हैं वे कोई तार्किक या अनुभवात्मक भूल किए बिना इन कारणों के प्रस्तुत किए जाने पर भी ऐसा करते रह सकते हैं। ...जो तर्क नैतिक निर्णय का समर्थन या खंडन करते हैं वे इस निर्णय के साथ केबल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही संबद्ध रहते हैं, तार्किक दृष्टि से नहीं। वे आगमनात्मक रूप से भी इस निर्णय के साथ संबद्ध नहीं रहते जैसे कि निरीक्षित तथ्यों का वर्णन करने वाले कथन नियमों से संबद्ध रहते हैं। वस्तुतः वे इस निर्णय का उसी प्रकार समर्थन करते हैं जिस प्रकार कुछ कारण आज्ञाओं का समर्थन करते हैं। वे अभिवृत्तियों पर पड़ने वाले प्रभाव को अधिक गहरा तथा स्थाई बनाते हैं।' किसी भी विषय से संबंधित कोई भी कथन – जिसे कोई वक्ता अभिवृत्तियों को परिवर्तित करने के लिए पर्याप्त समझता है– नैतिक निर्णय के पक्ष या विपक्ष में तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह तर्क उस निर्णय का वास्तव में समर्थन करेगा अथवा विरोध यह इस बात पर निर्भर

होगा कि श्रोता इसमें विश्वास करता है या नहीं, और यदि वह इसमें विश्वास करता है तो इसके फलस्वरूप उसकी अभिवृत्तियों में वस्तुतः परिवर्तन होता है अबवा नहीं; परन्तु इसे तर्क कहा जा सकता है– चाहे इसे स्वीकार किया जाए या नहीं। "53 इस उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले तर्कों को स्टीवैन्सन ऐसे मनोवैज्ञानिक तर्क मानते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों को इन निर्णयों का समर्थन करने तथा इनके अनुरूप आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करना ही होता है। परन्तु हम इस अध्याय के अंतिम खंड में देखेंगे कि इन तों के स्वरूप तथा उद्देश्य के संबंध में उनकी यह मान्यता उचित, युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद नहीं है और इसके कारण उनका सिद्धांत नितांत एकांगी तथा बहुत दुर्बल हो जाता है।

स्टीवैन्सन के सिद्धांत की इस विवेचना को समाप्त करने से पूर्व यहां इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यद्यपि उनके उपर्युक्त सिद्धांत में अनेक दोष तथा कठिनाइयां हैं जिन पर हम इस अध्याय के अंतिम खंड में विस्तार से विचार करेंगे, फिर भी इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनका सिद्धांत कार्नेप और एयर के सिद्धांत की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं कम आपत्तिजनक है। कार्नेप तथा एयर ने जिस संवेगवादी सिद्धांत की आधारशिला स्थापित की थी उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधन करके स्टीवैन्सन ने उसकी अनेक कठिनाइयों का निराकरण करने का प्रयास किया है। हम देख चुके हैं कि कार्नेप और एयर नैतिक निर्णयों को पूर्णतः संवेगात्मक मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने इन निर्णयों के वर्णनात्मक अर्थ का उल्लेख नहीं किया और इनकी तुलना पूर्णतया संवे– गात्मक तथा विस्मयबोधक वाक्यों के साथ की है। उनके अनुसार 'शुभ', 'उचित' 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्द 'आह' 'ओह', 'अहा', 'हाय', आदि संवेगात्मक शब्दों के समान ही केवल अभिव्यक्तिपरक तथा संवेगोत्पादक हैं। परन्तु,

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मूलतः संवेगबाद का समर्थन करते हुए भी स्टीवैन्सन ने कार्नैप बौर एयर के इस आपत्तिजनक मत को स्वीकार नहीं किया। इन दोनों दार्शनिकों के विपरीत वे नैतिक निर्णयों के वर्णनात्मक अर्थ को भी पर्याप्त महत्त्व देते हैं और उनका मत है कि ये निर्णय भावनाओं को अभिव्यक्त तथा जागृत करने के साथ–साथ निर्णीत बस्तुओं के स्वरूप के विषय में भी हमें कुछ जानकारी अवश्य प्रदान करते हैं। इसका अर्थ यही है कि ये निर्णय पूर्णतः संवेगात्मक न होकर कुछ सीमा तक वर्णनात्मक भी अवश्य होते हैं, क्योंकि कोई भी नैतिक भन्न विस्मयबोधक शब्दों की भांति पूर्णतया संवेगात्मक नहीं होता। इस प्रकार नैतिक निर्णयों के वर्णनात्मक मार्च को उचित महत्त्व देकर स्टीवैन्सन ने कानेंर बऔर एयर के संवगवादी सिद्धांत में निश्चय ही पर्याप्त सुधार किया है। नैतिक निर्णयों के अर्थ की भांति इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के संबंध में अधि–नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धांत भी स्टीवैन्सन का मत कानैंप तथा एयर के मत की अपेक्षा अधिक सतोषप्रद प्रतीत होता है। कानैंप और एयर ने नैतिक निर्णयों के विषय में असहमति तथा उसके निराकरण के लिए किसी प्रकार के तर्कों को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया था। वे यह मानते थे कि इन निर्णयों के संबंध में तर्क देना संभव नहीं है। क्योंकि ये पूर्णतः संवेगात्मक होते हैं। परन्तु स्टीवैत्सन को कानेंप और एयर का यह मत भी स्वीकार्य नहीं है। हम विस्तार से यह बता चुके हैं कि स्टीवैत्सन के अनुसार नैतिक निर्णयों के संबंध में असहमति और उसके निराकरण की विधियों का बहुत महत्त्व है। इसी कारण उन्होंने नैतिक असहमति के स्वरूप तथा उसके निराकरण की विधियों का विस्तृत विवेचन किया है। यह उनके सिद्धांत की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो इसे कार्नैप और एयर के सिद्धांत की अपेक्षा निश्चय ही अधिक व्यापक बनाती है। इसके अतिरिक्त स्टीवैन्सन ने नैतिक निर्णयों की पुष्टि के लिए विशेष प्रकार के मनोवैज्ञानिक तर्कों की

आवश्यकता को भी स्वीकार किया है। वे कार्नेप तथा एयर के इस मत का समर्थन नह करते कि इन निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में किसी प्रकार के तर्क देना संभव नहीं है। इसके विपरीत स्टीवैन्सन यह मानते हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी के नैतिक निर्णय को अकारण ही स्वीकार नहीं करता; वह इसकी पुष्टि के लिए कुछ कारणों या तर्को की मांग करता है जो स्वाभाविक और उचित है। ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णयों के समर्थन में कुछ तर्क देना आवश्यक हो जाता है। इन तकों के अभाव में हम किसी कथन को 'नैतिक निर्णय' की संज्ञा नहीं दे सकते। इस प्रकार नैतिक निर्णयों की पुष्टि के लिए तर्कों को आवश्यक मानकर स्टीवैन्सन ने कार्नेप और एयर के संवेगवादी सिद्धांत में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण सुधार क्रिया है।

परन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कार्नेप तथा एयर के साथ कुछ मतभेद होते हुए भी स्टीवैन्सन मूलतः उसी संवेगवादी सिद्धांत का समर्थन करते हैं जिसका प्रतिपादन इन दोनों दार्शनिकों ने किया था। इन दोनों विचारकों की भांति वे भी यह मानते हैं कि नैतिक निर्णय मुख्यतः संवेगात्मक होते हैं। क्योंकि उनका प्रमुख कार्य अभिवृत्तियों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना ही होता है। इस दृष्टि से वे कार्लेप तथा एयर के इस मत को स्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णय वास्तव में सत्य अथवा मिथ्या नहीं हो सकते। स्टीवैन्सन यह भी मानते हैं कि मुख्यतः संवेगात्मक होने के कारण इन निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में ताकिक अथवा वैज्ञानिक प्रमाण देना संभव नहीं है। इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों के स्वरूप तथा प्रमाणीकरण के संबंध में वे कानें और एयर के विश्लेषण से मूलतः सहमत हैं।

वस्तुतः स्टीवैन्सन ने इन दोनों दार्शनिकों के संवेगयादी सिद्धांत का स्पष्ट रूप से समर्थन किया है। नैतिक निर्णयों के विश्लेषण के संबंध में कानेंप और

एयर के मत की आलोचना का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि "उनके विचारों के विरुद्ध को आलोजनाएं की गई है उनमें समझदारी की अपेक्षा अधीरता ही अवरुद्ध दिखाई देती है। आलोक ने सामास्यतः यह मान लिया है कि सी अधिकत विश्लेषण नीतिशास्त्र की विश्वसनीयता को समाप्त करने का प्रयास करता है। परस्तु उपर्युक्त लेखक अर्थात् कानप और एयर निश्चय ही ऐसे दुर्भावनापूर्ण प्रयोजनों से मुक्त हैं।" आज्ञाओं के साथ नैतिक निर्णयों की तुलना करना इस बात से इकार करना सही है कि आज्ञाओं का महत्त्वपूर्ण उपयोग है। बहना इस कि नैतिक निर्णय न सत्य होते हैं और न मिथ्या' इस बात को मानना नहीं है कि ये निर्णय अकारण अथवा निर्णीत वस्तु के स्वरूप तथा परिणामों को समझ विमा ही दिए जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के अनुसार कानेंप, एयर तथा अन्य दार्शनिकों के विश्लेषण में ऐसा बहुत कुछ है जिसका विरोध करने की अपेक्षा समर्थन अधिक किया जाना चाहिए।"54 कार्नैप और एयर के मत के विषय में स्टीवैन्सन के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वे नैतिक निर्णयों के विश्लेषण के संबंध में इन दोनों दार्शनिकों के संवेगात्मक सिद्धांत को मूलतः स्वीकार करते है। वस्तुतः यही कारण है कि इन तीनों दार्शनिकों को एक ही मूल सिद्धांत – संवेगवाद – का समर्थन करने वाले दार्शनिक माना जाता है।

6. पाल ऐडवर्ड्स

कार्नैप, एयर तथा स्टीवेसन के अतिरिक्त एक अन्य समकालीन दार्शनिक पाल ऐडवर्डस ने भी संवेगवाद के अनुसार ही नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण की व्याख्या की है। 1955 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, 'दि लॉजिक बॉफ़ मॉरल डिस्कोर्स' में उन्होंने मूलतः इसी सिद्धान्त के आधार पर इन निर्णयों के

अर्थ और प्रमाणीकरण का विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अन्य सभी अधि–नैतिक सिद्धान्तों की अपेक्षा संवेगवाद ही अधिक संतोषप्रद सिद्धान्त है। हम आगे देखेंगे कि नैतिक निर्णयों के अर्थ तथा नैतिक असहमति के स्वरूप के विषय में ऐडवर्ड स के विचार स्टीवैन्सन के विचारों से अधिक भिन्न नहीं है, किन्तु इन निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में दिए जाने वाले तर्षों के स्वरूप तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में वे स्टीवैसन के मत को स्वीकार नहीं करते । 208

संवेगबाद के अनुसार नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण का विश्लेषण करने से पूर्व अपनी उपर्युक्त पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही ऐडवर्ड स यह कहते हैं कि उनका मुख्य उद्देश्य तीन प्रश्नों पर विचार करना है जो परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। ये तीन प्रश्न निम्नलिखित हैं–– (1) नैतिक निर्णयों का अर्थ और उद्देश्य क्या है–अर्थात् जब हम नैतिक शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम इन शब्दों का क्या अर्थ समझते हैं? (2) नैतिक असहमति किस प्रकार की

असहमति है– अर्थात् जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु के विषय में परस्पर विरोधी नैतिक निर्णय देते हैं तो उनकी इस असहमति का वास्तविक स्वरूप क्या होता है ? क्या सिद्धान्ततः यह प्रमाणित करना सम्भव है कि इन दो व्यक्तियों में से एक का मत उचित और दूसरे का मत अनुचित है ? (3) क्या ऐसे नैतिक तों को प्रामाणिक माना जा सकता है जिनके आधार–वाक्यों में कोई नैतिक निर्णय निहित नहीं होता – अर्थात् क्या हम निनैतिक आधार–वाक्यों में से किसी नैतिक निर्णय को प्रामाणिक रूप से निगमित कर सकते हैं 255 ऐडवर्ड सने संवेगवाद के अनुसार ही अपनी उपर्युक्त पुस्तक में इन तीनों प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। परन्तु इन प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व वे दो प्रमुख संज्ञा– नात्मक अधि–नैतिक सिद्धान्तों– व्यक्ति–निष्ठवाद तथा अन्तः प्रज्ञावाद – का अनेक प्रबल तर्कों द्वारा खण्डन करते हैं।

व्यक्तिनिष्ठवाद के विरुद्ध ऐडवर्ड स का कथन है कि इस सिद्धान्त के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं वे सभी भ्रामक तथा अविश्वसनीय हैं। उदाहरणार्थ इस सिद्धांत के पक्ष में प्रथम तर्क यह दिया जाता है कि सभी नैतिक प्रश्नों अथवा समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्तियों तथा समुदायों में प्रायः तीव्र मतभेद दिखाई देता है जिससे यही सिद्ध होता है कि नैतिक निर्णय वास्तव में व्यक्तिनिष्ठ हैं। एक समुदाय बहु–पत्नी–प्रथा को उचित मानता है और दूसरा समुदाय इस प्रथा को नितांत अनुचित तथा अनैतिक समझता है। इसी प्रकार एक समुदाय गर्भ– निरोध के साधनों को नैतिक दृष्टि से उचित तथा वांछनीय मानता है और दूसरा समुदाय इन साधनों को मानव–जाति के लिए बहुत बड़ा अभिशाप समझता है। नैतिक समस्याओं के विषय में इस प्रकार के मतभेद से यही निष्कर्ष निकलता है कि नैतिक निर्णय वस्तुनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ ही होते हैं। इस तर्क के विरुद्ध ऐडवर्ड स का कथन है कि इसके द्वारा वास्तव में व्यक्तिनिष्ठबाद की पुष्टि नहीं होती, क्योंकि इसका मुख्य आधार वाक्य ही मिथ्या है। इस तर्क का मुख्य आधार– बाक्य यह है कि जिन विषयों के सम्बन्ध में व्यक्तियों में मतभेद है उनसे संबंधितः सभी कथन केवल व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। परन्तु यह आधार–वाक्य मिथ्या है, क्योंकिः सध्यात्मक और वैज्ञानिक विषयों के सम्वन्ध में भी मनुष्यों में बहुत मतभेद पाया जाता है, किन्तु इस मतभेद के कारण इन विषयों से सम्बन्धित कथनों को कयक्तिनिष्ठ कथन' नहीं माना जाता। इसी आधार पर ऐडवर्ड स ने व्यक्ति– निष्ठबाद के पक्ष में दिए जाने वाले उपर्युक्त तर्क का खण्डन किया है।

इस सिद्धांत के समर्थन में दूसरा तर्क प्रायः यह दिया जाता है कि नैतिक निर्णय मूलतः भावनाओं अथवा संवेगों पर ही आधारित होते हैं, अतः इन निर्णयों को बस्तुनिष्ठ न मानकर व्यक्तिनिष्ठ ही माना जा सकता है। हम तीसरे अध्याय में

देख चुके हैं कि वैस्टरमार्क ने व्यक्तिनिष्ठबाद के पक्ष में मुख्यतः यही तर्क दिया है। इस तर्क को अनुचित मानते हुए ऐडवर्ड स कहते हैं कि सर्वप्रथम इसकी यह आधारभूत मान्यता ही संदेहास्पद है कि नैतिक निर्णयों की उत्पत्ति केवल संवेगों या भावनाओं से ही होती है। फिर यदि इस मान्यता को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि नैतिक निर्णय व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। इस तर्क का यह मुख्य आधार–वाक्य ही मिथ्या है कि जो कथन संवेग का परिणाम है वह सदैव और अनिवार्यतः वक्ता की भावनाओं या अभिवृत्तियों के सम्बन्ध में ही होता है। ऐसा कथन वक्ता की भावनाओं से पृथक किसी अन्य विषय से सम्बन्धित होने के कारण वस्तुनिष्ठ भी हो सकता है। इस प्रकार ऐडवर्ड स के अनुसार संवेगों से नैतिक निर्णयों की उत्पत्ति मान लेने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि ये निर्णय व्यक्तिनिष्ठ हैं, अतः उपर्युक्त तर्क दोषपूर्ण हैं।

व्यक्तिनिष्ठवाद के समर्थन में तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि तथ्यात्मक कथनों के विपरीत नैतिक निर्णयों को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कोई वस्तुनिष्ठ कसौटी नहीं है, अतः इन निर्णयों को व्यक्तिनिष्ठ ही माना जा सकता है। जब दो व्यक्तियों में किसी नैतिक समस्या पर विवाद होता है तो हम उनमें से किसी एक के विचारों को वस्तुनिष्ठ रूप से उचित और दूसरे के विचारों को वस्तुनिष्ठ रूप से अनुचित सिद्ध नहीं कर सकते । यदि नैतिक निर्णय वस्तुपरक कथन होते तो हमारे लिए इन व्यक्तियों में से किसी एक के मत को उचित या अनुचित सिद्ध करना अवश्य ही सम्भव होता । परन्तु बास्तव में हम ऐसा नहीं कर पाते जिससे यही सिद्ध होता है कि नैतिक निर्णय बस्तुनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ ही हैं। इस तर्क के विरुद्ध ऐडवर्डस का कथन है कि यदि हम इसकी मान्यताओं को स्वीकार कर भी लें तो भी इसके द्वारा व्यक्तिनिष्ठबाद की पुष्टि नहीं होती । इसका कारण यह है कि किसी कथन को सत्य अथवा मिथ्या

प्रमाणित करने के लिए वस्तुनिष्ठ कसौटी का अभाव उमे अनिवार्यतः व्यक्तिनिष्ठ कथन सिद्ध नहीं करता। ऐसा कथन वक्ता की अपनी मनोदशा को व्यक्त करने के स्थान पर किसी अन्य वस्तु अथवा समस्या के संबंध मनोदशा कत को अभिव्यक्त कर सकता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में जमक में उसके मको वस्तुनिष्ठ कथन ही मानना पड़ेगा, अब नहीं। इस कथनव ई स के मतानुसार व्यक्तिनिष्ठवाद के पक्ष में दिया जाने वाला उपरंत तर्क भी भ्रमक तथा अविश्वसनीय है।

अन्त में व्यक्तिनिष्ठयाद की पुष्टि के लिए यह तर्क भी दिया जाता है कि जब भी कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय देता है तो वह इस निर्णय के स्थान पर किसी व्यक्ति– निष्ठ कथन को स्वीकार करने के लिए प्रायः उद्यत हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि "अमुक कर्म उचित है" तो यह इस नैतिक निर्णय के स्थान पर प्रायः इस व्यक्तिनिष्ठ कथन को स्वीकार कर लेता है कि 'मैं अमुक कर्म का अनुमोदन करता हूँ"। परन्तु ऐडवर्डस व्यक्तिनिष्ठवाद के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले इस तर्क को भी नितांत आमक तथा दोषपूर्ण मानते हैं। इस तर्क के विरुद्ध उनकी मुख्य आपत्ति यह है कि नैतिक निर्णय तथा व्यक्तिनिष्ठ कथन वास्तव में समानार्थक नहीं होते और न इन्हें समानार्थक माना जाता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दो कथनों पर विचार कीजिए– (1) "हत्या करना अनुचित है"। (2) "मैं हत्या करने का अनुमोदन नहीं करता"। व्यक्तिनिष्ठयाद के अनुसार ये दोनों कथन समानार्थक हैं। परन्तु वास्तव में ये दोनों कथन एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इस का कारण यह है कि जो तथ्य दूसरे कथन को सत्य सिद्ध करते हैं वे पहले कथन को सत्य सिद्ध नहीं करते। इसी प्रकार जो तथ्य दूसरे कथन को मिथ्या सिद्ध करते। वे पहले कथन को मिथ्या सिद्ध नहीं करते । वस्तुतः इन दोनों कथनों में आधारभूत अन्तर यह है कि प्रथम कथन नैतिक निर्णय है जो किसी व्यक्ति के अनुमोदन पर आधारित नहीं हैं किन्तु दूसरा कथन केवल

व्यक्तिनिष्ठ वाक्य है जिसका एकमात्र आधार स्वयं वक्ता का अपना अनुमोदन ही है। इसी कारण प्रथम कथन को वस्तुनिष्ठ नैतिक निर्णय तथा दूसरे कथन को व्यक्तिनिष्ठ वाक्य माना जाता है। इस प्रकार ऐडवर्डस के मतानुसार व्यक्तिनिष्ठावाद के पक्ष में दिया जाने वाला उपर्युक्त तर्क भी अनुचित तथा भ्रामक है। वस्तुतः इस सिद्धांत के विरुद्ध उन्होंने ऊपर ओ आपत्तियां उठाई हैं वे उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत होती हैं।

व्यक्तिनिष्ठवाद की भांति अन्तःप्रज्ञावाद अथवा निर्प्रकृतिवाद का भी ऐडवर्ड स ने दृढ़तापूर्वक खण्डन किया है। इस सिद्धांत के विरुद्ध उनकी प्रभन आपत्ति यह है कि अन्तःप्रज्ञा की तुलना दृष्टि, श्रवण आदि ज्ञानेंद्रियों के साई नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसके सम्बन्ध में सामान्य परिस्थितियों के अन्तर्गत प्रायः मनुष्यों में मतभेद नहीं होता, किन्तु अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त ज्ञान के विषय में विभिन्न व्यक्तियों में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है जिसके निराकरण के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय तथा संतोषप्रद उपाय नहीं है। अन्तः प्रज्ञावाद के विरुद्ध इस आपत्ति पर हम चौथे अध्याय में विस्तार से विचार कर चुके हैं, अतः यहां इसका विस्तृत विवेचन अनावश्यक है। अन्तःप्रज्ञावाद के विरुद्ध ऐडवर्ड स की दूसरी आपत्ति यह है कि यदि 'शुभ', 'उचित', आदि नैतिक शब्द अनिवार्यतः कुछ विशेष निर्प्राकृतिक गुणों या सम्बन्धों का बोध कराते तो किसी भी व्यक्ति के लिए इस सिद्धांत को अस्वीकार करना असम्भव होता। परन्तु यह एक सर्वविदित तथ्य है कि बहुत–से व्यक्ति अन्तःप्रज्ञावाद में विश्वास नहीं करते। इतना ही नहीं, स्वयं अन्तःप्रज्ञावादियों में भी इस सम्बन्ध में मतभेद है कि कौन–सा नैतिक शब्द किस सरलतत्त्व का बोध कराता है और यह सरल तत्व कोई विशेष गुण है अथवा विशेष सम्बन्ध । अन्त में ऐडवर्डस ने अंतःप्रज्ञावाद के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई है कि गणित

सम्बन्धी निर्णयों के साथ नैतिक निर्णयों की तुलना करना अनुचित है, क्योंकि इन दोनों प्रकार के निर्णयों में बहुत अंतर होता है। नैतिक निर्णय गणित के निर्णयों की भांति सार्वभौमिक, देश–कालनिरपेक्ष तथा अपवाद रहित नहीं होते । अन्तः प्रज्ञावाद के विरुद्ध इस आपत्ति पर भी हम चौथे अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं, अतः यहां इसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। संक्षेप में उपर्युक्त सभी आपत्तियों के आधार पर ऐडवर्ड स ने यह सिद्ध किया है कि व्यक्तिनिष्ठबाद की भांति अन्तःप्रज्ञावाद भी युक्तिसंगत और संतोषप्रद सिद्धांत नहीं है।

व्यक्तिनिष्ठवाद तथा अंतःप्रज्ञावाद का खंडन करने के पश्चात ऐडवर्ड स ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में नैतिक निर्णयों और नैतिक शब्दों के अर्थ के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। वे संवेगवाद के समर्थक होते हुए भी अपने अधि– नैतिक सिद्धांत को वस्तुनिष्ठ सिद्धांत मानते हैं। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार नैतिक शब्द अभिवृत्तियों को व्यक्त और जागृत करने के साथ–साथ निर्णीत बस्तुओं के कुछ गुणों की ओर भी अनिवार्यतः संकेत करते हैं जिसके फल स्वरूप नैतिक निर्णयों की वस्तुनिष्ठता बनी रहती है। इस दृष्टि से उनका संवेगवादी सिद्धांत कार्नेप और एयर के संवेगवादी सिद्धांत से निश्चय ही भिन्न है जो नैतिक निर्णयों की वस्तुनिष्ठता का पूर्णतः निषेध करते हैं। परन्तु, जैसाकि हम देख चुके हैं, कार्नेप तथा एयर के विपरीत स्टीवेसन ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि नैतिक शब्द निर्णीत बस्तुओं के कुछ गुणों का वर्णन अवश्य करते हैं। वस्तुतः स्टीवेंसन की इसी मान्यता को अधिक महत्त्व देते हुए ऐडवर्ड स ने अपने संवेगबादी सिद्धांत में वस्तुनिष्ठता बनाए रखने का दावा किया है। परन्तु 212

वास्तविक स्थिति यह है कि इस दृष्टि से उनका मत स्टीवंसन के मत से अधिक भिन्न नहीं है। नैतिक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में स्टीवंसन के उपर्युक्त मत को स्वीकार करने के अतिरिक्त ऐडवर्ड स ने नैतिक असह्मति के स्वरूप तथा

वर्गी– करण के विषय में भी उनके मत का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में हम ऐडवर्ड स के मत पर आगे संक्षेप में विचार करेंगे ।

नैतिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने से पूर्व ऐडवर्ड स ने सी० डी० ब्रोड के मत का अनुसरण करते हुए नैतिक निर्णयों को दो वर्गों में विभाजित किया है– मूल्य सम्बन्धी निर्णय तथा कर्तव्य सम्बन्धी निर्णय । जिन नैतिक निर्णयों में 'शुभ', 'बांछनीय' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है उन्हें ऐडवर्ड स 'मूल्य सम्बन्धी निर्णय' कहते हैं और जिन नैतिक निर्णयों में 'उचित', 'कर्तव्य', 'चाहिए' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है उन्हें वे 'कर्तव्य सम्बन्धी निर्णय' कहते हैं। मूल्य सम्बन्धी निर्णयों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए ऐडवर्ड स ने 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द के स्वरूप का विवेचन किया है और कर्तव्य सम्बन्धी निर्णयों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'चाहिए' शब्द के स्वरूप पर विचार किया है। उनका कथन है कि इन दोनों नैतिक शब्दों के स्वरूप के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा है वह इनसे सम्बद्ध अन्य नैतिक शब्दों के स्वरूप पर भी लागू होता है। अब हम क्रमशः 'शुभ', और 'चाहिए' के अर्थ के सम्बन्ध में ऐडवर्ड स के मत का उल्लेख करेंगे ।

'शुभ' या 'अच्छा' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए ऐडवर्ड स कहते हैं कि यह शब्द एक ही साथ प्रायः दो कार्य करता है। इसका प्रथम कार्य वक्ता के अनुमोदन की अभिव्यक्ति है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को 'शुभ' या 'अच्छी' कहता है तो वह उस वस्तु के प्रति अपने अनुमोदन की भावना को अभिव्यक्त करता है। 'शुभ' अथवा 'अच्छा' शब्द का दूसरा कार्य निर्णीत बस्तु के कुछ गुषों का वर्णन करना है। जब हम किसी वस्तु को 'शुभ' या 'अच्छी' कहते हैं तो हम उसके प्रति अपने अनुमोदन की भावना को अभिव्यक्त करने के साथ–साथ उसके कुछ विशेष गुणों की ओर भी सकत करते कृमि शुभ का यह वर्णनात्मक भावं ही उसे पूर्णतः संवेगात्मक शब्दों से करते हैं। शुभकर अमूल्य संबंधी कृतिक निर्णयों

को बस्तुनिष्ठ बनाता है। पयम करता है और का प्रयोग करते कार्यों को स्वीकार करते हैं जिन्हें उन्होंने क्रमशः 'शुभ' का 'संवेगात्मक अर्थ' हैं। हम पिछले खण्ड में देख चुके हैं है जिनमें हम 'शुभम के उपर्युक्त दोनों बौर 'वर्णनात्मक बर्च' कहा है। वस्तुतः स्टीवंसन के इसी मत का अनुसरण करते हुए ऐडवर्ड स ने 'शुभ' का अर्थ स्पष्ट किया है। स्टीवेंसन की भांति वे भी यह मानते हैं कि किसी प्रसंग में शुभ का संवेगात्मक अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण संवेगवाद होता है और किसी प्रसंग में उसका वर्णनात्मक अर्थ। इसके अतिरिक्त वे स्टीवेसन के इस मत को भी स्त्रीकार करते हैं कि विभिन्न प्रसंगों में 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ भिन्न–भिन्न होता है और इसी कारण इस शब्द के अर्थ में अस्पष्टता का होना अनिवार्य है। हम विविध प्रकार की वस्तुओं को उनके भिन्न–भिन्न गुणों के कारण शुभ कहते हैं, अतः 'शुभ' शब्द के वर्णनात्मक अर्थ में अनिश्चितता और अस्पष्टता आ जाती है। परन्तु प्रायः सभी प्रसंगों में 'शुभ' के संवेगात्मक अर्थ के साथ–साथ उसका यह वर्णनात्मक अर्थ भी अवश्य विद्यमान रहता है।

'शुभ' अथवा 'अच्छा' शब्द के अर्थ के विषय में अपने उपर्युक्त मत को ऐडवई स ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है– जब मैं यह कहता हूँ कि "'क' एक अच्छा व्यक्ति है" तो में 'क' के कुछ विशेष गुणों की ओर संकेत करता हूं। ये गुण उसकी नम्रता, स्नेहशीलता, सत्यनिष्ठा, आत्मत्याग को भावना आदि हो सकते हैं। ऐडवर्डस का कथन है कि ये गुण 'क' को एक अच्छा व्यक्ति बनाते हैं– अर्थात् इन्हीं गुणों के कारण मैं उसे 'अच्छा व्यक्ति' कहता हूँ। 56 उसे 'अच्छा व्यक्ति' कहने का कारण निश्चय ही इन गुणों के प्रति मेरे अनुमोदन की भावना है, किन्तु उसके सम्बन्ध में मेरे नैतिक निर्णय का विषय मेरी यह भावना नहीं, अपितु उस व्यक्ति के ये गुण ही हैं, अतः मेरा यह निर्णय व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ है। नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में अपनी इस मान्यता को ऐडवर्डस

विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अपनी इस मान्यता के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "किसी व्यक्ति अथवा कर्म को शुभ मानने का कारण उस व्यक्ति या कर्म के कुछ गुणों के प्रति मनुष्य का अनुमोदन है, किन्तु जब वह उस व्यक्ति अथवा कर्म को शुभ कहता है तो वह उन गुणों को और ही संकेत करता है, अपने अनुमोदन की ओर नहीं। यह तथ्य मेरी सम्पूर्ण पुस्तक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।... नैतिक निर्णय का अर्थ वक्ता की अभि– भूति द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु यह अभिवृत्ति उसका अर्थ नहीं है। 57 ऐडवर्ड स यह मानते हैं कि इस नैतिक निर्णय का अर्थ निर्णीत वस्तु के गुणों में निहित है जिनके कारण हम उसे शुभ कहते हैं। अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने नैतिक निर्णयों को वस्तुनिष्ठ कहा है।

अपरन्तु प्रश्न यह है कि यदि एक व्यक्ति किसी वस्तु के कुछ विशेष गुणों का अनुमोदन करता है और इन गुणों के कारण उसे शुभ कहता है किन्तु दूसरा व्यक्ति उस वस्तु के उन्हीं गुणों का अननुमोदन करता है और इसी कारण उसे अशुभ कहता है तो इन दोनों व्यक्तियों के इस मतभेद का निराकरण कैसे किया जा सकता है। जहां तक मुझे ज्ञात है, ऐडवर्ड स ने इस आधारभूत प्रश्न पर विचार ही नहीं किया। हां, स्टीवैन्सन ने यह प्रश्न अवश्य उठाया है, किन्तु वे इसे 'अभिवृत्ति सम्बन्धी असहमति' कहकर निर्वाद्धिक प्रवर्तक विधियों को ही इस प्रकार की असहमति के निराकरण का एकमात्र उपाय मानते हैं। यदि स्टीवैन्सन के इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो यह समझना कठिन नहीं है कि नैतिक निर्णयों की वस्तुनिष्ठता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। संभवतः इसी कारण उन्होंने इन निर्णयों की वस्तुनिष्ठता का दावा भी नहीं किया। हम देख चुके हैं कि ऐडवर्ड स यह दावा अवश्य करते हैं, किन्तु उपर्युक्त कठिनाई को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि उनका यह दावा वास्तव में उचित और

युक्तिसंगत नहीं है। यदि किसी वस्तु का शुभ या अशुभ होना अंततः उसके कुछ गुणों के प्रति स्वयं वक्ता के अनुमोदन अथवा अननुमोदन पर ही निर्भर है जैसाकि ऐडवर्ड स मानते हैं तो निश्चय ही वक्ता के नतिक निर्णय की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है। वस्तुतः कोई भी नैतिक निर्णय वस्तुनिष्ठ तभी माना जा सकता है जब वह किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं या अभिवृत्तियों पर निर्भर न होकर निर्णीत वस्तु के कुछ ऐसे गुणों की ओर संकेत करे जो भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों से स्वतन्त्र हों। इस दृष्टि से विचार करने पर ऐडवर्डस के सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णयों को वस्तुनिष्ठ नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे स्पष्ट कहते हैं कि किसी वस्तु का शुभ अथवा अशुभ होना अंततः उसके कुछ विशेष गुणों के प्रति स्वयं वक्ता के अनुमोदन या अननुमोदन द्वारा ही निर्धारित होता है। ऐडवर्ड स के सिद्धांत की इस समस्या पर हम आगे अधिक बिस्तार से विचार करेंगे।

'यशुभ' के पश्चात ऐडवर्ड स ने 'चाहिए' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि 'शुभ' की भांति यह शब्द भी वक्ता के अनुमोदन को अभिव्यक्त करता है, अतः इस दृष्टि से इन दोनों शब्दों के संवेगात्मक अर्थ का कार्य लगभग समान है। जब हम यह कहते हैं कि हमें अथवा किसी अन्य व्यक्ति को अमुक कर्म करना चाहिए तो हम उस कर्म के प्रति अपना अनुमोदन व्यक्त करते हैं। स्पष्ट है कि बक्ता के अनुमोदन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'शुभ' और 'बाहिए के अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त 'शुभ' की भांति 'चाहिए' भरक्षयं भी प्रायः अस्पष्ट तथा अनिश्चित होता है। 'चाहिए' के अर्थ में यह अमरध्दता और अनिश्चितता उन कारणों के फलस्वरूप उत्पन्न होती है जिन्हें हम विभिन्न कर्मों को करने या न करने के लिए प्रस्तुत करते हैं। भिन्न–भिन्न कर्मों को करने या न करने के लिए हम विभिन्न प्रकार के कारण प्रस्तुत करते है, अतः स्पष्ट और निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं है कि हमें कोई विशेष कर्म क्यों करना

चाहिए अथवा क्यों नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ "गर्भपात को वैधानिक दृष्टि से उचित घोषित किया जाना चाहिए" इसके लिए हम जो कारण देते हैं वे "मृत्यु–दण्ड को समाप्त किया जाना चाहिए" इसके लिए प्रस्तुत किए गए कारणों से भिन्न प्रकार के होते हैं। इतना ही नहीं, एक ही कर्म को करने या न करने के लिए भी सभी व्यक्ति सदैव और अनिवार्यतः एक ही प्रकार के कारण प्रस्तुत नहीं करते। ऐसी स्थिति में 'शुभ' के समान ही 'चाहिए' के अर्थ में भी अस्पष्टता और अनिश्चितता का आ जाना अनिवार्य है। 58

परन्तु ऐडवर्ड स का मत है कि इन दोनों शब्दों के अर्थ में उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी 'चाहिए' का अर्थ 'शुभ' के अर्थ से पर्याप्त सीना तक भिन्न है। इन दोनों शब्दों के अर्थ में मुख्य अन्तर यह है कि 'चाहिए' का वैसा वर्णनात्मक अर्थ नहीं होता जैसा 'शुभ' का होता है। हम 'चाहिए' शब्द द्वारा उस कर्म के किन्हीं गुणों की ओर संकेत नहीं करते जिसके सम्बन्ध में हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी कारण हम 'चाहिए' से सम्बन्धित निर्णयों को उस अर्थ में सत्य अथवा मिथ्या नहीं कह सकते जिस अर्थ में हम 'शुभ' से सम्बन्धित निर्णयों को सत्य या मिथ्या कहते हैं। उदाहरणार्थ "यह विधेयक पारित किया जाना चाहिए" इस निर्णय को विधेयक पारित करके अथवा न करके सत्य या मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, विधेयक का पारित होना या न होना इस निर्णय को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं करता। परन्तु ऐडवर्डस का विचार है कि 'शुभ' सम्बन्धी निर्णयों की भांति 'चाहिए' से सम्बन्धित निर्णयों का भी कुछ तथ्यों द्वारा समर्थन या विरोध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ उपर्युक्त निर्णय – "यह विधेयक पारित किया जाना चाहिए" के पक्ष या विपक्ष में कुछ तथ्यात्मक कारण अथवा तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस दृष्टि से 'चाहिए' सम्बन्धी निर्णय 'शुभ' सम्बन्धी निर्णयों के समान ही होते हैं। 59 परन्तु, जैसा कि

हम ऊपर देख चुके हैं, ऐडवर्ड स इन दोनों प्रकार के निर्णयों को एक–दूसरे से भिन्न मानते हैं। उनके मतानुसार इन दोनों प्रकार के निर्णयों में मूल अन्तर यह है कि 'शुभ' सम्वन्धी निर्णय किसी वस्तु का उसके कुछ गुणों के आधार पर मूल्यांकन करते हैं, किन्तु 'चाहिए' सम्बन्धी निर्णय किसी व्यक्ति को कोई कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित अथवा प्रोत्साहित करते हैं। इसी कारण उन्होंने इन दोनों प्रकार के निर्णयों को भिन्न–भिन्न वर्गों के अन्तर्गत रखा है। इस प्रकार ऐडवर्ड स का विचार है कि 'शुभ' और 'चाहिए' के अर्थ में कुछ समानताओं के होते हुए भी इन दोनों शब्दों का अर्थ निश्चय ही एक–दूसरे से भिन्न है।

'शुभ' तथा 'चाहिए' इन दो नैतिक शब्दों के अर्थ के विषय में ऐडवस के उपर्यक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार नैतिक निर्णय सामान्यतः दो कार्य करते है–वक्ता के अनुमोदन वा अननुमोदन की अभिवृत्ति को व्यक्त करना और निर्णीत वस्तु अथवा कर्म के कुछ विशेष गुणों या परिणामों की ओर संकेत करना। हम देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन के मत का अनुसरण करते हुए उन्होंने नैतिक निर्णयों के इन दोनों कार्यों को क्रमशः उनका 'संवेगात्मक अर्थ' और 'वर्णनात्मक अर्थ' कहा है। ऐडवड्स यह मानते है कि सामान्यतः नैतिक निर्णयों में ये दोनों अर्थ अवश्य विद्यमान रहते हैं। इसी कारण ये निर्णय तथ्या– त्मक कथनों और संवेगात्मक वाक्यों दोनों से भिन्न होते हैं। नैतिक निर्णयों का संवेगात्मक अर्थ उन्हें तथ्यात्मक अथवा वैज्ञानिक कथनों से पृथक् करता है और इन निर्णयों का वर्णनात्मक अर्थ इन्हें विशुद्ध संवेगात्मक वाक्यों से अलग करता है। इसके अतिरिक्त वर्णनात्मक अर्थ के कारण नैतिक निर्णय व्यक्तिनिष्ठ कथन अथवा संवेगात्मक अभिव्यक्तियां मात्र न होकर वस्तुनिष्ठ और सार्वलौकिक निर्णय होते हैं। अपने सिद्धान्त के अनुसार नैतिक निर्णयों की उपर्युक्त मूल विशेषताओं को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए ऐडवर्डस कहते हैं– "मेरा विचार यह नहीं है कि नैतिक

निर्णय क्षणिक संवेगों को अभिव्यक्त करने वाले सबै गात्मक निर्णय हैं। वे अभिवृत्तियों को व्यक्त करते हैं और अभिवृत्तियों में बह तत्त्व होता है जिसे 'सार्वभौमिकता का तत्त्व' कहा जाता है। जब मैं यह रहता है कि 'क एक अच्छा व्यक्ति है' तो मैं 'क' के प्रति केवल अपना अनुमोदन ही अभिव्यक्त नहीं करता। मैं उसके प्रति अपना अनुमोदन अथवा अपनी प्रशंसा इसलिए व्यक्त करता हूं कि यह नम्र, सत्य बोलने वाला तथा ईर्ष्या से मुक्त है। मैं यह भी कहता हूं कि, अन्य बातों के समान होने पर, मैं ऐसे प्रत्येक व्यक्ति का अनुमोदन परूंगा जिसमें ये गुण है। "७० इस उदाहरण से साष्ट है कि ऐडबडूत नैतिक निर्णयों में सार्वभौमिकता के तत्त्व कीस जाहरण से सध्या है इसी कारण इन निर्णयों को संवेगात्मक बाक्यों से भिन्न मानते हैं ।

अभी तक हमने नैतिक शब्दों तथा नैतिक निर्णयों के अर्थ के संबंध में ऐडवईत के मत का विवेचन किया है। अब इन नि निर्णयों के अर्थ में दिए जाने बाजे तकों के स्वरूप और उद्देश्य के विषय में भी उनके मत पर विचार करना आवश्यक है। स्टीबैन्सन की भांति वे भी यह मानते हैं कि नैतिक निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं और किए जाते हैं। परन्तु इन तर्कों के स्वरूप तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में वे स्टीवैन्सन के मत को स्वीकार नहीं करते। हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन के अनुसार ये तर्क मनोवैज्ञानिक होते हैं और इनका उद्देश्य विरोधी व्यक्तियों की अभिवृत्तियों को परिवर्तित अथवा प्रभावित करना ही होता है। परंतु स्टीबैन्सन की इस मान्यता के विपरीत ऐडबड्स का कथन है कि ये तर्क वास्तव में मनोवैज्ञानिक नहीं होते, क्योंकि इन का उद्देश्य विरोधियों की अभिवृत्तियों को प्रभावित या परिवर्तित करना न होकर स्वयं नैतिक निर्णयों को उचित अथवा अनुचित सिद्ध करना ही होता है। ये तर्क निर्णीत वस्तुओं या कर्मों के कुछ गुणों अथवा परिणामों पर ही आधारित होते हैं– अर्थात्

हम जिन वस्तुओं या कर्मों के विषय में निर्णय देते हैं उन्हीं के कुछ विशेष गुणों अथवा परिणामों के आधार पर इन निर्णयों की पुष्टि करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "अमुक व्यक्ति एक अच्छा मनुष्य है" तो हम अपने इस निर्णय के समर्थन में ये कारण या तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं कि वह स्नेहशील, नम्र, ईमानदार, सत्य बोलने वाला तथा दयालु है। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि "हमें दूसरों की सहायता करनी चाहिए" तो हम अपने इस निर्णय की पुष्टि के लिए इस कर्म के शुभ परिणामों का वर्णन कर सकते हैं। इन तर्कों द्वारा हम अपने विरोधियों की अभिवृत्तियों को परिवर्तित या प्रभावित करने के स्थान पर उपर्युक्त नैतिक निर्णयों को उचित सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से हमारे ये तर्क मनोवैज्ञानिक प्रवर्तक तहों से भिन्न प्रकार के हैं।

नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले इन तकों के स्वरूप को ऐडवड्स ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है– "जब मैं यह कहता हूं कि कोई व्यक्ति एक अच्छा मनुष्य है तो मैं उसके कुछ विशेष गुणों की ओर संकेत करता हूं। जब मैं 'अच्छा' शब्द का प्रयोग करता हूं तो उस व्यक्ति के चहुत–से गुणों में से कोई भी एक गुण मेरे कथन को सत्य सिद्ध कर सकता है। मैं अभी तक जो कुछ कहता रहा हूं उसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि नैतिक निर्णय अनिवार्यतः 'निराधार' अथवा 'अबौद्धिक' होते हैं। स्टीवेन्सन ने अपनी परवर्ती रचनाओं में भी नैतिक निर्णयों के लिए केवल इसी अर्थ में तकों की संभावना को स्वीकार किया है कि ये तर्फ अभिवृत्तियों को उत्पन्न अथवा परिवर्तित करते हैं।'' इस संबंध में मेरा मत उनके मत के समान नहीं है।"81 वस्तुतः नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले तकों के स्वरूप तथा उद्देश्य के विषय में ऐडवर्ड् स का मत स्टीवैन्सन के मत की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत और संतोषप्रद प्रतीत होता है। हम अगले अध्याय में देखेंगे कि इस संबंध में ऐडवड्स ने आर० एम०

हेयर के मत का ही अनुसरण किया" जिनकी प्रथम पुस्तक 'दि लैंग्वेज ऑफ मॉरल्ज' ऐडबडूस की पुस्तक 'दि लॉजिक ऑफ मॉरल डिस्कोर्स' से तीन वर्ष पूर्व 1952 में प्रकाशित हुई थी।

हम ऊपर बता चुके हैं कि ऐडवर्ड्स ने नैतिक निर्णयों को 'मूल्य संबंधी निर्णय' तथा 'कत्र्तव्य संबंधी निर्णय' इन दो वर्गों में विभाजित किया है। परंतु यहां यह उल्लेखनीय है कि इस वर्गीकरण के अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य दृष्टि– कोण से भी नैतिक निर्णयों का वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण के अनुसार वे इन निर्णयों को 'सामान्य नैतिक निर्णय' तथा 'मूल नैतिक निर्णय' इन दो वर्गों में विभाजित करते हैं। कोई भी वक्ता जिन नैतिक निर्णयों का तर्कों द्वारा समर्थन करता है उन्हें वे 'सामान्य नैतिक निर्णय' कहते हैं। इन निर्णयों की मूल विशेपता यही है कि इनके पक्ष या विपक्ष में तर्क दिए जा सकते हैं और दिए जाते हैं। हमने अभी तक जिन नैतिक निर्णयों के विषय में ऐडवर्ड स के विचारों का उल्लेख किया है उन सबको वे 'सामान्य नैतिक निर्णय' ही मानते हैं। परन्तु उनका मत है कि इन निर्णयों के अतिरिक्त कुछ अन्य नैतिक निर्णय भी होते हैं जिन्हें 'मूल नैतिक निर्णय' कहा जा सकता है। जिन नैतिक निर्णयों के समर्थन में वक्ता कोई भी तर्क नहीं देना चाहता अथवा नहीं दे सकता उन्हें ही ऐडवर्ड स 'मूल नैतिक निर्णय' कहते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "जब कोई व्यक्ति अपने नैतिक निर्णय के समर्थन में किसी प्रकार का तर्क देने में असमर्थ या अनिच्छुक होता है तो हम कहेंगे कि उसने मूल नैतिक निर्णय दिया है। जब वह नैतिक निर्णय का किसी तर्क द्वारा समर्थन कर सकता है तो हम इसे सामान्य नैतिक निर्णय कहेंगे। "62

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इन मूल नैतिक निर्णयों का स्वरूप क्या है। इस प्रश्न के उत्तर में ऐडवर्ड स का कथन है कि ये निर्णय पूर्णतः संवेगात्मक होते हैं और इनका कोई वर्णनात्मक अर्थ नहीं होता। ये केवल वक्ता की अभिवृत्तियों को

व्यक्त करते हैं जिनके लिए वह कोई कारण या तर्क प्रस्तुत नहीं करता अथवा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से ये निर्णय सामान्य नैतिक निर्णयों से पूर्णतः भिन्त प्रकार के होते हैं। ऐडवर्ड स ने मूल नैतिक निर्णयों के निम्नलिखित दो उदाहरण दिए हैं– (1) "बोरी करना नितांत अनुचित है।" (2) "निर्दोष व्यक्ति को दंड देना पूर्णतः अनुचित है।" उनका कथन है कि यदि बक्ता इन निर्णयों की पुष्टि के लिए कोई कारण या तर्क प्रस्तुत नहीं करता या नहीं कर सकता तो इन्हें 'मूल नैतिक निर्णय' कहा जाएगा। इन निर्णयों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ऐडवर्ड स ने लिखा है– "मैं यह कहना चाहता हूं कि इन मूल नैतिक निर्णयों का केवल 'संवेगात्मक अर्थ' होता है। ये लेखक के मत अथवा उसकी अभिवृत्ति को ही व्यक्त करते हैं। जब इन निर्णयों में 'शुभ' या 'अशुभ' के स्थान पर 'उचित', 'अनुचित' अथवा 'चाहिए' का प्रयोग किया जाता है तो सामान्यतः ये निर्णय परामर्शात्मक होते हैं। परन्तु मेरे विचार में मूल नैतिक निर्णयों का कोई वर्णनात्मक अर्थ नहीं होता। मेरा विश्वास है कि 'निर्दोष व्यक्ति को दंड देना पूर्णतः अनुचित है' यह वाक्य एक मूल नैतिक निर्णय है।"63 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्णनात्मक अर्थ से रहित पूर्णतः संवेगात्मक वाक्यों को ही ऐडवर्ड स मूल नैतिक निर्णय' मानते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि इन निर्णयों तथा केवल भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाले पूर्णतः संवेगात्मक वाक्यों में कोई अन्तर नहीं है ।

ऐडवर्ड स इस तथ्य से भली–भांति अवगत हैं कि उन्होंने 'मूल नैतिक निर्णयों' तथा 'सामान्य नैतिक निर्णयों' में जो भेद किया है उस पर आपत्ति की जा सकती है। वे स्वयं यह कहते हैं कि उनकी यह मान्यता नितांत अनुचित प्रतीत हो सकती है कि सभी नैतिक निर्णयों का एक ही प्रकार का अर्थ नहीं होता । परंतु वे अपने सिद्धांत के विरुद्ध इस आपत्ति को उचित नहीं मानते। इस आपत्ति के उत्तर में उनका कथन है कि जिन विशेष परिस्थितियों में मूल नैतिक निर्णय दिए

जाते हैं वे उन परिस्थितियों से बहुत भिन्न होती हैं जिनमें हम सामान्य नैतिक निर्णय देते हैं। वे यह मानते हैं कि यदि हम इस तथ्य को ध्यान में रखें तो उन्होंने उपर्युक्त दोनों प्रकार के निर्णयों में जो भेद किया है उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। परंतु वास्तव में ऐडवर्डस का यह स्पष्टीकरण उचित और संतोषप्रद प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि वे ऐसे संवेगात्मक कथनों को 'मूल नैतिक निर्णय' मान लेते हैं जो वक्ता की भावनाओं को ही अभि– व्यक्त करते हैं और जिनकी पुष्टि के लिए वह किसी प्रकार के कारण या तर्क नहीं देना चाहता अथवा नहीं दे सकता।

परंतु प्रश्न यह है कि क्या ऐसी संवेगात्मक अभिव्यक्तियों को 'नैतिक निर्णय' कहा जा सकता है। मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। यदि इस प्रकार की संवेगात्मक अभिव्यक्तियों को 'नैतिक निर्णय' मान लिया जाए तो व्यक्तिनिष्ठ कथनों और नैतिक निर्णयों में वह भेद पूर्णतः समाप्त हो जाता है जिसे स्वयं ऐडवर्ड स बहुत आवश्यक मानते हैं। हम देख चुके हैं कि व्यक्तिनिष्ठवाद का खंडन करते हुए उन्होंने व्यक्तिनिष्ठ कथनों तथा नैतिक निर्णयों में स्पष्ट रूप से भेद किया है और नैतिक निर्णयों को व्यक्तिनिष्ठ कथनों से मूलतः भिन्न माना है। ऐसी स्थिति में यह बहुत आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि वे स्वयं अपनी ही इस मान्यता का खंडन करते हुए कुछ विशेष व्यक्तिगत संवेगात्मक अभिव्यक्तियों को महत्त्वपूर्ण 'मूल नैतिक निर्णय' मान लेते हैं जिसके फलस्वरूप उनके विचारों में गंभीर असंगति उत्पन्न हो जाती है। हम किसी भी संवेगात्मक अभिव्यक्ति को सार्थक रूप से 'नैतिक निर्णय' की संज्ञा नहीं दे सकते। इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण यह है कि स्वयं ऐडवर्ड स ने मूल नैतिक निर्णयों के जो उदाहरण दिए हैं वे वास्तव में संवेगात्मक अभिव्यक्तियां नहीं हैं। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'निर्दोष मनुष्य को दंड देना नितांत अनुचित है" तो उसका यह

कथन संवेगात्मक अभिव्यक्ति मात्र न होकर बौद्धिक तथा वस्तुनिष्ठ नैतिक निर्णय है, क्योंकि वह तार्किक दृष्टि से इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए बाध्य है कि यह कथन समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों पर समान रूप मे लागू होता है। यदि वह इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता तो उसके उक्त कथन में असंगति अथवा स्वतोव्याघात का आ जाना अनिवार्य है जिससे उसका यह कथन स्वतः निरर्थक हो जाता है। यही बात "चोरी करना नितान्त अनुचित है" इस कथन के संबंध में भी कही जा सकती है जिसे ऐडवर्ड स ने 'मूल नैतिक निर्णय' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन्हें ऐडवर्ड स संवेगात्मक अभिव्यक्तियां मानकर 'मूल नैतिक निर्णय', कहते हैं वे वास्तव में संवेगात्मक अभिव्यक्तियां न होकर बौद्धिक और वस्तुनिष्ठ नैतिक निर्णय हैं जिन्हें उन्होंने 'सामान्य नैतिक निर्णय कहा है। इस दृष्टि ते विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने उक्त दोनों प्रकार के नैतिक निर्णयों में जो भेद किया है वह न तो आवश्यक और न सार्थक । वस्तुतः यदि वे इन दोनों प्रकार के निर्णयों में यह आवश्यक है और ना सिद्धांत अपेक्षाकृत अधिक संतोषप्रद होता ।

जैसा कि हम इस खंड के प्रारंभ में बता चुके हैं, नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के अतिरिक्त नैतिक असहमति के स्वरूप तथा वर्गीकरण पर भी विचारों से भिन्त नहीं हैं। स्टीवैन्सन की भांति वे भी असहमति को 'विश्वास सम्बन्धी असहमति' और 'अभिवृत्ति संबंधी असहमति' इन दो वर्षों में विभाजित भाषा दी है जो स्टीवेन्सन द्वारा दी गई है। इस संबंध में उनका कथन है कि स्टीवैन्सन का अनुसरण करते हुए हम कहेंगे कि यदि दो व्यक्ति एक ही वस्तु के विषय में परस्पर विरोधी वक्तव्य देते हैं तो उनमें 'विश्वास सम्बन्धी असह– मति' है। 'परस्पर विरोधी वक्तव्यों' से हमारा तात्पर्य ऐसे दो बक्तव्यों से है जो दोनों सत्य नहीं हो सकते। यदि एक ही वस्तु के विषय में दो व्यक्तियों की विरोधी अभिवृत्तियां

हैं तो हम कहेंगे कि उनमें 'अभिवृत्ति संबंधी असहमति' है।" ऐडवर्ड स के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि असहमति के स्वरूप और वर्गीकरण के संबंध में वे स्टीवेसन के मत को ही पूर्णतः स्वीकार करते हैं। परंतु नैतिक विवादों में जो असहमति पाई जाती है उसके विषय में उनका मत स्टीवेंगन के मत से कुछ भिन्न अवश्य है। हम देख चुके हैं कि ऐडवर्डस पूर्णतः संवेगात्मक कथनों को ही 'मूल नैतिक निर्णय' मानते हैं, अतः उनका विचार है कि इन निर्णयों पर आधारित विवादों में केवल अभिवृत्ति संबंधी असहमति ही पाई जाती है, विश्वास संबंधी असहमति नहीं। यही कारण है कि इन विवादों को तर्कों द्वारा समाप्त करना संभव नहीं है। परंतु ऐडवर्ड स यह मानते हैं कि जो विवाद सामान्य नैतिक निर्णयों पर आधारित होते हैं उनमें उपर्युक्त दोनों प्रकार की असहमतियां अनिवार्यतः विद्यमान रहती हैं। इसी कारण इन विवादों का अंत करने के लिए तथ्यात्मक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। स्पष्ट है कि इन विवादों की समाप्ति के विषय में ऐडवर्ड स का मत स्टीवंसन के मत से अधिक भिन्न नहीं है। इस प्रकार नैतिक असहमति के स्वरूप और वर्गीकरण के विषय में ऐडवर्ड स कोई नया विचार प्रस्तुत नहीं कर सके ।

एयर और स्टीवैन्सन की भांति ऐडवर्ड स ने भी अपनी पुस्तक के अंत में कुछ ऐसे आरोपों का उत्तर दिया है जो संवेगवाद के विरुद्ध इसके आलोचकों द्वारा प्रायः लगाये जाते रहे हैं। सर्वप्रथम अनेक दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह आरोप लगाया है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो वस्तुतः नैतिक तथा अनैतिक आवरण में कोई अंतर ही नहीं रह जाएगा और लोग नैतिक मूल्यों के प्रति पूर्णतः उदासीन हो जाएंगे। दूसरे शब्दों में, इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप हमें नैतिक आचरण की दृष्टि से अपने व्यावहारिक जीवन में पोर दुष्परिणामों का सामना करना पड़ेगा। हम इस अध्याय के चौथे खंड में

देख चुके हैं कि एयर ने भी संवेगवाद के विरुद्ध इसी आरोप पर विचार किया है। उन्होंने जिस तर्क द्वारा इस आरोप का खंडन किया है ऐडवर्ड स भी उसे पूर्णतः स्वीकार करते हैं। उन्होंने एयर के इस मत का समर्थन किया है कि व्यावहारिक जीवन में किसी व्यक्ति के नैतिक आचरण पर संवेगबाद अथवा किसी अन्य अधि–नैतिक सिद्धांत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि किसी विशेष अधि–नैतिक सिद्धांत को स्वीकार या अस्वीकार करने से लोगों की अभि–वृत्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। अधि–नैतिक सिद्धांतों के विषय में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए ऐडवर्ड स ने लिखा है कि "लोग किसी वस्तु के संबंध में अपनी अभिवृत्तियों में तभी परिवर्तन करते हैं जब उस वस्तु से संबंधित उनके विश्वासों में परिवर्तन होता है अथवा उनके जीवन में कोई घोर संवेगात्मक उथल–पुथल होती है। वे कभी भी उन वाक्यों के अर्थ के विषय में किसी सिद्धान्त को अस्वीकार करने के कारण ही अपनी अभिवृत्ति में परि– वर्तन नहीं करते जिनके द्वारा वे इस अभिवृत्ति को व्यक्त करते हैं। मान लीजिए आप निर्दयता का अनुमोदन नहीं करते और आप अंतः प्रज्ञावादी भी हैं; किंतु मान लीजिए एक दिन आपको विश्वास हो जाता है कि अंतःप्रज्ञाबाद अनुचित सिद्धांत है। क्या आपके द्वारा निर्दयता के अननुमोदन पर इसका कोई प्रभाव पड़ेगा ? अंतःप्रज्ञावाद का परित्याग कर देने वाले व्यक्तियों के संबंध में तथा लोगों के अनुमोदन और अननुमोदन की भावनाओं में परिवर्तन के कारणों के विषय में हम जो कुछ जानते हैं उससे इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर ही प्राप्त होता है।"65 इस प्रकार ऐडवर्डस एयर के इस मत का पूर्णतः समर्थन करते हैं कि संवेगात्मक तथा अन्य सभी अधि–नैतिक सिद्धांत नैतिक आचरण की दृष्टि से तटस्थ होते हैं, अतः इन सिद्धांतों के परिणामों के आधार पर इन्हें अनु चित सिद्ध नहीं किया जा सकता।

ऐडवर्डस का कथन है कि उन्होंने अपनी पुस्तक में अधि–नैतिक सिद्धांतों का ओ विवेचन किया है उसे कुछ दार्शनिक व्यर्थ और महत्त्वहीन मान सकते हैं। वे यह कह सकते हैं कि इस प्रकार के शाब्दिक वाद–विवाद का हमारे व्यावहारिक जीवन में नैतिक आचरण की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, अतः यह नितांत आतिवश्यक और निरर्थक है। ऐडवर्ड स यह स्वीकार करते हैं कि इस आपत्ति में आंशिक सत्य विद्यमान है। परन्तु उनका कथन है कि यह आपत्ति केवल उनके उठाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त यह कहना भी उचित नहीं है कि उक्त ही नहीं, अपितु संपूर्ण सैद्धांतिक विवेचन अनावश्यक तथा निरर्थक है। नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के संबंध में इस प्रकार के विवेचन से हमें निश्चय ही इन निर्णयों को भली–भांति समझने में बहुत सहायता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अधि– नैतिक सिद्धांतों का यह विवेचन मानकीय नीतिशास्त्र की समस्याओं तथा दैनिक जीवन में नैतिक आचरण को समझने के लिए बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। मुख्यतः इसी आधार पर ऐडवर्डस इस प्रकार के विवेचन को उचित एवं सार्थक मानते हैं। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कथन है कि नैतिक निर्णयों की समुचित और युक्तिसंगत व्याख्या के संबंध में भी मनुष्य के विचारों पर अधि– नैतिक सिद्धांतों का प्रभाव पड़ सकता है।

अपने इन्हीं तर्कों के आधार पर उपर्युक्त आरोप का खंडन करते हुए ऐड–बर्डस कहते हैं– "इसके उत्तर में सर्वप्रथन मैं यह बात कहना चाहता हूं कि कुछ लोगों में–– जिनमें मैं स्वयं भी सम्मिलित हूं– बातों को स्पष्ट रूप से जानने की प्रबल इच्छा होती है। मेरे विचार में केवल यही तथ्य कि इस संसार में कुछ ऐसे बुद्धिमान लोग हैं जो स्पष्ट रूप से यह जानना चाहते हैं कि हमारी भाषा में नैतिक शब्द किस प्रकार कार्य करते हैं इस विषय पर विचार करने के लिए पर्याप्त कारण है। दूसरी बात यह है कि मैं यह नहीं मानता कि जिस प्रकार की

विवेचना मैंने की है उसके अनिर्वायतः कोई व्यावहारिक परिणाम नहीं होते। मैं अपने इस उत्तर पर विदशेष रूप से जोर देना चाहूंगा। जब कोई व्यक्ति निर्प्रकृ ति– बाद को अस्वीकार कर देता है तो वह नैतिक निर्णयों के लिए तथ्यपरक प्रमाणी– करण की मांग करेगा। "66 इस प्रकार ऐडवर्ड्स ने स्वयं अपने सिद्धांत और संपूर्ण अधि–नीतिशास्त्र पर लगाए जाने वाले उपर्युक्त दोनों आरोपों को अस्वी– कार करते हुए उनका दृढ़तापूर्वक खंडन किया है। हम पिछले खंडों में देख चुके हैं कि एयर, स्टीवैन्सन आदि अन्य संवेगवादी भी इस संबंध में उनसे पूर्णतः सहमत हैं।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐडवर्ड्स अधि–नैतिक सिद्धांतों को मनुष्य के आचरण पर पड़ने वाले प्रभाव की दृष्टि से ही तटस्थ मानते हैं, नैतिक भाषा के अर्थ के स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण की दृष्टि से नहीं। उनका विचार है कि किन्हीं वस्तुओं के शुभ या अशुभ तथा किन्हीं कर्मो के उचित या अनुचित होने के विषय में हमारी जो मान्यता है उस पर अधि–नैतिक सिद्धांतों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । परंतु इन अधि–नैतिक सिद्धांतों का नैतिक भाषा के अर्थ एवं स्वरूप तथा नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के विश्लेषण के संबंध में हमारे विचारों पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए ऐडवड् स ने उपर्युक्त उद्धरण में कहा है कि यदि कोई दार्शनिक निर्प्रकृतिवाद का परित्याग करके उसके स्थान पर प्रकृतिवाद को स्वीकार कर लेता है तो नैतिक निर्णयों की व्याख्या के विषय में उसके विचारों में बहुत परिवर्तन हो जाएगा । उसे इन 224

निर्णयों के अर्थ, स्वरूप और प्रमाणीकरण से संबंधित अपनी अनेक पूर्वस्वीकृ त निर्णयोंकों के स्थान पर कुछ अन्य आधारभूत मान्यताओं को स्वीकार करता मान्यता ऐडवई स का यह मत निश्चय ही उचित है और बरट्रेंड रसल के नैतिक पड़ेगा से इसकी पुष्टि होती है। हम तीसरे अध्याय में देख चुके हैं कि रसल जव

इतः प्रज्ञावाद को स्वीकार करते थे तो उन्होंने 'शुभ' की अपरिभाष्यता के संबंध में मूर के विचारों का पूर्णतः समर्थन किया था, किंतु जब उन्होंने अंतःप्रशावाद का परित्याग करके उसके स्थान पर व्यक्तिनिष्ठयाद को स्वीकार किया तो नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या के विषय में भी उनके विचारों में बहुत परिवर्तन हुआ । इस परिवर्तन के फलस्वरूप उन्होंने अपनी परवतीं पुस्तकों में मूर की उन्हीं मान्यताओं का दृढ़तापूर्वक खंडन किया जिनका वे पहले पूर्ण रूप से समर्थन करते थे। ररात के विचारों में उक्त परिवर्तन से ऊपर दिए गए उद्धरण में ऐडवड्र्स के इस कथन की पुष्टि होती है कि किसी दार्शनिक द्वारा मान्य अधि–नैतिक सिद्धांत का नैतिक निर्णयों से संबंधित उसकी व्याख्या पर बहुत प्रभाव पड़ता है ।

ऐडवर्ड्स के सिद्धांत की इस विवेचना को समाप्त करने से पूर्व यहां इस सिद्धांत की कुछ प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। इसके संबंध में वे स्वयं कहते हैं कि उनका यह सिद्धांत वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद तथा संवेगवाद का मिश्रित रूप है, क्योंकि इसमें इन दोनों के मुख्य गुण विद्यमान हैं। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णय निर्णीत बस्तुओं के कुछ गुणों की ओर अवश्य संकेत करते हैं, अतः वे संवेगात्मक अभिव्यक्तियां मात्र न होकर बस्तुनिष्ठ कथन हैं। ऐडवर्डस की यह मान्यता वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद के अनुरूप ही है जिसका विवेचन हम तीसरे अध्याय में कर चुके हैं। परंतु प्रकृतिवाद के विपरीत ऐडवर्ड स यह भी मानते हैं कि नैतिक निर्णय वर्णनात्मक अपवा अभिव्यक्त करते हैं। उनकी इस मान्यता में संवेगवाद का तत्त्व स्पष्ट रूप से अध्यात्मक कथन नहीं हैं, क्योंकि ये निर्णय वक्ता की अभिवृत्तियों को अव विद्यमान है और इसी कारण उनके सिद्धांत को 'संवेगवादी सिद्धांत' कहा जाता है। इस प्रकार ऐडवर्ड स ने अपने सिद्धांत में वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद तथा संवेगवाद दोनों

सिद्धांतों की मूल विशेषताओं को सम्मिलित किया है, अतः वे इसे इन दोनों विरोधी सिद्धांतों का मिश्रित रूप मानते हैं। इस दृष्टि से उनका सिद्धांत कानेप और एयर के संवेगवादी सिद्धांत की अपेक्षा निश्चय ही अधिक संतोषप्रद है जो नैतिक निर्णयों को केवल संवेगात्मक अभिव्यक्तियां मानते हैं और उनका कोई वर्णनात्मक अर्थ स्वीकार नहीं करते। स्टीवैन्सन यह तो मानते हैं कि नैतिक निर्णयों का वर्णनात्मक अर्थ होता है, कि वे भी इन निर्णयों के संवेगात्मक अर्थ को ही विशेष महत्त्व देते हैं। उनका निश्चित मत है कि किसी कथन का संवेगात्मक अर्थ ही उसे 'नैतिक निर्णय' बनाता है। परंतु ऐडवड्र्स के अनुसार नैतिक निर्णयों के लिए उक्त दोनों अर्थों का लगभग समान महत्त्व है। इस दृष्टि हसे उनका सिद्धांत स्टीवैन्सन के सिद्धांत से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के संबंध में भी ऐडवड्र्स का मत अन्य संवेगवादियों के मत से पर्याप्त सीमा तक भिन्न है। कार्नेप तथा एयर तो इन निर्णयों की पुष्टि के लिए तर्कों की संभावना को ही स्वीकार नहीं करते और स्टीवैन्सन भी इन तर्कों को केवल मनोवैज्ञानिक तर्क ही मानते हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य विरोधियों की अभिवृत्तियों को परिवर्तित या प्रभावित करना है। परंतु स्टीवैन्सन के इस मत को अस्वीकार करते हुए ऐड– बड् स कहते हैं कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तकों का उद्देश्य इन निर्णयों को ही उचित सिद्ध करना है, विपक्षियों की अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना नहीं। नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के विषय में ऐडवर्डस की यह मान्यता उनके सिद्धांत को स्टीवैन्सन के सिद्धांत की अपेक्षा निश्चय ही अधिक संतोषप्रद बनाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ऐडवर्डस ने कानप, एयर तथा स्टीवैन्सन के संवेगवादी सिद्धांत में कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार किए हैं जिनके कारण उनका सिद्धांत नैतिक निर्णयों की अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसंगत एवं संतोषप्रद व्याख्या करता है।

परंतु यहां ऐडवड्स के सिद्धांत की एक कठिनाई पर विचार करना आवश्यक है जिसका संक्षिप्त उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। वे यह मानते हैं कि निर्णीत वस्तुओं तथा कर्मों के कुछ विशेष गुणों के कारण ही हम उन्हें शुभ या अशुभ और उचित या अनुचित कहते हैं। उनकी इस मान्यता के संबंध में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए जा सकते हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि हम किसी व्यक्ति को अच्छा या बुरा और किसी कर्म को उचित या अनुचित कहने के लिए उसके कुछ विशेष गुणों को आवश्यक एवं प्रासंगिक तथा कुछ अन्य गुणों को अनावश्यक और अप्रासंगिक क्यों मानते हैं। दूसरा प्रश्न यह है कि जिन विशेष गुणों के ब्राधार पर हम किसी व्यक्ति और कर्म का मूल्यांकन करते हैं क्या वे गुण वास्तव में वर्णनात्मक होते हैं। ये दोनों प्रश्न स्टीवैन्सन के सिद्धांत के संबंध में भी उठाए जा सकते हैं, क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, नैतिक निर्णयों के अर्थ की दृष्टि से उनका सिद्धांत ऐडवर्ड स के सिद्धांत से मूलतः भिन्न नहीं है। ऐडवर्ड स ने प्रथम प्रश्न पर अवश्य विचार किया है और इसके उत्तर में उनका कथन है कि स्वयं वक्ता ही किसी वस्तु के कुछ विशेष गुणों का अनुमोदन या अननुमोदन करता है और इसी कारण वह उसे शुभ अथवा अशुभ कहता है। इसका तात्पर्य यही है कि ऐसी स्थिति में उसके लिए वह व्यक्ति बुरा मनुष्य होगा जिसमें ये गुण हैं।

वस्तुतः यह ऐडवर्स के सिद्धांत का अनिवार्य परिणाम है जिससे मुक्त होना उनके लिए ताकिक दृष्टि से संभव नहीं है। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि वे उन दो प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न का कोई संतोषप्रद कि किसी वस्तु को शुभ या अशुभ बनाने वाले गणों की प्रासंगिकता अंततः उन विकि प्रतिस्वयं वक्षता के अपने अनुमोदन अथवा अननुमोदन पर ही आधारित है जो उसके संबंध में निर्णय देता है। अपनी इस मान्यता को ऐडवर्स ने एह जो हरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है– जब में यह कहता हूं कि 'क' एड अच्छा

मनुष्य है तो मेरा यह वाक्य तथा इसमें प्रयुक्त 'अच्छा' शब्द केवल अत्रिक आयक्तिपरक अर्थ के कारण ही नहीं, अपितु निर्देशात्मक अर्थ के कारण भी नैतिक निर्णय और नैतिक शब्द माना जाएगा। इस वाक्य को इसलिए 'नैतिक' माना जाएगा कि यह मेरे अनुमोदन को अभिव्यक्त करता है और साथ ही इसके द्वारा मैं उस व्यक्ति के कुछ विशेष गुणों – यथा, उसकी दयालुता, नम्रता और उसमें ईर्ष्या का अभाव –की ओर संकेत करता हूं, उसकी आकृति, आय अथवा पिग– पोंग में उसकी उत्कृष्टता की ओर नहीं।''67 इस प्रकार ऐडवर्ड स यह मानते हैं कि वस्तुओं को शुभ अथवा अशुभ बनाने वाले गुणों की प्रासंगिकता अंततः उन गुणों के प्रति स्वयं वक्ता के अपने अनुमोदन या अननुमोदन द्वारा निर्धारित होती है। परंतु ऐडवर्ड् स की उपर्युक्त मान्यता उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो उनके सिद्धांत और उस व्यक्तिनिष्ठ– बाद में कोई अंतर नहीं रह जाता जिसका वे स्वयं दृढ़तापूर्वक खंडन करते हैं। यदि किसी वस्तु को शुभ या अशुभ बनाने वाले गुणों की प्रासंगिकता उन गुणों के संबंध में स्वयं मेरे अपने अनुमोदन अथवा अननुमोदन पर ही निर्भर है तो उसके विषय में मेरे कथन को 'वस्तुनिष्ठ नैतिक निर्णय' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा कथन अंततः मेरी अपनी व्यक्तिनिष्ठ भावना को ही अभिव्यक्त करता है। मान लीजिए कोई व्यक्ति दयालुता, नम्रता, ईमानदारी आदि गुणों के प्रति अनुमोदन के स्थान पर अननुमोदन की भावना का अनुभव करता है। स्पष्ट है

उत्तर नहीं दे सके जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है । संभवतः उपयुक्त प्रथम प्रश्न का अधिक संतोषजनक एवं तर्कसंगत उत्तर वही हो सकता है कि जो गुण व्यक्तियों तथा कर्मों को नैतिक दृष्टि से शुभ या बशुभ और उचित्त या अनुचित बनाते हैं उनकी प्रासंगिकता किसी व्यक्ति या समुदाय के अनुमोदन अथवा अननुमोदन द्वारा नहीं, अपितु किसी वस्तुनिष्ठ तथा संवेगवाद

सार्वभौमिक कसौटी द्वारा ही निर्धारित की जा सकती है। सभी मनुष्यों का अधिकतम हित अथवा संतोष ऐसी सार्वभौमिक एवं वस्तुनिष्ठ कसौटी है जिसके द्वारा हम उपर्युक्त कठिनाई अथवा समस्या का समुचित समाधान कर सकते हैं। इस कसौटी के अनुसार वस्तुओं के जो गुण सभी मनुष्यों के लिए अधिकतम हित– कर हैं वे ही उन्हें शुभ बनाते हैं और जो गुण इस उद्देश्य में बाधक हैं वे ही उन्हें अशुभ बनाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुओं को शुभ या अशुभ बनाने वाले गुणों की प्रासंगिकता किसी व्यक्ति अथवा समुदाय विशेष के अनुमोदन या अननु– मोदन पर निर्भर न होकर उक्त वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिक कसौटी पर ही निर्भर है। यह कसौटी वस्तुनिष्ठ तथा सार्वभौमिक है, क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक विवेकशील मनुष्य ऐसे गुणों का अनुमोदन या अननुमोदन करने के लिए प्रतिबद्ध है जो सभी मनुष्यों के अधिकतम हित में सहायक अथवा बाधक हैं। मेरे विचार में ऐडवर्ड्स भी बिना किसी कठिनाई के अपने सिद्धांत के अंतर्गत इस मत को स्वीकार कर सकते थे, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया जिसके फलस्वरूप उनका सिद्धांत अंततः व्यक्तिनिष्ठवादी सिद्धांत हो गया है और उसमें ताकिक असंगति आ गई है।

अब संक्षेप में इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि जो गुण वस्तुओं को शुभ या अशुभ बनाते हैं क्या वे वास्तव में तथ्यात्मक अथवा वर्ण– नात्मक हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ऐडवर्ड्स ने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और निश्चित उत्तर नहीं दिया। वे यह अवश्य कहते हैं कि जब हम 'शुभ' तथा 'अशुभ' द्वारा इन गुणों की ओर संकेत करते हैं तो इन शब्दों का अर्थ निर्देशात्मक अथवा वर्णनात्मक ही होता है। इससे संभवतः यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐडवर्ड्स इन गुणों को वर्णनात्मक मानते हैं। इसी आधार पर उन्होंने नैतिक निर्गयों के वर्णनात्मक अर्थ की व्याख्या की है। परंतु जिन गुणों के आधार पर हम

बस्तुओं को शुभ अथवा अशुभ कहते हैं वे वास्तव में तथ्यात्मक या पूर्णतः वर्णनात्मक गुण नहीं होते। इसका कारण यह है कि ऐसे सभी गुण अनिवार्यतः किन्हीं मूल्यों से संबंधित होते हैं जिनके प्रति हम तटस्थ या उदासीन नहीं रह सकते। जब हम किसी व्यक्ति को उसकी नम्रता, दयालुता, ईमानदारी, सत्य–निष्ठा, त्याग की भावना आदि के आधार पर 'अच्छा मनुष्य' कहते हैं तो हम पहले से ही इन गुणों को प्रशंसनीय अथवा वांछनीय मान लेते हैं। यही कारण है कि किसी व्यक्ति को दयालु, नम्र, ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ आदि कहने का अर्थ अनिवार्यतः और निश्चित रूप से उसकी प्रशंसा करना है, उसके स्वभाव का वर्णन मात्र करना नहीं। इस दृष्टि से 'दयालु', 'नम्र', 'कर्तव्यनिष्ठ', 'ईमानदार' बादि मूल्यात्मक शब्द 'पतला', 'मोटा', 'लंबा', 'छोटा', 'लाल', 'काला' आदि 228

तथ्यात्मक या वर्णनात्मक शब्दों से निश्चय ही भिन्न प्रकार के हैं। यही कारण है कि हम प्रथम प्रकार के शब्दों को वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक शब्द नहीं कह सकते। परंतु ये मूल्यात्मक शब्द उतने व्यापक, अस्पष्ट तथा अनिश्चित नहीं है जितने 'शुभ', 'अशुभ', 'उचित', 'अनुचित' आदि नैतिक शब्द । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हेयर ने नैतिक शब्दों को 'प्राथमिक रूप से मूल्यात्मक' तया 'नम्र', 'दयालु', 'ईमानदार' आदि शब्दों को 'गौण रूप से मूल्यात्मक' माना है। 08 इस संबंध में अन्य अनेक समकालीन दार्शनिक भी हेयर के इसी मत का ही समर्थन करते हैं जिस पर हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वस्तुओं को शुभ या अशुभ बनाने वाले जिन गुणों को ऐडवड्र्स वर्णनात्मक मानते हैं वे वस्तुतः गौण रूप से मूल्यात्मक ही हैं।

5.3.7 मूल्यांकन

अभी तक हमने नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण के संबंध में कुछ प्रमुख संवेगवादियों के विचार प्रस्तुत किए हैं। अब अंत में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि इन निर्णयों के विषय में उक्त संवेगबादियों का सिद्धांत कहां तक उचित, युक्तिसंगत और संतोषप्रद है। इसमें संदेह नहीं है कि अन्य अधि–नैतिक सिद्धांतों की भांति संवेगवाद भी अंशतः सत्य है। हम पिछले अध्यायों में इस तथ्य को भली–भांति स्पष्ट कर चुके हैं कि तथ्यात्मक कथनों और तर्कशास्त्र तथा गणित के निर्णयों के विपरीत नैतिक निर्णयों के साथ मानवीय भावनाओं या अभिवृत्तियों का अनिवार्य संबंध है। संवेगवाद नैतिक निर्णयों से संबद्ध इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। इस सिद्धांत के समर्थकों का यह मत निश्चय ही उचित है कि इन निर्णयों द्वारा हम भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों को व्यक्त तथा जागृत करते हैं और इस दृष्टि से ये निर्णय वर्णनात्मक कथनों से भिन्न प्रकार के होते हैं। जब हम नितांत अनुचित है" तो हम उस व्यक्ति या कर्म का वर्णन मात्र नहीं करतेः हम यह कहते हैं कि "बह व्यक्ति बहुत बुरे से मनुष्य है अथवा "अमुक क उसके प्रति अपने अननुमोदन की भावना को अनिवार्यतः अभिव्यक्त करते हैं। अन्य सभी नैतिक निर्णयों के संबंध में भी यही बात कहीं जा सकती है। ऐसी स्थिति में संवेगवादियों का यह कथन अवश्य ही उचित है कि नैतिक निर्णय केवल वर्णनात्मक अथवा सूचनात्मक नहीं होते; वे अनिवार्यतः भावनात्मक या संवेगात्मक होते हैं। अपनी विशेषता के कारण नैतिक निर्णय मनुष्य के आचरण को अनिवार्यतः प्रभावित करते हैं। इस दृष्टि से भी ये निर्णय पूर्णतः तटस्थ, वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक कथनों से भिन्न प्रकार के होते हैं। हम देख चुके हैं कि संवेगवादियों ने नैतिक निर्णयों की इस विशेषता को बहुत महत्त्व दिया है और इसे इन निर्णयों का अनिवार्य तत्त्व माना है जो कुछ सीमा तक उचित प्रतीत होता है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने प्रकृ

तिवाद तथा निर्प्रकृतिवाद इन दोनों संज्ञानात्मक सिद्धांतों की जो आलोचना की है उसे आज अधिकतर समकालीन दार्शनिक उचित एवं युक्तिसंगत मानते हैं। ये दार्शनिक संवेगवादियों की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं कि 'शुभ', 'उचित', कर्त्तव्य आदि नैतिक शब्द मूलतः गुणबोधक नहीं हैं– अर्थात् ये शब्द किन्हीं विशेष प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुणों अथवा संबंधों का वर्णन नहीं करते। यही कारण है कि आज अधिकतर दार्शनिक प्रकृतिवाद तथा निर्प्रकृतिवाद के समर्थक नहीं हैं। वे इन दोनों संज्ञानात्मक सिद्धांतों के विरुद्ध संवेगवादियों की इस मूल आपत्ति को उचित और तर्कसंगत मानते हैं कि ये सिद्धांत नैतिक निर्णयों को केवल वर्णनात्मक या सूचनात्मक मानकर उन्हें मानवीय आचरण से पूर्णतः पृथक कर देते हैं। इस दृष्टि से संवेगवाद इन संज्ञानात्मक सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद है, क्योंकि यह नैतिक निर्णयों तथा मानवीय आचरण के अनिवार्य संबंध को विशेष महत्त्व देता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धांत हमें संदेहास्पद रहस्यमयी अंतःप्रज्ञा तथा अप्रमाणित रहस्यपूर्ण निर्प्राकृतिक गुणों और संबंधों की आवश्यकता से भी मुक्त करता है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संवेगवाद में आंशिकसत्य अवश्य विद्यमान है। परन्तु अंशतः सत्य होते हुए भी संवेगवाद नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की पूर्णतः संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता । अन्य अधि– नैतिक सिद्धांतों की भांति इस सिद्धांत के विरुद्ध भी अनेक गंभीर आपत्तियां उठाई जा सकती हैं। परन्तु इन आपत्तियों पर विचार करने से पूर्व यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संवेगवाद का कोई एक ही स्पष्ट और निश्चित रूप नहीं है। जैसा कि हम इस अध्याय के पिछले खंडों में देख चुके हैं, सभी संवेगबादी नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के विषय में एक–दूसरे से पूर्णत. सहमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ संवेगवाद के समर्थक होते हुए भी स्टीवेन्सन तथा ऐडवर्डस नैतिक निर्णयों की

व्याख्या के संबंध में कार्नेप और एयर के मत को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं करते। हम देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन और ऐडवर्स ने संवेगबाव को उसी कहते में स्वीकार नहीं किया जिस रूप में कार्नेप तथा एयर ने इसका प्रतिपादन किया था। इन दोनों विचारकों–विशेषतः सुडवाईस – ते कार्नेप और एयर के प्रारंभिक संवेगवाद में पर्याप्त संशोधन तथा सुधार किया है। ये दोनों विचारक कार्नेप तथा एयर की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते कि नैतिक निर्णय पूर्णतः संवेगात्मक कथन हैं और उनका कोई वर्णनात्मक अर्थ नहीं होता । वे इन निर्णयों के संवेगात्मक अर्थ के साथ–साथ इनके वर्णनात्मक अर्थ को भी उचित महत्त्व देते हैं। इसके अतिरिक्त वे कार्नेप और एयर के इस मत का भी समर्थन नहीं करते कि नैतिक निर्णयों के पक्ष या विपक्ष में किसी प्रकार के तर्क देना संभव नहीं है। वे इन निर्णयों के समर्थन में तर्कों की आवश्यकता को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम यही वह सकते हैं कि जो आपत्तियां कार्नेप और एयर के 'विशुद्ध संवेगवाद' के विरुद्ध उठाई जा सकती हैं वे सभी आपत्तियां स्टीवैन्सन तथा ऐडवर्ड्स के 'संशोधित संवेगवाद' के विरुद्ध उठाना उचित एवं न्यायसंगत नहीं होगा।

संवेगवाद के उपर्युक्त दोनों रूपों में इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ब्रांड ब्लेंशर्ड ने अपनी पुस्तक, 'रोजन एण्ड गुडनेस' में इस सिद्धांत की जो तीव्र आलोचना की है वह पूर्णतः उचित और न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि उन्होंने इस सिद्धांत के विरुद्ध जो आपत्तियां उठाई हैं उनमें से अधिकतर केवल कानॅप तथा एयर के मत के विरुद्ध ही उठाई जा सकती हैं, स्टीवेसन और ऐडवर्ड स के मत के विरुद्ध नहीं । 69 संभवतः ब्लेशर्ड स्वयं भी इस तथ्य से अवगत हैं, क्योंकि उन्होंने ऐडवर्डस के संवेगवादी सिद्धांत को कानॅप और एयर के संवेगवादी सिद्धांत से भिन्न ही नहीं, अपितु

उसकी अपेक्षा कहीं अधिक संतोषप्रद भी माना है। ऐडवर्ड स के सिद्धांत के सम्बन्ध में वे स्पष्ट कहते हैं कि "यह सिद्धांत विशुद्ध संवेगवाद की अपेक्षा निश्चय ही हमारे वास्तविक अर्थ के अधिक निकट है। ऐडवर्ड स ने यह स्वीकार किया है कि 'शुभ', 'उचित', 'चाहिए' आदि शब्द सामान्यतः भावना या बात को स्वीकार करता है कि मूल्य संबंधी निर्णय वास्तविक निर्णय हैं, विस्मय– बात कधिक व्यक्त करते हैं। यह उसामान्यतः भावना या अभिवति है। यह इस बोधक कथन नहीं। संवेगवादियों द्वारा नैतिक तकों को प्रचार के समान मानने के कारण ऐडवर्ड स ठीक ही क्षुब्ध हैं और इसके निराकरण के लिए की अपेक्षा अधिकतम प्रयास करते हैं। मैं इसके प्रति उनकी वितृष्णा का पूर्णतः समर्थन करता हूं।"70 ऐडवर्ड स के सिद्धात के विषय में ब्लेंशर्ड के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके इस सिद्धांत के विरुद्ध वे सभी आपत्तियां नहीं उठाई जा सकतीं जो उन्होंने कानैंप और एयर के सिद्धांत के विरुद्ध उठाई हैं। मेरे विचार में यही बात कुछ सीमा तक स्टीवेंसन के सिद्धांत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, क्योंकि, जैसाकि हमने पिछले खंडों में देखा है, नैतिक निर्णयों की व्याख्या के ब्रिषय में स्टीवंसन और ऐडवर्ड स के विचारों में पर्याप्त समानता है। इस प्रकार संवेग– वाद के गुण–दोषों पर विचार करते समय हमारे लिए उपर्युक्त सभी तथ्यों का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है ।

इस अध्याय के पिछले खंडों में नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के सम्बन्ध में विभिन्न संवेगवादियों के विचारों को प्रस्तुत करते हुए हम यथास्थान कुछ ऐसी प्रमुख आपत्तियों का संक्षिप्त उल्लेख कर चुके हैं जो उनके इन विचारों के विरुद्ध उठाई जा सकती हैं। यहां हम इन आपत्तियों की कुछ अधिक विस्तार से विवेचना करेंगे । सर्वप्रथम हम उन आपत्तियों पर विचार करेंगे जो मुख्यतः कार्नेप और एयर के 'विशुद्ध संवेगबाद' के विरुद्ध उठाई जा सकती हैं। इन दोनों

विचारकों के विरुद्ध प्रायः यह आपत्ति उठाई जाती है कि उन्होंने स्वतन्त्र रूप से नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप का विश्लेषण करने के स्थान पर अपने ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी सत्यापनीयता–सिद्धांत द्वारा इन निर्णयों की व्याख्या करने के लिए ही संवेगवाद का प्रतिपादन किया है। हम देख चुके हैं कि इन विचारकों के अनुसार नैतिक निर्णय सिद्धांततः भी इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापनीय नहीं हैं, अतः इन निर्णयों का कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं हो सकता । मुख्यतः इसी आधार पर उन्होंने इन निर्णयों को संवेगात्मक माना है और इनके वर्णनात्मक अर्थ का निषेध किया है। परन्तु आज लगभग सभी दार्शनिक बह स्वीकार करते हैं कि इन तर्कीय प्रत्यक्षवादियों द्वारा प्रस्तुत सत्यापनीयता की कसोटी बहुत संकुचित है, अतः इसके आधार पर सभी प्रकार के कथनों की सार्थकता का निर्णय नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा नैतिक निर्णयों को सत्यापित करना संभव नहीं है, क्योंकि ये निर्णय तथ्यात्मक कथनों की भांति पूर्णतः वर्णनात्मक नहीं होते; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये निर्णय विस्मयबोधक कर्थनों के समान वर्णनात्मक अर्थ से रहित केबल संवेगात्मक कथन होते हैं जैसा कि कानॅप और एयर का विचार है। जब कोई सामान्य व्यक्ति किसी मनुष्य या उसके कर्म के विषय में नैतिक निर्णय देता है तो वह अपने इस निर्णय द्वारा किसी संवेग अथवा भावना को ही अभिव्यक्त तथा जागृत नहीं करता; बह उस मनुष्य या कर्म की कुछ विशेषताओं के आधार पर उसका मूल्यांकन करता है। इसका तात्पर्य यह है कि नैतिक निर्णय भावनाओं अथवा अनिवृत्तियों को व्यक्त और जागूत करने के अतिरिक्त निर्णीत वस्तुओं के विषय में भी अवश्य ही कुछ कहते हैं, अतः इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापित त हो सकने पर भी वे मूलतः ऐसे संज्ञानात्मक कथन हैं जो व्यापक अर्थ में सत्य अथवा मिथ्या हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में कार्नेप तथा एयर द्वारा सत्यापन– सिद्धांत के आधार पर नैतिक

निर्णयों को केवल संवेगात्मक कथन मानना और इसी कारण विस्मयबोधक कथनों के साथ उनकी तुलना करना निश्चय ही उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। वस्तुतः इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा नैतिक निर्णयों का सत्यापित न हो सकना यह प्रमाणित नहीं करता कि ये निर्णय अनिवार्यतः केवल संवेगात्मक कथन हैं और इनका कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार कार्नेप तथा एयर ने जिस आधार पर अपने संवेगवाद की स्थापना की है वह बहुत ही संकुचित एवं दुर्बल है, अतः इसके द्वारा नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में तर्क संगत रूप से उनके सिद्धांत की पुष्टि नहीं होती ।

अन्य अधि–नीतिशास्त्रियों की भांति कार्नेप और एयर का भी यह दावा है कि उनका संवेगवादी सिद्धांत उसी रूप में नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या करता है जिस रूप में सामान्य व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में इन निर्णयों का प्रयोग करते हैं। परन्तु इन निर्णयों के अर्थ के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा है उसे देखते हुए उनका यह दावा वास्तव में उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि सामान्य व्यक्ति नैतिक निर्णयों को विस्मयबोधक कणनों है समान केवल संवेगात्मक न मानकर उन्हें ऐसे कथनों से मूलतः भिन्न मानता है। हम ऊपर बता चुके हैं कि वह इन निर्णयों द्वारा अपने संवेगों की अभिव्यक्ति मात्र मुकरके वास्तव में निर्णीत वस्तुओं का उनके कुछ विशेष गुणों के आधार पर मूल्यांकन करता है। इतना ही नहीं, वह अपने इस मूल्यांकन को अनिवार्यत लिए वस्तुनिष्ठ अर्थात अपनी भावनाओं से पृथक तथा स्वतन्त्र तर्क भी निध्यक्ष एवं निर्वेयक्तिक मानता है और अपने इस मूल्यांकनर इसकी पुष्टि के करता है कि उसके नैतिक निर्णय वस्तुतः संवेगात्मक अभिव्यक्तियां मात्र नहीं करत करने का प्रयास करता है। इसी आधार पर वह निश्चित रूप से यह दावा हैं जैसाकि कार्नेप और एयर उन्हें मानते हैं। वह कभी भी विस्मयबोधक संवेगा– त्मक

कथनों के साथ अपने नैतिक निर्णयों की तुलना नहीं करता और न ही वह इन निर्णयों के समर्थन में तकों का निषेध करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्य व्यक्ति नैतिक निर्णयों की व्याख्या के सम्बन्ध में कानेंप और एयर के संवेगवादी सिद्धांत का वास्तव में समर्थन नहीं करता। ऐसी स्थिति में इन बिचारकों का यह दावा उचित प्रतीत नहीं होता कि उनका सिद्धांत नैतिक निर्णयों के अर्थ के है।

इसके अतिरिक्त नैतिक निर्णयों की व्याख्या के सम्बन्ध में कार्नेप तथा एयर के मत को स्वीकार कर लेने के कारण हमें अनिवार्यतः अनेक ऐसी कठिनाइयों अथवा समस्याओं का सामना करना पड़ेगा जिनका तर्कसंगत और संतोषप्रद समाधान सम्भव नहीं है। (1) उदाहरणार्थ यदि नैतिक निर्णय निर्णीत वस्तुओं के विषय में कुछ भी न कह कर केवल भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करते हैं तो वस्तुओं के शुभस्त्त्व तथा अशुभत्त्व को स्वयं उनके स्वरूप या गुणों परआधारित न मानकर केवल वक्ता की भावनाओं पर ही निर्भर मानना पड़ेगा। इसका अनिवार्य परिणाम यही होगा कि वक्ता के अनुमोदन की भावना किसी वस्तु को शुभ और उसके अननुमोदन की भावना उसी वस्तु को अशुभ बना देगी। यहीं नहीं, इसके परिणामस्वरूप हमें यह भी मानना पड़ेगा कि एक ही वस्तु एक ही समय में शुभ भी हो सकती है और अशुभ भी, क्योंकि एक व्यक्ति उसके प्रति–अनुमोदन की भावना तथा दूसरा व्यक्ति उसके प्रति अननुमोदन की भावना अभिव्यक्त कर सकता है। (2) इसके अतिरिक्त कानेंर तथा एयर के सवेगवादी सिद्धांत को सत्य मान लेने पर नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में भूल करने का विचार निरर्थक हो जाता है। यदि नैतिक निर्णय निर्णीत वस्तुओं के विषय में कुछ न कहकर केवल संवेगों या भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करते हैं तो यह सिद्ध करना असम्भव हो जाता है कि किसी व्यक्ति ने नैतिक निर्णय देने में भूल की है। सामान्यतः हम यह

स्वीकार करते हैं कि कोई भी व्यक्ति नैतिक निर्णय देने में भूलकर सकता है, किन्तु कानेंप और एयर का संवेगवादी सिद्धांत इस तथ्य की व्याख्या करने में असमर्थ है। (3) इसके साथ ही यह सिद्धांत नैतिक निर्णयों के सम्न्ध में वास्तविक असहमति की संभावना को भी समाप्त कर देता है। इसका कारण यह है कि जब एक व्यक्ति किसी वस्तु को शुभ और दूसरा व्यक्ति उसी वस्तु को अशुभ कहता है तो इस सिद्धांत के अनुसार वे दोनों उस वस्तु के विषय में कुछ न कहकर केवल अपनी भावनाओं को ही अभिव्यक्त करते हैं। इसका अर्थ यही है कि वे उस वस्तु के सम्बन्ध में एक–दूसरे के निर्णय का खंडन नहीं करते, क्योंकि वे उस बस्तु के विषय में कुछ कहते ही नहीं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में उन दोनों व्यक्तियों में वास्तविक असहमति के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु सामान्यतः हम यह मानते हैं कि जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु के विषय में परस्पर विरोधी निर्णय देते हैं तो उनमें असहमति अवश्य होती है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हुए कार्नेप और एयर अपने संवेगवादी सिद्धांत द्वारा नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में वास्तविक असहमति की संभावना को ही समाप्त कर देते हैं। हम देख चुके हैं कि इसी कारण उन्होंने अपने सिद्धांत में इस प्रकार की असह अति को कोई स्थान नहीं दिया। यह समझना कठिन नहीं है कि कानॅप तथा।

एयर के संवेगवादी सिद्धांत के विरुद्ध उपर्युक्त तीनों आपत्तियां वे ही हैं जो व्यक्तिनिष्ठवाद के विरुद्ध उठाई गई हैं और जिन पर हम तीसरे अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। इसी कारण यहां इन आपत्तियों का केवल संक्षिप्त उल्लेख किया गया है।

इन आपत्तियों के अतिरिक्त कानेंप और एयर के सिद्धांत के विरुद्ध एक अन्य गंभीर आपत्ति यह है कि यह सिद्धांत हमें उन अभिवृत्तियों के मूल्यांकन के लिए कोई आधार प्रदान नहीं करता जिन्हें हम अपने नैतिक निर्णयों द्वारा अभिव्यक्त

करते हैं। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के अनुसार निर्णीत वस्तुएं मूल्य की दृष्टि से पूर्णतः शून्य या तटस्थ हैं– अर्थात् स्वयं उनमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके कारण हम उन्हें शुभ अथवा अशुभ कहते हैं। उनके प्रति हमारी भावनाएं अथवा अभिवृत्तियां ही उन्हें शुभ या अशुभ बना देती हैं। जिस वस्तु के प्रति हम अनुमोदन की भावना व्यक्त करते हैं वह शुभ और जिसके प्रति हम अननुमोदन की भावना व्यक्त करते हैं वह अशुभ हो जाती है। परन्तु मूल प्रश्न यह है कि हम किसी विशेष वस्तु के प्रति अनुमोदन की भावना तथा किसी अन्य वस्तु के प्रति अननुमोदन की भावना क्यों अभिव्यक्त करते हैं– अर्थात् हमारी इन भावनाओं की अभिव्यक्ति का कारण या आधार क्या है। कार्नेप तथा एयर जैसे संवेगवादी इस प्रश्न का कोई तर्कसंगत उत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि उनके सिद्धांत के अनुसार हमारी अभिवृत्तियों अथवा भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कोई बस्तुनिष्ठ आधार है ही नहीं। परन्तु उनकी इस मान्यता के विपरीत हम सामान्यप्तः निश्चित रूप से यह मानते हैं कि परोपकार करना, सत्य बोलना, कान देना आदि कुछ विशेष कर्मों के प्रति अनुमोदन की भावना और चोरी करना, निर्दोष प्राणियों को कष्ट पहुंचाना, झूठ बोलना आदि कुछ अन्य कर्मों के प्रति अननुमोदन की भावना नैतिक दृष्टि से उचित एवं वांछनीय है। कार्नेप और एयर का संवेगबाद इस सामान्य मान्यता के औचित्य की कोई संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता, क्योंकि वह स्वयं भावनाओं को ही शुभ–अशुभ का एकमात्र आधार मान लेता है। यदि कोई व्यक्ति सामान्य परिस्थितियों में हत्या के प्रति अनुमोदन की भावना और परोपकार के प्रति अननुमोदन की भावना अभिव्यक्त करता है तो उनके इस सिद्धांत के अनुसार हत्या करना शुभ तथा परोपकार करना अशुभ हो जाता है। इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर उस व्यक्ति के ऐसे आचरण को तर्कसंगत रूप से अनुचित और अवांछनीय सिद्ध नहीं किया जा सकता। बस्तुतः यह कार्नेप और एयर के

संवेग्वादी सिद्धांत का अनिवार्य परिणाम है, क्योंकि यह सिद्धांत नैतिक मूल्यों के वस्तुनिष्ठ आधार का पूर्णतया निषेध करता है। इस सिद्धांत के अनुसार हमारी सभी भावनाएं अथवा अभिवृत्तियां नैतिक दृष्टि से पूर्णतः समान हैं, अतः उनमें से किसी विशेष अभिवृत्ति को उचित या अनुचित कहने का हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं रह जाता। इस प्रकार कानंप तथा एयर का सिद्धांत हमा रेइस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई युक्तिसंगत उत्तर देने में असमर्थ है कि हम कुछ विशेष वस्तुओं या कर्मों के प्रति अनुमोदन की भावना और कुछ अन्य वस्तुओं अथवा कर्मों के प्रति अननुमोदन की भावना क्यों अभिव्यक्त करते है। यह इस सिद्धांत में निश्चय ही एक गम्भीर दोष है जो इसे बहुत दुर्बल तथा असंतोषप्रद बना देता है।

कानेंप और एयर का संवेगवादी सिद्धांत अभिवृत्तियों के मूल्यांकन की भांति नैतिक नियमों तथा प्रथाओं के मूल्यांकन के लिए भी हमें कोई वस्तुनिष्ठ एवं तर्कसंगत आधार प्रदान नहीं करता। सामान्यतः हम कुछ नियमों एवं प्रथाओं को नैतिक दृष्टि से उचित तथा वांछनीय और कुछ अन्य नियमों तथा प्रथाओं को नैतिक दृष्टि से अनुचित एवं अवांछनीय मानते हैं। उदाहरणार्थ आज सभी विवेकशील व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि कुछ समय पूर्व भारत में प्रचलित सती–प्रया और योरोप तथा अमेरिका में पाई जाने वाली दास–प्रथा दोनों ही नैतिक दृष्टि से अनुचित थीं। इसी प्रकार हम सभ्य समाज के नियमों " को नैतिक दृष्टि से उचित और चोरों तथा डाकुओं के नियमों को नैतिक दृष्टि से अनुचित मानते हैं। परन्तु यदि कार्नैप और एयर के संवेगबादी सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो हम किसी भी नियम अथवा प्रथा को नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित नहीं मान सकते। इसका कारण यह है कि इन दार्शनिकों के उक्त सिद्धांत के अनुसार जब हम किसी नियम या प्रथा को उचित अथबा अनु– चित कहते हैं तो हम वस्तुतः उसके सम्बन्ध में कुछ न कहकर उसके प्रति ३. पनी कोई

भावना अभिव्यक्त करते हैं और अन्य व्यक्तियों में इस भावना को जागृत करते हैं। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि हम कभी भी किसी नियम या प्रथा का नैतिक दृ ष्टि से वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष मूल्यांकन नहीं कर सकते। परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति कानेंप और एयर के संवेग– बादी सिद्धांत के इस निष्कर्ष का समर्थन नहीं करता। वह समाज में प्रचलित नियमों एवं प्रथाओं का प्रायः निष्पक्ष रूप से मूल्यांकन करता है तथा इसी आधार पर उनमें से कुछ को नैतिक दृष्टि से उचित और कुछ को नैतिक दृष्टि से अजर वित मानता है। परन्तु कार्नव तथा एयर के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने प्ला • नियमों एवं प्रथाओं का इस प्रकार का मूल्यांकन असंभव तथा निरर्थक हो जाता है। ऐसी स्थिति में इस स्थिति को निश्चय ही उचित और संतोषप्रद नहीं माना जा सकता।

कानेंप और एयर के संवेगवादी सिद्धांत के विरुद्ध उपर्युक्त सभी गंभीर आपत्तियों के कारण ही स्टीवैन्सन तथा ऐडवड्र्स ने इसमें कुछ संशोधन एवं सुधार किए हैं और स्वयं संवेगवाद के समर्थक होते हुए भी उन्होंने इन दोनों दार्शनिकों के मत को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया। ऐसी स्थिति में स्टीवैन्सन और ऐडवर्डस के सिद्धान्त को 'संशोधित संवेगवाद' कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। हम ऊपर बता चुके हैं कि उनका यह 'संशोधित संवेगवाद' कानॅप और एयर के 'विशुद्ध संवेगवाद' से कुछ भिन्न है, अतः इसके विरुद्ध उसी रूप में वे सभी आपत्तियां नहीं उठाई जा सकतीं जिस रूप में ये आपत्तियां कार्नैप तथा एयर के सिद्धांत के विरुद्ध उठाई गई हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हैं कि स्टीवैन्सन और ऐडर्वस का यह 'संशोधित संवेगवाद' कठिनाइयों तथा दोषों से मुक्त है। वस्तुतः इन दोनों विचारकों के संवेगवादी सिद्धांत के विरुद्ध भी अनेक गंभीर आपत्तियां उठाई जा सकती हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि ये सभी आपत्तियां

कार्नेप और एयर के सिद्धांत पर भी समान रूप से लागू होती हैं, अतः इन आपत्तियों को संवेगवाद के विरुद्ध सामान्य आपत्तियों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। अब हम इस सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ ऐसी ही सामान्य आपत्तियों पर विचार करेंगे ।

1. हम देख चुके हैं कि संवेगवादियों के मतानुसार कथनों का संवेगात्मक अर्थ ही उन्हें वास्तव में 'नैतिक निर्णय' बनाता है। जिस कथन द्वारा हम अपनी कोई विशेष भावना या अभिवृत्ति को अभिव्यक्त करते हैं और अन्य व्यक्तियों में इसी भावना अथवा अभिवृत्ति को जागृत करते हैं उसी कथन को 'नैतिक निर्णय' की संज्ञा दी जा सकती है। इसका अर्थ यही है कि नैतिक निर्णयों के संवेगात्मक अर्थ पर आधारित उनका यह विशेष प्रयोजन ही इन निर्णयों की मूल विशेषता है जो इन्हें अन्य सभी प्रकार के कथनों से पृथक करती है। नैतिक निर्णयों के इस प्रयोजन के विषय में स्टीवैन्सन स्पष्ट कहते हैं कि इन निर्णयों का मुख्य कार्य तथ्यों का वर्णन करना नहीं, अपितु भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित करना ही है। हम देख चुके हैं कि अन्य संवेगवादी भी नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में उनके इस मत को स्वीकार करते हैं।

परन्तु नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में संवेगवादियों की उपर्युक्त मान्यता उचित और युक्तिसंगत नहीं है। यह सत्य है कि सामान्यतः हम अपने नैतिक निर्णयों द्वारा निर्थात वस्तुओं के प्रति अनुमोदन तथा अननुमोदन की भावनाएं व्यक्त करते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारी ये भावनाएं ही इन निर्णयों को 'नैतिक निर्णय' बनाती हैं। हम अस्य अनेक प्रकार के बनाएं द्वारा भी प्रायः ऐसी ही भावनाएं अभिव्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ हम प्रचारतो यक विज्ञापनों, राजनैतिक भाषणों, धार्मिक उपदेशों, प्रलोभनों तथा धमकियो द्वारा भी अपनी भावनाएं अभिव्यक्त करते हैं और दूसरों की भावनाओं को प्रभावित करते हैं

जिससे हम उनके आचरण में मनोवांछित परिवर्तन कर सकें यदि नैतिक निर्णयों के विषय में संवेगवादियों का मत उचित है तो इन सबको नैतिक निर्णय मानना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। परन्तु यह सर्वमान्य तथ्य है कि इन्हें 'नैतिक निर्णय' नहीं माना जा सकता, क्योंकि नैतिक निर्णय इन सब से भिन्न होते हैं। इस प्रकार यदि संवेगवादियों के इस मत को स्वीकार भी कर लिया जाए कि नैतिक निर्णय हमारी भावनाओं को अभिव्यक्त और प्रभावित करते हैं तो भी इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि इन निर्णयों की यही विशेषता इन्हें अन्य सभी प्रकार के कथनों से पृथक करती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या नैतिक निर्णयों का प्रयोजन दूसरों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित करना है। इस प्रश्न के उत्तर में यही महा जा सकता है कि सदैव तथा अनिवार्यतः इन निर्णयों का यह उद्देश्य नहीं होता। हम सदैव केवल अन्य व्यक्तियों की अभिवृत्तियों को प्रभावित या परि– बत्तित करने के लिए नैतिक निर्णय नहीं देते। संवेगवादियों की उपर्युक्त मास्यता का खंडन करते हुए जी. जे. वार्नाक कहते हैं कि यदि मैं केवल दूसरों की अभिवृत्तियों को परिर्वार्तत अथवा प्रभावित करने के लिए नैतिक निर्णय देता हूं तो निम्नलिखित तीन बातों को स्वीकार करना मेरे लिए अनिवार्य हो जाता है– (क) मैं यह मान लेता हूं कि दूसरे व्यक्ति में वह अभिवृत्ति विद्यमान नहीं है जिसे मैं अपने नैतिक निर्णय द्वारा उसमें उत्पन्न करना चाहता हूं। (ख) मैं अनिवार्यतः दूसरे व्यक्ति में वह अभिवृत्ति उत्पन्न करने की इच्छा करता हूं। (ग) मैं कम से कम यह संभव मानता है कि मेरा नैतिक निर्णय उस व्यक्ति में वह अभिवृत्ति उत्पन्न करेगा। परन्तु वास्तव में नैतिक निर्णय देने के लिए इन तीनों अथवा इनमें से किसी भी एक शर्त का पूरा होना अनिवार्य नहीं है। मैं किसी ऐसे व्यक्ति से बातचीत करते हुए किसी वस्तु के विषय में अपना नैतिक निर्णय दे सकता हूं जो उस वस्तु के संबंध में मेरे मत

को पहले से ही स्वीकार करता है निर्णय प्रस्तुत कर सकता है जो मेरे मत की जरा भी परवाह नहीं करता और अमवा जिसकी अभिवृत्तियों को परिवर्तित या प्रभावित करना मैं असंभव मानता है। इसी प्रकार मैं किसी वस्तु के विषय में ऐसे व्यक्ति के समक्ष भी अपना नैतिक इसी कारण जिसके विचारों को अपने नैतिक निर्णय द्वारा प्रभावित करना मेरे लिए संभव नहीं है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि अन्य व्यक्तियों की भाव– नाओं या अभिवृत्तियों को परिवर्तित अथवा प्रभावित करना नैतिक निर्णयों का अनिवार्य उद्देश्य नहीं माना जा सकता। 72 ऐसी स्थिति में संवेगवादियों की यह मान्यता उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती कि नैतिक निर्णयों का मुख्य प्रयोजन दूसरों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को परिवर्तित अथवा प्रभावित करना ही होता है।

2. हम देख चुके हैं कि संवेगवादी 'शुभ', 'उचित', 'कत्र्तव्य', आदि नैतिक शब्दों को मुख्यतः संवेगात्मक मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार संवेगात्मक अर्थ ही इन शब्दों का प्रमुख अर्थ है। यह सत्य है कि इन नैतिक शब्दों द्वारा निर्णीत वस्तुओं के सम्बन्ध में हम अपने अनुमोदन तथा अननुमोदन की भावनाएं अवश्य व्यक्त करते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ है नहीं है कि ये शब्द मुख्यतः संवेगात्मक हैं। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जब हम अपने नैतिक निर्णयों में 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम किसी प्रकार की संवेगात्मक उत्तेजना का अनुभव नहीं करते। इन शब्दों का प्रयोग करके हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में दूसरों के समक्ष अपने तर्कसंगत विचार प्रस्तुत कर सकते हैं और इस प्रकार उन्हें अपना निष्पक्ष परामर्श दे सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि "अमुक व्यक्ति अच्छा मनुष्य है" अथवा "अमुक कर्म उचित कर्म है" तो हम अपने इन नैतिक निर्णयों द्वारा संवेगों या भावनाओं को ही अभि– व्यक्त तथा जागृत नहीं करते; हम उस मनुष्य और कर्म का वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष मूल्यांकन करते हैं। हम

यह मानते हैं कि हमारे ये नैतिक निर्णय वस्तु निष्ठ तथा सार्वभौमिक हैं, क्योंकि ये समान परिस्थितियों में उस जैसे सभी मनुष्यों और कर्मों पर समान रूप से अवश्य लागू होते हैं। ऐसी स्थिति में इन निर्णयों में

प्रयुक्त नैतिक शब्दों को मुख्यतः संवेगात्मक नहीं माना जा सकता । इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि हमारा कोई कथन अत्यधिक संवेगा– त्मक होते हुए भी नैतिक निर्णय न हो। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति से रुष्ट होकर मैं उसे यह कह सकता हूं कि "तुम बहुत नीच तथा दुष्ट हो और मैं तुमसे अत्यधिक घृणा करता हूं"। मेरा यह कथन निश्चय ही संवेगात्मक है, किन्तु इसे 'नैतिक निर्णय' की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह निष्पक्ष, वस्तुनिष्ठ और सार्वभौमिक निर्णय नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि संवेगात्मकता को नैतिक निर्णयों की अनिवार्य शर्त नहीं माना जा सकता और नैतिक शब्द वास्तव में मुख्यतः संवेगात्मक नहीं होते, अतः संवेगवादियों ने इन शब्दों के अर्थ का जो संवेगवाद विश्लेषण किया है वह एकांगी तथा दोषपूर्ण है। 3. इस विश्लेषण के एकांगी और दोषपूर्ण होने का एक प्रमुख कारण यहहै कि संवेगेवादी मनुष्य की अभिवृत्तियों को भी भावनाओं तथा संवेगों के समान ही पूर्णतः निबौद्धिक मानते हैं। हम पिछले खण्डों में देख चुके हैं कि उन्होंने अभिवृत्ति' शब्द का प्रयोग 'संवेग' और 'भावना' के समानार्थक शब्द के रूप में ही किया है। स्टीवैन्सन यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि 'अभिवृत्ति', 'संवेग' अथवा 'भावना' की अपेक्षा अधिक जटिल मनःस्थिति है, किन्तु उन्होंने भी इत्त दोनों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं बताया। यही बात ऐडवड्स के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कानेंप और एयर तो अभिवृत्तियों तथा संवेगों में कोई अन्तर मानते ही नहीं । परन्तु अभिवृत्तियों के स्वरूप के सम्बन्ध में संवेगवादियों का यह मत उचित और तर्कसंगत नहीं है। वे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि 'अभिवृत्ति', 'संवेग' या 'भावना' से पर्याप्त सीमा तक भिन्न मनोदशा है। सामान्यतः

मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि भावनाएं अथवा संवेग निर्वाद्धिक तथा अपेक्षाकृत अस्थाई या क्षणिक होते हैं। संवेग हमारी नितांत नैसर्गिक मनोदशाएं हैं जिनके लिए हम कोई तर्क नहीं दे सकते और जिनके लिए किसी प्रकार के तर्कों की माँग की भी नहीं जाती। इसके अतिरिक्त ये संवेग हमारे मन में दीर्घ काल तक नहीं बने रहते; कुछ समय के पश्चात इनका प्रभाव कम या समाप्त हो जाता है। परन्तु अभिवृत्तियों के सम्बन्ध में उपयुक्त बातें नहीं कही जा सकतीं। संवेगों के विपरीत हमारी अभिवृत्तियां अपेक्षाकृत अधिक स्थाई तथा कुछ विश्वासों पर आधारित होती हैं। अपनी अभिवृत्तियों के समर्थन में हम तर्क दे सकते हैं, और अन्य व्यक्ति भी इन्हें उचित सिद्ध करने के लिए हमसे तर्कों की मांग कर सकते हैं। इस दृष्टि से हमारी अभिवृत्तियों को 'बौद्धिक' कहा जा सकता है। संवेगों के विपरीत अपनी अभि– वृत्तियों के लिए हमें उत्तरदायी माना जा सकता है, क्योंकि हम इनमें अपनी इच्छानुसार यथोचित संशोधन अथवा परिवर्तन कर सकते हैं। इतना ही नहीं, हमारी अभिवृत्तियों के विषय में पारस्परिक संगति का प्रश्न भी उठाया जा सकता है जो संवेगों के सम्बन्ध में नितांत निरर्थक है।

अथवा संवेगों से पर्याप्त सीमा तक भिन्न होती हैं। परन्तु संवेगवादियों ने उपर्युक्त सभी तथ्यों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि अभिवृत्तियां भावनाओं अभिवृत्तियों तथा संवेगों को एक–दूसरे के समान मानकर इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की है जिसके परिणामस्वरूप वे नैतिक निर्णयों के अर्थ का समुचित विदलेषण नहीं कर सके। अभिवत्तियों को संवेगों के समान मानने के कारण ही न्होंने नैतिक निर्णयों को मुख्यतः संवेगात्मक मान लिया है। उनके अनुसार नैतिक दृष्टि से किसी कर्म का अनुमोदन या अननुमोदन करना उसके प्रति अपनी व्यक्तिगत प्रसन्नता को अभिव्यक्त करने के समान ही है। इसका अर्थ यही है कि नैतिक निर्णयों तथा संवेगात्मक कथनों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। परन्तु, जैसाकि

हम ऊपर बता चुके हैं, संवेगवादियों द्वारा किया गया नैतिक निर्णयों का यह विश्लेषण अनुचित और दोषपूर्ण है, क्योंकि यह इन निर्णयों को मुख्यतः निर्बोद्धिक संवेगात्मक अभिव्यक्तियां बना देता है। संवेगवादियों के विपरीत सामान्य व्यक्ति नैतिक निर्णयों को निष्पक्ष, वस्तुनिष्ठ तथा सार्वभौमिक निर्णय मानते हैं जो व्यक्तिनिष्ठ संवेगात्मक कथनों से मूलतः भिन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में संवेगवादियों का यह दावा उचित और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि वे उसी रूप में नैतिक निर्णयों की व्याख्या करते हैं जिस रूप में सामान्य व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन में इन निर्णयों का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः संवेगवादियों के विपरीत सामान्य व्यक्ति इन निर्णयों को संवेगात्मक कथन न मानकर ऐसे वस्तुनिष्ठ और सार्वभौमिक निर्णय मानते हैं जिनके पक्ष या विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

4. संवेगवादियों द्वारा नैतिक निर्णयों के एकांगी तथा दोषपूर्ण विश्लेषण का एक अन्य कारण यह भी है कि वे नैतिक अभिवृत्तियों तथा व्यक्तिगत संवेगों में कोई स्पष्ट एवं निश्चित भेद नहीं कर सके। कानेंप, एयर, स्टीवेंसन आदि सभी संबेगवादियों ने अपनी कृतियों में 'नैतिक अनुमोदन' तथा 'नैतिक अननुमोदन' की चर्चा की है, किंतु वे हमें यह नहीं बताते कि ये नैतिक अनुमोदन और अननुमोदन व्यक्तिगत प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता से किस प्रकार भिन्न हैं। कार्नेप और एयर ने तो यह प्रश्न ही नहीं उठाया। स्टीवंसन तथा ऐडवङ् त ने इस प्रश्न पर विचार अवश्य किया है, किन्तु वे भी इसका कोई युक्तिसंगत एवं सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सके। उदाहरणार्थ स्टीवंसन गम्भीरता और तीव्रता के कथन है पर नैतिक अभिवृत्तियों को व्यक्तिगत संवेगों से पृथक करते हैं। उनका कथन है कि "हम 'शुभ' का एक ऐसा अर्थ स्वीकार कर सकते हैं जिसके अनुसार की ओर संकेत न करके केवल उसकी ऐसी पसन्द की ओर संकेत करता है जिसके भी। मंनैतिक शुभ' का संक्षिप्त रूप होता है और वह बक्ता की प्रत्येक पसार सम्बन्ध में वह एक

विशेष गंभीरता एवं अत्यावश्यकता का अनुभव करता है।'' मान लीजिए एक व्यक्ति किसी विशेष प्रकार के आचरण का अननुमोदन करता है। यदि वह दूसरों को यह आचरण करते हुए देखता है तो वह अत्यधिक क्रोधित होता है अथवा उसे तीव्र आघात पहुंचता है; और यदि वह स्वयं यह आचरण करता है तो वह अपराध–भावना का अनुभव करता है। परन्तु मान लीजिए वह इस आचरण का नैतिक दृष्टि से अननुमोदन करने के स्थान पर इसे संवेगबाद केवल पसन्द नहीं करता । तब वह दूसरों को यह आचरण करते हुए देखकर सेवन अप्रसन्न हो सकता है औ

6.4 सारांश

6.5 शब्दार्थ सूची

6.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें

श्री० एस० स्टीवेन्सन, 'ऐथिक्स एण्ड लेग्वेज', पु० 139

राइटर्स झॉन एथिक्स', पृ० 532

6.6. सी० एल० स्टीवेन्सन, 'एथिक्स एण्ड लैंग्वेज', पृ० 5

45. जी०एस० स्टीवेन्सन 'दि नेचर ऑफ़ एथिकल डिग्रीमेंट जोसेफ काट्य द्वारा सम्पादित 'राइट ऑन एथिक्स में संकलित ५० 531

29. सी० एल० स्टीवैन्सन, 'ऐथिक्स ऐंड लैंग्वेज', पृ०

6.7 बोध प्रश्न

खण्ड–07

परामर्शवाद

खण्ड संरचना :

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

5.3.1 आधारभूत मान्यताएं

5.3.2 आर. एम. हेयर

5.3.3 पी. एच. नॉवेल स्मिथ

5.3.4 मूल्यांकन

3.4 सारांश

3.5 शब्दार्थ सूची

3.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें

3.7 बोध प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- परामर्शवाद की आधारभूत मान्यताओं को जानने में।

- आर. एम. हेयर के विचारों को जानने में।
- पी. एच. नॉवेल स्मिथ के विचारों को जानने में।
- परामर्शवाद के मूल्यांकन को समझने में।

5.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

5.3.1 आधारभूत मान्यताएं

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक समकालीन नैतिक दर्शन में संवेगवाद का पर्याप्त महत्त्व रहा । संज्ञानात्मक सिद्धांतों का खण्डन करते हुए कार्लेप, एयर, स्टीवैन्सन आदि अनेक संवेग. वादियों ने इसी सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणी– करण की व्याख्या करने का प्रयास किया। परन्तु 1950 के पश्चात बहुत से दार्शनिक यह अनुभव करने लगे कि संवेगवाद में अनेक गंभीर दोप तया कठिनाइयों हैं जिनके कारण यह सिद्धान्त नैतिक निर्णयों की पूर्णतः संतोषप्रद ब्याख्या नहीं कर पाता। इस सिद्धान्त में विद्यमान इन गंभीर दोषों और कठिनाइयों का विस्तृत विवेचन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। वस्तुतः इन्हीं कठिनाइयों तथा दोषों के कारण इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संवेगवाद का प्रभाव कम होने लगा और संभवतः आज कोई भी दार्शनिक इस सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन नहीं करता । जिन समकालीन दार्शनिकों ने संवेगवाद की आलो चना की है उनमें से कुछ ने नैतिक निर्णयों की व्याख्या करने के लिए एक नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसे 'परामर्शबाद' की संज्ञा दी गई है। आर०एम० हेयर इस नवीन सिद्धांत के प्रमुख प्रणेता माने जाते हैं जो वर्तमान शताब्दी के उत्तराद्ध के प्रारंभ से आज तक निरंतर चर्चा का केन्द्र बने रहे हैं और इसी कारण जिनका समकालीन नैतिक

दर्शन में आज भी विशेष महत्त्व है। हेयर के अतिरिक्त एक अन्य दार्शनिक पी० एच० नावलस्मिथ ने भी मूलतः परामर्शबाद का ही समर्थन किया है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि गत 30— ३० वर्षों में नैतिक निर्णयों के विश्लेषण की दृष्टि से संवेगवाद की अपेक्षा परामर्शवाद का कहीं अधिक महत्त्व रहा है।

इब विचारणीय प्रश्न यह है कि परामर्शवाद की आधारभूत मान्यताएं क्या हैं और यह सिद्धांत संवेगबाद से कहाँ परामर्शवाद की आधारावर विचार करते। हुए यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि संवेगवाद तथा परामर्शबाद में पर्याप्त अन्तर है, फिर भी इन दोनों सिद्धांतों में कुछ मूल समानताएं हैं जिनको वर्षा किए बिना परामर्शवाद के स्वरूप को भली—भांति स्पष्ट करना बहुत बठिन होगा। जैसा कि हम दूसरे अध्याय में बता चुके हैं, संवेगवाद तथा परामर्श— बाद योगी ही असंज्ञानात्मक सिद्धांत है जो संज्ञानात्मक सिद्धान्तों के विपरीत शेरक निर्णयों को केवल वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक नहीं मानते। इन दोनों विद्वान्तों के अनुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक कथनों से भिन्न होते हैं, क्योंकि दे निर्णय किन्ही तथ्यों और प्राकृतिक या निर्धाकृतिक गुणों अथवा सम्बन्धों का शहर मात्र नहीं करते। संवेगवादियों की भाति परामर्शवादी भी यह मानते हैं वि तथ्यात्मक कथमों के विपरीत नैतिक निर्णय मुख्यतः असंज्ञानात्मक होते हैं और मानवीय जाचरण के साथ इन निर्णयों का अनिवार्य सम्बन्ध होता है। ये निर्णय हुनें केवल कुष्ठछ तथ्यों का ही बोध नहीं कराते, अपितु ये आचरण के विषय में हमारा मार्गदर्शन भी करते हैं। इन निर्णयों के सम्बन्ध में हम कभी मी डास्थ या उदासीन नहीं रह सकते। इसी कारण नैतिक निर्णयों को केवल हरंगाष्क अथवा तस्यात्मक कथनों से भिन्न मानना हमारे लिए अनिवार्य हो हता है और सवेगबादी तथा परामर्शबादी दोनों ही इस मान्यता का समान करने समर्थन करते हैं। इसके अतिरिक्त संवेगबादियों की भांति परामर्शबादी भी शब्दार्थ विषयक निर्देशात्मक सिद्धांत का खण्डन करते हैं

और यह मानते हैं विशुम', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्द ऐसे वर्णनात्मक शब्द नहीं है है जिसका मुख्य कार्य किन्हीं प्राकृतिक या निर्माकृतिक गुणों अथवा सम्बन्धों का शेर रुराना ही है। इन नैतिक शब्दों का प्रयोग हम निर्णीत वस्तुओं का केवल वर्षन करने के लिए नहीं करते; इन शब्दों द्वारा हम स्वयं अपना अथवा दूसरों का मार्गदर्शन करते हैं और निर्णीत बस्तुओं का मूल्यांकन करते हैं। इस दृ ष्टि के रेतिक शब्द तथ्यात्मक शब्दों से पर्याप्त सीमा तक भिन्न प्रकार के होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या के सम्बन्ध में भी संवेग– सदियों तथा परामर्शवादियों के विचारों में कुछ समानता है। वस्तुतः इन शवारमृत समानताओं के कारण ही सबैगवाद तथा परामर्शवाद दोनों सिद्धांतों एक ही भूत विचारधारा का समर्थन करने वाले 'असंज्ञानात्मक सिद्धांत माना जाता है।

परन्तु उपर्युक्त समानताओं वास्तव में एक के होते हुए भी संवेगबाद और परामर्शबाद दूसरे से भिन्न सिद्धांत है, क्योंकि ये दोनों सिद्धांत नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की भिन्न–भिन्न प्रकार से व्याख्या इते हैं। संवेगवादियों की अनेक मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए परामर्श– अरियों ने उनके सिद्धांत का स्पष्ट रूप से और दृढ़तापूर्वक खण्डन किया है। अंदर में संवेगवादियों की इस मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य संवेगों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना ही है। इस मान्यता के विरुद्ध परामर्शवादियों का कथन है कि संवेगवादी नैतिक निर्णयों को मुख्यतः भावनात्मक अथवा संवेगात्मक कथन मान लेते हैं जो वास्तव में उचित नहीं है। परामर्शवादियों के मतानुसार नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना नहीं, अपितु मनुष्यों को कुछ करने या न करने का परामर्श देना अथवा उनका मार्गदर्शन करना ही है। इसी कारण वे नैतिक निर्णयों को मुख्यतः 'संवेगात्मक' न मान कर 'परामर्शा त्मक' ही मानते हैं। उनका कथन

है कि हम दूसरों के संवेगों को प्रभावित करने के लिए नहीं, अपितु उन्हें कोई कर्म करने या न करने का परामर्श देने और इस प्रकार उनका मार्गदर्शन करने के लिए ही नैतिक निर्णय देते हैं। परामर्शवादियों– विशेषतः हेयर–का निश्चित मत है कि दूसरों की भावनाओं को प्रभावित करना और उन्हें परामर्श देना या उनका मार्गदर्शन करना ये दो भिन्न–भिन्न क्रियाएं है, किन्तु संवेगवादी इन दोनों क्रियाओं में भेद नहीं कर सके जिसके फलस्वरूप उनका सिद्धांत बहुत असंतोषप्रद हो गया है। संवेगबाद के विरुद्ध परामर्श– वादियों की इस आपत्ति को हम अगले खण्ड में अधिक विस्तार से स्पष्ट करेंगे। यहां इतना कह देना ही पर्याप्त है कि परामर्शवादियों के अनुसार नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य स्वयं वक्ता को अथवा अन्य व्यक्तियों को कुछ करने या न करने का परामर्श देना ही होता है, किसी व्यक्ति की भावनाओं को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परामर्शवादी नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप की जो व्याख्या करते हैं वह इन निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप की संवेगवादियों द्वारा की गई व्याख्या से पर्याप्त सीमा तक भिन्न है।

नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप की भांति इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के सम्बन्ध में भी परामर्शवादियों का संवेगवादियों से मतभेद है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि अधिकतर संवेगवादी नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तों को 'मनोवैज्ञानिक तर्क' मानते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य स्वयं इन निर्णयों को उचित सिद्ध करना नहीं, अपितु दूसरों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना ही है, परन्तु परामर्शवादी संवेगबादियों की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में जो तर्क दिए जाते हैं उनका इन निर्णयों के साथ ताकिक संबंध होता है, मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध नहीं। इसका अर्थ यह है कि ये तर्क अन्य व्यक्तियों की भावनाओं को प्रभावित

अथवा परिवर्तित करने के स्थान पर स्वयं इन निर्णयों को ही उचित या अनुचित सिद्ध करते हैं और यही इन तकों का परामर्शवाद प्रमुख उद्देश्य होता है। नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले में भी निष्पक्षता, वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता विद्यमान रहती है। हम अ खण्डों में देखेंगे कि अपनी इसी मान्यता के आधार पर परामर्शवादियों ने न निर्णयों के प्रमाणीकरण के सम्बन्ध में संवेगवादियों विशेषतः स्टीवैन्सन मत का सफलतापूर्वक खण्डन किया है। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के विषय में परामर्शवादियों का विश् पण संवेगवादियों के विश्लेषण की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद तथा युक्तिसंग है। इसका कारण यह है कि संवेगवादियों के विपरीत परामर्शबादी नैति निर्णयों को मुख्यतः संवेगात्मक अथवा निबौद्धिक कथन न मानकर ऐन बौद्धिक निर्णयों के रूप में स्वीकार करते हैं जिनकी वस्तुनिष्ठ तर्कों द्वारा पुषि् की जा सकती है। उनके विचार में नैतिक निर्णय देना विवेकशील मनुष्य क बौद्धिक क्रिया है जिसका मुख्य उद्देश्य परामर्श देना अथवा मार्गदर्शन करना ही होता है, संवेगों या भावनाओं को अभिव्यक्त तथा जागृत करना नहीं। इस दृष्टि से नैतिक निर्णय संवेगात्मक वाक्यों से निश्चय ही भिन्न प्रकार के होते हैं। वास्तव में नैतिक निर्णयों की बौद्धिकता से सम्बन्धित परामर्शवाद की यह आधारभूत मान्यता उसे संवेगवाद से भिन्न ही नहीं, अपितु उसकी अपेक्षा अधिक संतोषप्रद सिद्धान्त भी बनाती है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि शब्दार्थ विषयक जिस सिद्धांत के आधार पर परामर्शवादियों ने नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या की है वह संवेगवादियों द्वारा मान्य शब्दार्थ सम्बन्धी सिद्धांत से भिन्न है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, संवेगवादी भाषा के अर्थ से सम्बन्धित सत्यापन–सिद्धांत तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर ही नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या करते

है। परन्तु परामर्शवादियों ने इन निर्णयों के अर्थ की व्याख्या के लिए उक्त दोनों के अर्थ की व्याख्या करते हैं उसे 'उपयोग–सिद्धांत' की संज्ञा दी जाती है। यह सिद्धांतों को अस्वीकार किया है। वे जिस सिद्धांत के आधार पर नैतिक निर्णयों इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ किसी विशेष प्रसंग के अन्तर्गत उसके 'उपयोग' में ही निहित रहता है। यदि हम किसी शब्द या वाक्य का अर्थ जानना चाहते हैं तो हमें यह जानना चाहिए कि किसी विशेष प्रसंग में वह क्या कार्य करता है अर्थात उसका उपयोग किसलिए किया जाता है। उसके उपयोग को भली–भांति समझ लेने पर ही हम उसका ठीक–ठीक अर्थ निश्चित कर समले हैं। इस प्रकार उपयोग–सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि भाषा का अर्थ खेल ताकिक नियमों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है जिनके अनुसार हम विभिन्न प्रसंगों अथवा परिस्थितियों में उसका सार्थक प्रयोग करते हैं। भाषा के वियोग के लिए स्वीकृत ये ताकिक नियम ही उसे वास्तव में सार्थक तथा बुद्धिगम्य बनाते हैं। किसी शब्द का अर्थ जानने के लिए हमें यह नहीं पूछना बाहिए कि बह किस विशेष वस्तु, स्थिति, गुण या सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। हमें यह पूछना चाहिए कि किसी विशेष प्रसंग में उसका सार्थकतापूर्वक उपयोग हिम प्रकार किया जाता है। स्पष्टतः इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रसंगों में विविध उपयोगों के अनुसार एक ही कथन के अनेक अर्थ हो सकते हैं, अतः किसी भी एक कसौटी द्वारा सभी शब्दों अथवा कथनों की सार्थकता को निश्चित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से यह उपयोग–सिद्धांत शब्दार्थ विषयक अन्य सभी सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा संतोषप्रद प्रतीत होता है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम लुडविग विटगिन्स्टाइन ने 1953 में प्रकाशित अपनी इसरी प्रसिद्ध पुस्तक, 'फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' में किया था। परवर्ती दार्शनिकों के भाषा–विश्लेषण पर उनके इस उपयोग–सिद्धांत का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा और

वे इसी सिद्धांत के अनुसार सभी प्रकार के कथनों के अर्थ की व्याख्या करने लगे। जे०एल० ऑस्टिन, गिल्बर्ट रॉएल आदि समकालीन दार्शनिकों ने इसी सिद्धांत के आधार पर भाषा के अर्थ का विश्लेषण किया है। इन दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य बहुत–से समकालीन दार्शनिकों ने भी विज्ञान तथा दर्शन की सभी महत्वपूर्ण विधाओं में प्रयुक्त भाषा के अर्थ की व्याख्या इस उपयोग–सिद्धांत के अनुसार ही की है। यही कारण है कि आज भी भाषा–विश्लेषण की दृष्टि से इस सिद्धांत को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

दर्शन की अन्य विधाओं की भांति नीतिशास्त्र पर भी इस उपयोग–सिद्धांत का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा है। आर० एम० हेयर, पी० एच० नावल–स्मिथ, एस० ई० टूलमिन, जे० ओ० अर्मसन नादि अनेक दार्शनिकों ने इसी सिद्धांत के आधार पर नैतिक निर्णयों का अर्थ स्पष्ट किया है। जैसा कि हम अगले खण्डों में देखेंगे, परामर्शवादी 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों के अर्थ का विश्लेषण उनके परामर्शात्मक तथा मूल्यात्मक उपयोग को ध्यान में रखकर ही करते हैं। उनका विचार है कि हम स्वयं अपने आप को अथवा अन्य व्यक्तियों को कोई कर्म करने या न करने का परामर्श देने तथा मानवीय आचरण का मूल्यांकन करने के लिए ही इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "अमुक कर्म उचित है" तो हम अपने इस नैतिक निर्णय द्वारा स्वयं अपने आप को अथवा दूसरों को वह कर्म करने का परोक्ष रूप से परामर्श देते हैं। परामर्शात्मकता को यह तत्त्व इस प्रकार के निर्णयों में अनिवार्यतः रहता है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिए परामर्शवादियों ने निम्नलिखित निहित रहता है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिए प्रमर्शवादियों ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है। यदि हम यह कहते हैं कि "अमुक कर्म उचित है किन्तु उसे मत करो" अथवा "अमुक जीवन पद्धति अच्छी है किन्तु उसे मत अपनाओ" तो हमारे ये कथन निश्चय ही

बहुत विचित्र और सामान्य परिस्थितियों में निरर्थक प्रतीत होंगे। इसके विपरीत यदि हम यह कहते है कि "अमुक कर्म उचित है, अतः उसे करो" अथवा "अमुक जीवन–पद्धति अच्छी है, अतः उसे अपनाओ" तो हमारे इन रूथनों की सार्थकता में संदेह नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि 'उचित' और 'अच्छी'– ये दोनों शब्द अनि– वार्यतः परामर्शात्मक हैं। यही बात अन्य नैतिक शब्दों के उपयोग के विषय में भी कही जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि परामर्शवादियों के मतानुसार नैतिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्यतः परामर्श, मार्गदर्शन अथवा मूल्यांकन के लिए ही किया जाता है और इन शब्दों की यही मूल विशेषता इन्हें वर्णनात्मक या तथ्या– त्मक शब्दों से पृथक करती है। यही नहीं, नैतिक शब्दों की यह विशेषता उन्हें संवेगात्मक शब्दों से भी पृथक करती है जिनका मुख्य उद्देश्य भावनाओं या संवेगों को अभिव्यक्त और जागृत करना ही होता है। इस प्रकार परामर्शवादी नैतिक शब्दों की उपयुक्त मूल विशेषता को उनको अनिवार्य तत्त्व मानने के कारण अपने सिद्धांत को एक ओर तो प्रकृतिवाद, निर्प्रकृतिवाद आदि संज्ञानात्मक सिद्धान्तों से और दूसरी ओर संवेगबाद से भिन्न मानते हैं।

परामर्शवाद की उपर्युक्त आधारभूत मान्यताओं के अतिरिक्त इस सिद्धांत की एक अन्य महत्त्वपूर्ण आधारभूत मान्यता यह है कि इसके अनुसार नैतिक निर्णय परामर्शात्मक होने के साथ–साथ अनिवार्यतः सार्वलौकिक भी होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी मनुष्य के विषय में कोई नैतिक निर्णय देता है तो वह यह स्वीकार करने के लिए अपने आपको ताकि दृष्टि से अनिवार्यतः प्रतिबद्ध करता है कि उसका वह नैतिक निर्णय समान परिस्थितियों में सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होगा जिनमें वह स्वयं भी सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, वह अपने नैतिक निर्णय को सार्वलौकिक निर्णय के रूप में स्वीकार करने के लिए ताकिक दृष्टि से प्रतिबद्ध है। यदि वह अपने नैतिक निर्णय को सार्वलौकिक निर्णय

के रूप में स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होता तो उसके इस निर्णय को वास्तव में 'नैतिक निर्णय' की संज्ञा नहीं दी श्रा सकती । परामर्शवादियों के अनुसार सार्वलौकिकता का यह वा को तथ्यात्मक कथनों के समान वस्तुनिष्ठ बनाता है और साथ ही इन्हें सवे– मात्मक कथनों से भी पथक करता है। इस तत्त्व के अभाव में हम किसी भी कथन सभी नैतिक निर्णयों में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। यही तत्त्व इन निर्णयों ता के साथ–साथ सार्वलौकिकता को भी सभी नैतिक निर्णयों की अनिवार्य मूल विशेषता मानते हैं। इन निर्णयों में विद्यमान सार्वलौकिकता के इस तत्त्व को हम एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। यदि मैं यह कहता हूं कि "चोरी करना अनुचित है" तो मैं अपने इस नैतिक निर्णय द्वारा तार्किक दृष्टि से यह स्वीकार करने के लिए आपने आपको अनिवार्यतः प्रतिबद्ध करता है कि समान परिस्थितियों में सभी मनुष्यों के लिए – जिनमें मैं स्वयं भी सम्मि लित हूं–चोरी करना अनुचित है। यदि मैं यह स्वीकार नहीं करता तो मैं 'अनुचित' शब्द के सार्थक प्रयोग के लिए ताकिक नियमों का उल्लंघन करता हूं जिसके फलस्वरूप मेरे उपर्युक्त कथन को 'नैतिक निर्णय' नहीं माना जा सक्ता । परामर्शवादियों ने नैतिक निर्णयों में पाए जाने वाले सार्वलौकिकता के इस तत्त्व को विशेष महत्त्व दिया है, अतः हम इस तत्त्व के संबंध में उनके मत पर अगले खंडों में अधिक विस्तार से विचार करेंगे। यहां संक्षेप में इतना कह देना ही पर्याप्त है कि परामर्शवाद के अनुसार सार्वलौकिकता और परामर्शात्मकता ये दोनों ही नैतिक निर्णयों की अनिवार्य मूल विशेषताएं हैं जिनके अभाव में हम किसी कथन को 'नैतिक निणय' की संज्ञा नहीं दे सकते ।

5.3.2 आर. एम. हेयर

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक समकालीन नैतिक दर्शन में संवेगवाद का पर्याप्त महत्त्व रहा । संज्ञानात्मक सिद्धांतों का खण्डन करते हुए कार्लेप, एयर, स्टीवैन्सन आदि अनेक संवेग. वादियों ने इसी सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणी– करण की व्याख्या करने का प्रयास किया। परन्तु 1950 के पश्चात बहुत से दार्शनिक यह अनुभव करने लगे कि संवेगवाद में अनेक गंभीर दोप तया कठिनाइयों हैं जिनके कारण यह सिद्धान्त नैतिक निर्णयों की पूर्णतः संतोषप्रद ब्याख्या नहीं कर पाता। इस सिद्धान्त में विद्यमान इन गंभीर दोषों और कठिनाइयों का विस्तृत विवेचन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। वस्तुतः इन्हीं कठिनाइयों तथा दोषों के कारण इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संवेगवाद का प्रभाव कम होने लगा और संभवतः आज कोई भी दार्शनिक इस सिद्धांत का पूर्णतः समर्थन नहीं करता । जिन समकालीन दार्शनिकों ने संवेगवाद की आलो चना की है उनमें से कुछ ने नैतिक निर्णयों की व्याख्या करने के लिए एक नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसे 'परामर्शबाद' की संज्ञा दी गई है। आर०एम० हेयर इस नवीन सिद्धांत के प्रमुख प्रणेता माने जाते हैं जो वर्तमान शताब्दी के उत्तराद्ध के प्रारंभ से आज तक निरंतर चर्चा का केन्द्र बने रहे हैं और इसी कारण जिनका समकालीन नैतिक दर्शन में आज भी विशेष महत्त्व है। हेयर के अतिरिक्त एक अन्य दार्शनिक पी० एच० नावलस्मिथ ने भी मूलतः परामर्शबाद का ही समर्थन किया है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि गत 30– ३० वर्षों में नैतिक निर्णयों के विश्लेषण की दृष्टि से संवेगवाद की अपेक्षा परामर्शवाद का कहीं अधिक महत्त्व रहा है।

इब विचारणीय प्रश्न यह है कि परामर्शवाद की आधारभूत मान्यताएं क्या हैं और यह सिद्धांत संवेगबाद से कहाँ परामर्शवाद की आधारावर विचार करते। हुए यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि संवेगवाद तथा परामर्शबाद में

पर्याप्त अन्तर है, फिर भी इन दोनों सिद्धांतों में कुछ मूल समानताएं हैं जिनको वर्षा किए बिना परामर्शवाद के स्वरूप को भली–भांति स्पष्ट करना बहुत बठिन होगा। जैसा कि हम दूसरे अध्याय में बता चुके हैं, संवेगवाद तथा परामर्श– बाद योगी ही असंज्ञानात्मक सिद्धांत है जो संज्ञानात्मक सिद्धान्तों के विपरीत शेरक निर्णयों को केवल वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक नहीं मानते। इन दोनों विद्वान्तों के अनुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक कथनों से भिन्न होते हैं, क्योंकि दे निर्णय किन्ही तथ्यों और प्राकृतिक या निर्धाकृतिक गुणों अथवा सम्बन्धों का शहर मात्र नहीं करते। संवेगवादियों की भाति परामर्शवादी भी यह मानते हैं वि तथ्यात्मक कथमों के विपरीत नैतिक निर्णय मुख्यतः असंज्ञानात्मक होते हैं और मानवीय जाचरण के साथ इन निर्णयों का अनिवार्य सम्बन्ध होता है। ये निर्णय हुनें केवल कुष्ठछ तथ्यों का ही बोध नहीं कराते, अपितु ये आचरण के विषय में हमारा मार्गदर्शन भी करते हैं। इन निर्णयों के सम्बन्ध में हम कभी मी डास्थ या उदासीन नहीं रह सकते। इसी कारण नैतिक निर्णयों को केवल हरंगाष्क अथवा तस्यात्मक कथनों से भिन्न मानना हमारे लिए अनिवार्य हो हता है और सवेगबादी तथा परामर्शबादी दोनों ही इस मान्यता का समान करने समर्थन करते हैं। इसके अतिरिक्त संवेगबादियों की भांति परामर्शबादी भी शब्दार्थ विषयक निर्देशात्मक सिद्धांत का खण्डन करते हैं और यह मानते हैं विशुम', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्द ऐसे वर्णनात्मक शब्द नहीं है है जिसका मुख्य कार्य किन्हीं प्राकृतिक या निर्माकृतिक गुणों अथवा सम्बन्धों का शेर रुराना ही है। इन नैतिक शब्दों का प्रयोग हम निर्णीत वस्तुओं का केवल वर्षन करने के लिए नहीं करते; इन शब्दों द्वारा हम स्वयं अपना अथवा दूसरों का मार्गदर्शन करते हैं और निर्णीत बस्तुओं का मूल्यांकन करते हैं। इस दृ ष्टि के रेतिक शब्द तथ्यात्मक शब्दों से पर्याप्त सीमा तक भिन्न प्रकार के होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या के सम्बन्ध में भी संवेग–

सदियों तथा परामर्शवादियों के विचारों में कुछ समानता है। वस्तुतः इन शवारमृत समानताओं के कारण ही सबैगवाद तथा परामर्शवाद दोनों सिद्धांतों एक ही भूत विचारधारा का समर्थन करने वाले 'असंज्ञानात्मक सिद्धांत माना जाता है।

परन्तु उपर्युक्त समानताओं वास्तव में एक के होते हुए भी संवेगबाद और परामर्शबाद दूसरे से भिन्न सिद्धांत है, क्योंकि ये दोनों सिद्धांत नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की भिन्न–भिन्न प्रकार से व्याख्या इते हैं। संवेगवादियों की अनेक मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए परामर्श– अरियों ने उनके सिद्धांत का स्पष्ट रूप से और दृढ़तापूर्वक खण्डन किया है। अंदर में संवेगवादियों की इस मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य संवेगों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना ही है। इस मान्यता के विरुद्ध परामर्शवादियों का कथन है कि संवेगवादी नैतिक निर्णयों को मुख्यतः भावनात्मक अथवा संवेगात्मक कथन मान लेते हैं जो वास्तव में उचित नहीं है। परामर्शवादियों के मतानुसार नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना नहीं, अपितु मनुष्यों को कुछ करने या न करने का परामर्श देना अथवा उनका मार्गदर्शन करना ही है। इसी कारण वे नैतिक निर्णयों को मुख्यतः 'संवेगात्मक' न मान कर 'परामर्शा त्मक' ही मानते हैं। उनका कथन है कि हम दूसरों के संवेगों को प्रभावित करने के लिए नहीं, अपितु उन्हें कोई कर्म करने या न करने का परामर्श देने और इस प्रकार उनका मार्गदर्शन करने के लिए ही नैतिक निर्णय देते हैं। परामर्शवादियों– विशेषतः हेयर–का निश्चित मत है कि दूसरों की भावनाओं को प्रभावित करना और उन्हें परामर्श देना या उनका मार्गदर्शन करना ये दो भिन्न–भिन्न क्रियाएं है, किन्तु संवेगवादी इन दोनों क्रियाओं में भेद नहीं कर सके जिसके फलस्वरूप उनका सिद्धांत बहुत असंतोषप्रद हो गया है। संवेगबाद के विरुद्ध परामर्श– वादियों की इस आपत्ति को हम अगले खण्ड में

अधिक विस्तार से स्पष्ट करेंगे। यहां इतना कह देना ही पर्याप्त है कि परामर्शवादियों के अनुसार नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य स्वयं वक्ता को अथवा अन्य व्यक्तियों को कुछ करने या न करने का परामर्श देना ही होता है, किसी व्यक्ति की भावनाओं को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परामर्शवादी नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप की जो व्याख्या करते हैं वह इन निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप की संवेगवादियों द्वारा की गई व्याख्या से पर्याप्त सीमा तक भिन्न है।

नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप की भांति इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के सम्बन्ध में भी परामर्शवादियों का संवेगवादियों से मतभेद है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि अधिकतर संवेगवादी नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तों को 'मनोवैज्ञानिक तर्क' मानते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य स्वयं इन निर्णयों को उचित सिद्ध करना नहीं, अपितु दूसरों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना ही है, परन्तु परामर्शवादी संवेगबादियों की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में जो तर्क दिए जाते हैं उनका इन निर्णयों के साथ ताकिक संबंध होता है, मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध नहीं। इसका अर्थ यह है कि ये तर्क अन्य व्यक्तियों की भावनाओं को प्रभावित अथवा परिवर्तित करने के स्थान पर स्वयं इन निर्णयों को ही उचित या अनुचित सिद्ध करते हैं और यही इन तकों का प्रमुख उद्देश्य होता है। नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले में भी निष्पक्षता, वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता विद्यमान रहती है। हम अ खण्डों में देखेंगे कि अपनी इसी मान्यता के आधार पर परामर्शवादियों ने न निर्णयों के प्रमाणीकरण के सम्बन्ध में संवेगवादियों विशेषतः स्टीवैन्सन मत का सफलतापूर्वक खण्डन किया है। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के विषय में परामर्शवादियों का विश्

पण संवेगवादियों के विश्लेषण की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद तथा युक्तिसंग है। इसका कारण यह है कि संवेगवादियों के विपरीत परामर्शबादी नैति निर्णयों को मुख्यतः संवेगात्मक अथवा निबौद्धिक कथन न मानकर ऐन बौद्धिक निर्णयों के रूप में स्वीकार करते हैं जिनकी वस्तुनिष्ठ तर्कों द्वारा पुषि् की जा सकती है। उनके विचार में नैतिक निर्णय देना विवेकशील मनुष्य क बौद्धिक क्रिया है जिसका मुख्य उद्देश्य परामर्श देना अथवा मार्गदर्शन करना ही होता है, संवेगों या भावनाओं को अभिव्यक्त तथा जागृत करना नहीं। इस दृष्टि से नैतिक निर्णय संवेगात्मक वाक्यों से निश्चय ही भिन्न प्रकार के होते हैं। वास्तव में नैतिक निर्णयों की बौद्धिकता से सम्बन्धित परामर्शवाद की यह आधारभूत मान्यता उसे संवेगवाद से भिन्न ही नहीं, अपितु उसकी अपेक्षा अधिक संतोषप्रद सिद्धान्त भी बनाती है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि शब्दार्थ विषयक जिस सिद्धांत के आधार पर परामर्शवादियों ने नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या की है वह संवेगवादियों द्वारा मान्य शब्दार्थ सम्बन्धी सिद्धांत से भिन्न है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, संवेगवादी भाषा के अर्थ से सम्बन्धित सत्यापन–सिद्धांत तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर ही नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या करते है। परन्तु परामर्शवादियों ने इन निर्णयों के अर्थ की व्याख्या के लिए उक्त दोनों के अर्थ की व्याख्या करते हैं उसे 'उपयोग–सिद्धांत' की संज्ञा दी जाती है। यह सिद्धांतों को अस्वीकार किया है। वे जिस सिद्धांत के आधार पर नैतिक निर्णयों इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ किसी विशेष प्रसंग के अन्तर्गत उसके 'उपयोग' में ही निहित रहता है। यदि हम किसी शब्द या वाक्य का अर्थ जानना चाहते हैं तो हमें यह जानना चाहिए कि किसी विशेष प्रसंग में वह क्या कार्य करता है अर्थात उसका उपयोग किसलिए किया जाता है। उसके उपयोग को भली–भांति समझ लेने पर ही हम उसका ठीक–ठीक अर्थ निश्चित कर समले

हैं। इस प्रकार उपयोग–सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि भाषा का अर्थ खेल ताकिक नियमों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है जिनके अनुसार हम विभिन्न प्रसंगों अथवा परिस्थितियों में उसका सार्थक प्रयोग करते हैं। भाषा के वियोग के लिए स्वीकृत ये ताकिक नियम ही उसे वास्तव में सार्थक तथा बुद्धिगम्य बनाते हैं। किसी शब्द का अर्थ जानने के लिए हमें यह नहीं पूछना बाहिए कि बह किस विशेष वस्तु, स्थिति, गुण या सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। हमें यह पूछना चाहिए कि किसी विशेष प्रसंग में उसका सार्थकतापूर्वक उपयोग हिम प्रकार किया जाता है। स्पष्टतः इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रसंगों में विविध उपयोगों के अनुसार एक ही कथन के अनेक अर्थ हो सकते हैं, अतः किसी भी एक कसौटी द्वारा सभी शब्दों अथवा कथनों की सार्थकता को निश्चित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से यह उपयोग–सिद्धांत शब्दार्थ विषयक अन्य सभी सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा संतोषप्रद प्रतीत होता है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम लुडविग विटगिन्स्टाइन ने 1953 में प्रकाशित अपनी इसरी प्रसिद्ध पुस्तक, 'फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' में किया था। परवर्ती दार्शनिकों के भाषा–विश्लेषण पर उनके इस उपयोग–सिद्धांत का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा और वे इसी सिद्धांत के अनुसार सभी प्रकार के कथनों के अर्थ की व्याख्या करने लगे। जे०एल० ऑस्टिन, गिल्बर्ट रॉएल आदि समकालीन दार्शनिकों ने इसी सिद्धांत के आधार पर भाषा के अर्थ का विश्लेषण किया है। इन दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य बहुत–से समकालीन दार्शनिकों ने भी विज्ञान तथा दर्शन की सभी महत्वपूर्ण विधाओं में प्रयुक्त भाषा के अर्थ की व्याख्या इस उपयोग–सिद्धांत के अनुसार ही की है। यही कारण है कि आज भी भाषा–विश्लेषण की दृष्टि से इस सिद्धांत को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

दर्शन की अन्य विधाओं की भांति नीतिशास्त्र पर भी इस उपयोग–सिद्धांत का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा है। आर० एम० हेयर, पी० एच० नावल–स्मिथ, एस० ई० टूलमिन, जे० ओ० अर्मसन नादि अनेक दार्शनिकों ने इसी सिद्धांत के आधार पर नैतिक निर्णयों का अर्थ स्पष्ट किया है। जैसा कि हम अगले खण्डों में देखेंगे, परामर्शवादी 'शुभ', 'उचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों के अर्थ का विश्लेषण उनके परामर्शात्मक तथा मूल्यात्मक उपयोग को ध्यान में रखकर ही करते हैं। उनका विचार है कि हम स्वयं अपने आप को अथवा अन्य व्यक्तियों को कोई कर्म करने या न करने का परामर्श देने तथा मानवीय आचरण का मूल्यांकन करने के लिए ही इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "अमुक कर्म उचित है" तो हम अपने इस नैतिक निर्णय द्वारा स्वयं अपने आप को अथवा दूसरों को वह कर्म करने का परोक्ष रूप से परामर्श देते हैं। परामर्शात्मकता को यह तत्त्व इस प्रकार के निर्णयों में अनिवार्यतः रहता है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिए परामर्शवादियों ने निम्नलिखित निहित रहता है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिए प्रमर्शवादियों ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है। यदि हम यह कहते हैं कि "अमुक कर्म उचित है किन्तु उसे मत करो" अथवा "अमुक जीवन पद्धति अच्छी है किन्तु उसे मत अपनाओ" तो हमारे ये कथन निश्चय ही बहुत विचित्र और सामान्य परिस्थितियों में निरर्थक प्रतीत होंगे। इसके विपरीत यदि हम यह कहते है कि "अमुक कर्म उचित है, अतः उसे करो" अथवा "अमुक जीवन–पद्धति अच्छी है, अतः उसे अपनाओ" तो हमारे इन रूथनों की सार्थकता में संदेह नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि 'उचित' और 'अच्छी'– ये दोनों शब्द अनि– वार्यतः परामर्शात्मक हैं। यही बात अन्य नैतिक शब्दों के उपयोग के विषय में भी कही जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि परामर्शवादियों के मतानुसार नैतिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्यतः परामर्श, मार्गदर्शन अथवा मूल्यांकन

के लिए ही किया जाता है और इन शब्दों की यही मूल विशेषता इन्हें वर्णनात्मक या तथ्या– त्मक शब्दों से पृथक करती है। यही नहीं, नैतिक शब्दों की यह विशेषता उन्हें संवेगात्मक शब्दों से भी पृथक करती है जिनका मुख्य उद्देश्य भावनाओं या संवेगों को अभिव्यक्त और जागृत करना ही होता है। इस प्रकार परामर्शवादी नैतिक शब्दों की उपयुक्त मूल विशेषता को उनको अनिवार्य तत्त्व मानने के कारण अपने सिद्धांत को एक ओर तो प्रकृतिवाद, निर्प्रकृतिवाद आदि संज्ञानात्मक सिद्धान्तों से और दूसरी ओर संवेगबाद से भिन्न मानते हैं।

परामर्शवाद की उपर्युक्त आधारभूत मान्यताओं के अतिरिक्त इस सिद्धांत की एक अन्य महत्त्वपूर्ण आधारभूत मान्यता यह है कि इसके अनुसार नैतिक निर्णय परामर्शात्मक होने के साथ–साथ अनिवार्यतः सार्वलौकिक भी होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी मनुष्य के विषय में कोई नैतिक जैसा कि हम पिछले खंड में बता चुके हैं, अंग्रेज दार्शनिक आर० एम० हेयर ही परामर्शबाद के प्रणेता हैं और उन्होंने स्वयं अपने अधि–नैतिक सिद्धांत को 'परामर्दाबाद' की संज्ञा दी है। हेयर ने अपने इस सिद्धांत का विस्तृत विवेचन अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों– 'दि लेंग्वेज ऑफ़ मॉरल्ज' तथा 'फीडम ऐंड रीजन' – में किया है जो क्रमशः 1952 और 1963 में प्रकाशित हुई थीं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने अपने सिद्धांत के विभिन्न पक्षों के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण लेख भी लिखे हैं जो दर्शन विषयक अनेक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। यहां हम मुख्यतः हेयर की उपर्युक्त दोनों पुस्तकों के आधार पर ही उनके परामर्शवाद का विवेचन करेंगे।

स्टीर्वन्सन, ऐडर्व स आदि दार्शनिकों की भांति हेयर का मुख्य उद्देश्य भी नैतिक निर्णयों के अर्थ का विश्लेषण करना और इन निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तकों के स्वरूप तथा उद्देश्य को स्पष्ट करना है। वे नैतिक भाषा और तर्कना के विश्लेषण को ही नैतिक दर्शन का प्रमुख कार्य मानते हैं। अपनी पुस्तक,

'दि संग्वेज ऑफ मॉरल्छ' की प्रस्तावना में नीतिशास्त्र की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि "नीतिशास्त्र नैतिक भाषा का ताकिक अध्ययन है।" इसी प्रकार अपनी दूसरी पुस्तक, 'फीडम ऐंड रीजन' ५० (97) में उन्होंने "नैतिक शब्दों के ताकिक गुणों के अध्ययन" के रूप में नीतिशास्त्र की परिभाषा की है। हेयर द्वारा की गई नीतिशास्त्र की इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार नैतिक भाषा का तार्किक अध्ययन और विश्लेषण ही नैतिक दर्शन की मूल समस्या है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने नैतिक दर्शन के स्वरूप और उद्देश्य का विवेचन किया है। एयर, स्टीवैन्सन, ऐडवर्डस आदि दार्शनिकों की भांति हेयर भी यह मानते हैं कि दर्शन के रूप में नीतिशास्त्र नैतिकता की दृष्टि से तटस्थ रहता है– अर्थात् वह किसी विशेष नैतिक सिद्धांत का समर्थन या प्रचार नहीं करता । नैतिक भाषा के अर्थ का विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण ही उसका मुख्य उद्देश्य है। नैतिक दर्शन के स्वरूप तथा उद्देश्य के संबंध में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "नैतिक शब्दों के ताकिक गुणों के अध्ययन के रूप में नीतिशास्त्र नैतिकता की दृष्टि से तटस्थ रहता है। यह कतई सत्य नहीं है कि मैंने नैतिक भाषा के तार्किक नियमों के विषय में जो बातें कही हैं वे किसी विशेष नैतिक दृ ष्टिकोण से संबद्ध हैं। यह कहना कि नैतिक तथा अन्य मूल्यात्मक निर्णय परामर्शात्मक और सार्वलौकिक होते हैं अपने आपको किसी विशेष नैतिक सिद्धांत या दृष्टिकोण के प्रति वचन– बद्ध करना नहीं है।" इस प्रकार नैतिक दर्शन के स्वरूप और उद्देश्य के संबंध में हेयर के विचार एयर, स्टीवैन्सन, ऐडवड्स आदि दार्शनिकों के विचारों से भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः इन सभी दार्शनिकों की भांति वे भी अपने सिद्धांत परामर्शबाद को नैतिकता की दृष्टि से तटस्थ मानकर ही नैतिक भाषा के स्वरूप की व्याख्या करते हैं।

हेयर का मत है कि नेतिक भाषा परामर्शात्मक भाषा का ही एक रूप है, क्योंकि इसका मूल उद्देश्य हमारे इस प्रश्न का उत्तर देना है कि हमें क्या करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि नैतिक भाषा हमारे उक्त प्रश्न का उत्तर देकर व्यावहारिक जीवन में हमारा मार्गदर्शन करती है, अतः आचरण की दृष्टि से हमारे लिए इसका विशेष महत्त्व है। इस दृष्टि से नैतिक भाषा के स्वरूप तथा उद्देश्य की व्याख्या करते हुए हेयर ने लिखा है कि "नैतिकता संबंधी भाषा परामर्शात्मक भाषा का ही एक प्रकार है, और यही तथ्य नीतिशास्त्र के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण बनाता है, क्योंकि 'मुझे क्या करना चाहिए' यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे हम अधिक समय तक टाल नहीं सकते। हमारी नैतिक भाषा से संबंधित अस्पष्टता केवल सैद्धांतिक भ्रांतियां ही नहीं, अपितु अनावश्यक व्यावहारिक जटिलताएं भी उत्पन्न करती है।" इसी कारण हेयर नैतिक भाषा के स्वरूप और उद्देश्य को भली–भांति समझने के लिए उसका समुचित विश्लेषण करना बहुत आवश्यक मानते हैं। उनका कथन है कि इस भाषा के माध्यम से हम जिन नैतिक नियमों को अभिव्यक्त करते हैं उनका हमारे आचरण के साथ बहुत घनिष्ठ तथा अनिवार्य संबंध है। यदि हप यह जानना चाहते हैं कि कोई व्यक्ति किन नैतिक नियमों में विश्वास करता है तो हमें व्यावहारिक जीवन में उसके कर्मों का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि किसी मनुष्य के नैतिक नियमों को जानने का यही सर्वाधिक विश्वसनीय उपाय है। कोई भी व्यक्ति अपने वार्तालाप में अनेक महान नैतिक नियमों का बड़ी दृढ़ता से शाब्दिक समर्थन कर सकता है, किन्तु यह संभव है कि वह अपने व्यावहारिक जीवन में बस्तुतः कभी भी उन नियमों के अनुरूप आचरण न करता हो। इसी कारण हेयर यह कहते हैं कि हम मनुष्य के नैतिक नियमों का वास्तविक ज्ञान उसके कर्मों द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, उसके शब्दों द्वारा नहीं। अपनी इसी मान्यता के आवार पर उन्होंने अपने परामर्शबाद की पुष्टि करने का प्रयास किया

है, क्योंकि उनके मतानुसार नैतिक नियमों का मनुष्य के आचरण के साथ वही संबंध है जो नैतिक निर्णयों का है अर्थात् ये दोनों ही मनुष्य का मार्गदर्शन करते हैं। इस प्रकार हेवर यह निश्चित रूप से मानते हैं कि नैतिक नियम तथा नैतिक निर्णय न हो तथ्यात्मक होते हैं और न संवेगात्मक; ये दोनों वास्तव में मार्गदर्शक अथवा परामर्शात्मक होते हैं।

नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण का विस्तृत विवेचन करने से पूर्व हेयर ने संवेगबाद का खंडन किया है। वे प्रकृतिवाद तथा निप्रकृतिवाद के विरुद्ध संवेगवादियों के इस मत को तो स्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक या वर्णनात्मक नहीं हैं, परन्तु वे उनकी इस आधारभूत मान्यता का समर्थन नहीं करते कि ये निर्णय मुख्यतः संवेगों अयषा भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करने वाले संवेगात्मक कथन हैं। संवेगबाद का खंडन करने के लिए हेयर ने मुख्य तीन तर्क प्रस्तुत किए हैं जिन पर यहां विचार करना आवश्यक है। इस सिद्धांत के विरुद्ध उनका प्रथम तर्क यह है कि सत्यापनीयता की जिस कसौटी के आधार पर संवेगबादी नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं वह बहुत ही संकुचित और एकांगी है। तथ्यात्मक कथनों की सार्थकता को निर्धारित करने के लिए यह कसौटी निश्चय ही सर्वाधिक उपयुक्त है, किन्तु इसके आधार पर उन कथनों की सार्थकता का निर्णय नहीं किया जा सकता जो तथ्यात्मक नहीं हैं और नैतिक निर्णय ऐसे ही कथन हैं। जैसा कि संवेगवादी स्वयं ही स्वीकार करते हैं, नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य किन्हीं तथ्यों का वर्णन मात्र करना नहीं होता। ऐसी स्थिति में सत्यापनीयता की कसौटी के आधार दर इन निर्णयों की सार्थकता को निश्चित नहीं किया जा सकता। परन्तु कार्नय तथा एयर जैसे संवेगवादियों ने नैतिक निर्णयों की सार्थकता के संबंध में इस मात्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि उन्होंने मुक्मतः इस सत्यापनीयता की कसौटी

के आधार पर ही इन निर्णयों की तथ्या– विक सार्थकता का निषेध किया है। वे नैतिक निर्णयों के असत्यापनीय होने के कारण ही इन्हें तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं। परन्तु हेयर को संवेव– वादियों का यह मत स्वीकार्य नहीं है, अतः वे सत्यापनीयता की कसौटी को संकुबित और एकांगी मानते हुए कहते हैं कि "यदि सार्थकता की इस कसौटी को जो तथ्यात्मक कथनों के लिए उपयोगी है– बिना सोचे–समझे ऐसे कथनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिनका उद्देश्य तथ्यों को अभिव्यक्त करना नहीं है हो कठिनाई उत्पन्न होगी। आज्ञात्मक वाक्य इस कसौटी की शर्त को पूरा नहीं करते और यह संभव है कि नैतिक निर्णयों को अभिव्यक्त करने वाले वाक्य भी इस शर्त को पूरा नहीं कर सकते; किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि ये वाक्य इस कसौटी द्वारा परिभाषित अर्थ में कयनों को व्यक्त नहीं करते; और यह अर्थ इन वाक्यों के सामान्य उपयोग में निहित अर्थ की अपेक्षा अधिक संकुचित हो सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये वाक्य निरर्थक हैं अयवा उनका अर्थ इस प्रकार का है कि उनके प्रयोग के लिए कोई तार्किक नियम प्रस्तुत नहीं किए जा सकते।" इस प्रकार हेयर ने तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के सत्यापन– निद्वांत को एकांगी मान कर उस पर आधारित संवेगवाद को अस्वीकार संवेगबाद के विरुद्ध हेयर का दूसरा तर्क उनके उपर्युक्त तर्क की अपेक्षा रही अधिक प्रबल तथा विश्वसनीय है। इस तर्क का संबंध कथनों के अर्थ और व्हेस्य से है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि संवेगवादी नैतिक निर्णयों की ऐसे संवेगात्मक कथन मानते हैं जो बक्ता की भावनाओं को अभिव्यक्त करते है और अन्य व्यक्तियों की भावनाओं को प्रभावित या परिवर्तित करते हैं। परन्तु हेयर ने उनकी इस आधारभूत मान्यता को अस्वीकार किया है। उनका कथन है कि अपनी इसी मान्यता के कारण संवेगवादियों ने भाषा के अर्थ और उद्देश्य श्री भ्रमक तथा दोषपूर्ण व्याख्या की है। वे किसी व्यक्ति को 'कुछ बताने'

तथा उससे कोई कर्म 'करवाने' अथवा उससे अपनी बात 'मनवाने'– इन दो भिन्न– सिन्न प्रक्रियाओं में भेद नहीं कर सके। इसी कारण उन्होंने नैतिक निर्णयों को अनिवार्यतः संवेगात्मक कथन मान लिया है। परन्तु हेयर का मत है कि यदि हम उपर्युक्त दोनों भिन्न–भिन्न प्रक्रियाओं के अंतर को स्पष्ट रूप से समझ लें तो हमें ज्ञात होगा कि नैतिक निर्णय बास्तव में संवेगात्मक कथन नहीं हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं के अंतर को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है। जब मैं किसी व्यक्ति से कोई तथ्यात्मक वाक्य कहता हूं तो मेरा उद्देश्य इस वाक्य द्वारा उसे कोई सूचना देना ही होता है, इस सूचना को सत्य मानने के लिए उसे प्रेरित अथवा बाध्य करना नहीं। इसी प्रकार जब मैं कोई आज्ञात्मक वाक्य कहता हूं तो मेरा उद्देश्य किसी व्यक्ति को यह बताना ही होता है कि वह अमुक कर्म करे, उसे बह कर्म करने के लिए प्रेरित या बाध्य करना नहीं। हेयर का कथन है कि नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण की व्याख्या करते हुए संवेगवादियों ने भाषार्थ विषयक उपर्युका महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की है। यही कारण है कि उनकी यह व्याख्या दोषपूर्ण तथा भ्रामक हो गई है।

उपर्युक्त दोनों भिन्न–भिन्न प्रक्रियाओं के मूल अंतर को स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "किसी व्यक्ति को कुछ करने के लिए 'बताना' और उसे कुछ करने के लिए 'प्रेरित करना' ये दोनों ताकिक दृष्टि से एक–दूसरे से पूर्णतः भिन्न प्रक्रियाएं हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं के इस अंतर को तथ्यात्मक कथनों में पाए जाने वाले इसी प्रकार के अंतर पर विचार करते हुए स्पष्ट किया जा सकता है। किसी को यह बताना कि कोई तथ्य ऐसा है उसे इस तथ्य पर विश्वास करवाने का प्रयास करने से तार्किक दृष्टि से भिन्न है। यदि वह हमारे यह बताने के बाद कि कोई तथ्य ऐसा है उस पर विश्वास नहीं करता जो हम चाहते हैं तो हम उसे इस तथ्य पर विश्वास करवाने के लिए– अर्थात् उसे यह समझाने का प्रयास करने के

लिए कि जो कुछ हमने कहा है वह सत्य है– पूर्णतः भिन्न प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं। तथ्यात्मक वाक्यों के कार्य की व्याख्या करने के लिए कोई भी यह नहीं कहेगा कि वे किसी को यह मनवाने के प्रयास मात्र हैं कि कोई तथ्य ऐसा है। यह कहने का भी कोई कारण नहीं है कि आज्ञाएं किसी से कुछ मनवाने अथवा करवाने के प्रयास हैं। यहां भी हम पहले किसी को यह बताते हैं कि बह क्या करे, और इसके बाद यदि वह वैसा नहीं करता जैसा हम कहते हैं तो हम उससे वह करवाने के प्रयास के रूप में पूर्णतः भिन्न प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकते हैं।''' नैतिक दर्शन के लिए यह अंतर महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वास्तव में इस विचार के कारण कि नैतिक निर्णयों का कार्य मनवाना या समझाना–बुझाना है उनके कार्य को प्रचार के कार्य से पृथक करने में कठिनाई उत्पन्न हुई है। हम किसी से यह कह सकते हैं कि कोई तथ्य ऐसा है अथवा बह कुछ करे; इसमें उसे समझाने–बुझाने, प्रभावित करने या उससे कुछ करवाने का प्रयास नहीं है। इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि हेयर नैतिक निर्णयों को उन संवेगात्मक कथनों से भिन्न मानते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य दूसरों की भावनाओं को उसाबित करना ही होता है। मुख्यतः अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने संविगबाद का खंडन किया है।

संवेगबाद के विरुद्ध हेयर का तीसरा मुख्य तर्क यह है कि यह सिद्धांत ईहिक निर्णयों को ऐसे अबौद्धिक कथन बना देता है जिनका प्रयोग हम मुख्यतः रो की भावनाओं को प्रभावित करने के लिए करते हैं। यदि इन निर्णयों के सरों की विषय में संवेगवादियों के मत को स्वीकार कर लिया जाए तो बस्तुतः इनमें त्या प्रचारात्मक अबौद्धिक कथनों में कोई मूल भेद नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति देशेतिक निर्णयों की सार्थकता केवल इसी आधार पर निश्चित की जा सकती है कि वक्ता उनके द्वारा दूसरों पर अपना इच्छित प्रभाव डालने में कहां तक सफल

हुआ है। परन्तु हेयर का विचार है कि इन निर्णयों की सार्थकता इनके इनराव में निहित नहीं रहती। इसके विपरीत नैतिक निर्णयों की सार्थकता हर साफिक नियमों पर ही आधारित होती है जिनके अनुसार हम अपने व्याव– हारिक जीवन में इनका सार्थक प्रयोग करते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये निर्णय ऐसे तर्कसंगत या बौद्धिक कथन हैं जिनका मुख्य उद्देश्य हमारे इस प्रश्न का उत्तर देना है कि हमें क्या करना चाहिए अथवा क्या नहीं करना चाहिए। हमारे इस प्रश्न का उत्तर देकर ये निर्णय हमारा मार्गदर्शन करते हैं। इन निर्णयों के मुख्य बाचरण करने से पूर्व हम इनके संबंध में उचित तर्को की मांग कर सकते है। रंतिक निर्णय देने वाला व्यक्ति दूसरों को ऐसे विवेकशील मनुष्य समझता है वो इन निर्णयों के अनुसार आचरण करने या न करने के लिए स्वतंत्र है और जो उचित तकों द्वारा इनकी पुष्टि आवश्यक मानते हैं। इसी कारण हेपरने इन निर्णयों को संवेगात्मक कथनों के विपरीत तर्कसंगत अथवा बौद्धिक स्वर माना है। उनका मत है कि यह तथ्य इन निर्णयों को संवेगात्मक कथनों हे पृषक करता है।

नैतिक निर्णयों की बौद्धिकता के विषय में अपनी उपर्युक्त मान्यता को सष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "किसी से कुछ करने के लिए कहना या उसे यह बताना कि कोई तथ्य ऐसा है उसके इस प्रश्न का उत्तर देना है कि 'मैं क्या पई' बथवा 'तथ्य क्या हैं'। जब हम इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं और जो कुछ हमने कहा है यदि यह सत्य है तो श्रोता यह जान लेता है कि वह क्या करे बारा तप्म क्या हैं। इसके द्वारा उसके लिए किसी भी रूप में प्रभाबित होना अनिवार्य नहीं है, और यदि वह प्रभावित नहीं होता तो यह हमारी बसफलता नहीं है क्योंकि वह हमारी बात पर विश्वास न करने अथवा हमारी आशार मानने का निर्णय कर सकता है और उसको हमारा कुछ बताना उसे ऐसा करते से नहीं रोकता। यह समझना सरल है कि नैतिक निर्णयों के तथाकयित से मात्मिक सिद्धान्त 'के कारण

जो विरोध उत्पन्न हुआ वह क्यों हुआ। केसर भूतक निर्णयों के उद्देश्य के संबन्ध में ही नहीं, अपितु आज्ञाओं–जिनके साथ इर निर्णयों की तुलना की गई–के उद्देश्य के विषय में भी भ्रामक धारणा पर आधारित होने के कारण इस सिद्धांत ने नैतिक भाषा की बौद्धिकता को भी चुनौती दी। तथ्यात्मक कथनों की भाँति आज्ञाओं का उद्देश्य भी विवेक शील मनुष्यों के प्रश्नों का उत्तर देना ही है, अतः वे भी इन कथनों के समान ही ताकिक नियमों द्वारा शासित होती हैं। इसका अर्थ यह है कि नैतिक निर्णय भी इन्हीं नियमों द्वारा शासित होते हैं।" इस प्रकार संवेगवादियों के विपरीत हेयर नैतिक निर्णयों को विवेकशील मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त तथा उनका मार्गदर्शन करने वाले बौद्धिक कथन मानते हैं और मुख्यतः इसी आधार पर वे संवेगवाद को अस्वीकार करते हैं।

जैसा कि हम पिष्ठले खंड में बता चुके हैं, परामर्शवाद भाषार्य विषयक उपयोग–सिद्धान्त पर ही आधारित है। परामर्शवाद के प्रणेता हेयर स्पष्ट रूप से इसी सिद्धान्त के आधार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या करते हैं। उनका मत है कि किसी भी शब्द का वास्तविक अर्थ उसके उपयोग द्वारा ही निश्चित किया जा सकता है। भाषा में प्रचलित प्रत्येक शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ तार्किक नियम होते हैं जो उसे हमारे लिए सार्थक और बुद्धिगम्य बनाते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी शब्द का प्रयोग करते समय इन तार्किक नियमों का उल्लंघन करता है तो वह इस शब्द का दुरुपयोग करता है और फलतः उसका कथन हमारे लिए निरर्थक हो जाता है। इसी उपयोग–सिद्धांत के आधार पर शब्दों के अयं की परिभाषा करते हुए हेयर ने लिखा है कि "जहां तक शब्दों के अर्थ का प्रवन है, किसी भी प्रकार का अर्थ कुछ नियमों के अनुरूप किसी कथन के उपयोग में ही निहित रहता है। यह अर्थ किस प्रकार का है इसका निर्णय इसी आधार पर किया जा सकता है कि इसके प्रयोग के नियम किस प्रकार के हैं।

यदि कोई व्यक्ति किसी वर्णनात्मक शब्द का प्रयोग करते समय उन नियमों का उल्लंघन करता है जो उस शब्द को कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं के साथ सम्बद्ध करते हैं तो सामान्यतः वह वर्णनात्मक शब्द का दुरुपयोग करता है।" हेपर का विचार है कि यह उपयोग–सिद्धान्त अन्य सभी प्रकार के कथनों की भांति नैतिक निर्णयों पर भी पूर्णरूप से लागू होता है। इसी कारण उन्होंने इस सिद्धान्त के अनुसार ही इन निर्णयों के अर्थ और स्वरूप का विश्लेषण किया है।

भाषार्थ विषयक उपर्युक्त उपयोग–सिद्धान्त के आधार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या करते हुए हेयर कहते हैं कि इन निर्णयों की निम्नलिखित मुख्य तीन विशेषताएं हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है– (1) ये निर्णय मुख्यतः परामशत्मिक या मार्गदर्शक होते हैं (2) सार्वलौकिक होने के कारण ये निर्णय अन्य परामर्शात्मक निर्णयों – अर्थात् आदेशों अथया आज्ञाओं– से भिन्न होते हैं। (3) इन निर्णयों के समर्थन में बौद्धिक तथा बस्तुनिष्ठ तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं, क्योंकि परामर्शात्मक कथन भी तथ्या– (२क कथनों के समान ही भाषा के प्रयोग से सम्बन्धित तार्किक नियमों द्वारा शासित होते हैं। वस्तुतः नैतिक निर्णयों की उपर्युक्त तीनों विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही हेयर ने अपने मूल सिद्धांत परामर्शवाद का प्रतिपादन किया है और इसे अन्य सभी सिद्धांतों से भिन्न माना है। उनका विचार है कि वे तीनों विशेषताएँ हमारे समक्ष इन निर्णयों के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को प्रस्तुत करती हैं। ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णयों की इन तीनों विशेषताओं को हेयर के परामर्शवाद का मूल आधार मान कर उसका विवेचन करना युक्तिसंगत होगा।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, हेयर नैतिक भाषा को एक प्रकार की परामर्शात्मक भाषा मानते हैं जो वर्णनात्मक या तथ्यात्मक भाषा से भिन्न होती है। इसी कारण उन्होंने सर्वप्रथम परामर्शात्मकता के आधार पर नैतिक शब्दों तथा

निर्णयों के अर्थ की व्याख्या की है। उनका विचार है कि परामर्शात्मक भाषा की परिधि बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत आज्ञात्मक वाक्य निर्नेतिक मूल्यात्मक कथन तथा नैतिक निर्णय सम्मिलित हैं। परामर्शात्मकता – अर्थात् किसी को कुछ करने या न करने के लिए कहना अथवा उसका मार्गदर्शन करना – इस भाषा के इन सभी रूपों की मूल विशेषता है। परामर्शात्मक भाषा की यही विशेषता उसके इन सभी रूपों को तथ्यात्मक भाषा से पृथक करती है जिसका प्रयोग हम किन्हीं तथ्यों का वर्णन मात्र करने के लिए ही करते हैं। अपनी इसी शाधारभूत मान्यता को ध्यान में रखते हुए हेयर ने 'दि लेंग्वेज ऑफ़ मॉरल्ड' में परामर्थात्मक भाषा के उक्त सभी रूपों और तथ्यात्मक भाषा से उनकी भिन्नता का सविस्तार विवेचन किया है। इस विस्तृत विवेचन द्वारा उन्होंने अपने इस मूल सिद्धान्त की पुष्टि करने का प्रयास किया है कि वास्तव में नैतिक भाषा वध्यात्मक भाषा से भिन्न परामर्धात्मक भाषा का ही एक रूप है। नैतिक भाषा के स्वरूप के विषय में हेयर का यह मत कहां तक उचित और युक्तिसंगत है इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत अध्याय के बन्तिम खण्ड में विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि वे परामर्शात्मकता को नैतिक माया की मूल विशेषता मानते हैं और अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने नैतिक शब्दों तथा निर्णयों के वर्ष का विश्लेषण किया है।

हेबर के मतानुसार प्रत्येक नैतिक निर्णय में आज्ञात्मक तत्त्व अनिवार्यतः निहित रहता है जो उसे परामर्शात्मक अर्थ प्रदान करता है। इसी आज्ञात्मक तत्त्व के कारण यह निर्णय स्वयं बनता का अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करता है जो इस निर्णय का मुख्य उद्देश्य है। स्पष्ट है कि यह आज्ञात्मक तत्त्व ही नंतिक निर्णय को तथ्यात्मक या वर्णनात्मक कथन से पृथक करता है। यही कारण है कि नैतिक निर्णयों के अर्थ को भली–भांति स्पष्ट करने के लिए हेयर ने अपनी पुस्तक

'दि लेम्वेज बॉफ मॉरल्व' के प्रथम भाग में आज्ञात्मक वाक्यों के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है और इन वाक्यों के साथ नैतिक निर्णयों की तुलना की है। उनका कथन है कि बाज्ञात्मक वाक्यों के समान ही ये निर्णय भी हमें कोई कर्म करने या न करने के लिए कहते हैं और इस प्रकार हमारे इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि हमें क्या करना चाहिए अथवा क्या नहीं करना चाहिए। नैतिक निर्णयों की इसी विशेषता के कारणहम कभी भी केवल तथ्यात्मक आधार राक्यों से किसी नैतिक निर्णय को निगमित नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में हेयर ने एक अनिवार्य आधारभूत नियम का उल्लेख किया है जो उनके अनुसार नंतिक निर्णयों के स्वरूप को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस नियम के स्वरूप तथा नैतिक निर्णयों के लिए इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "आधात्वाक्यों के उस समूह से जिसमें कम से कम एक बाजात्मक वाक्य भी विद्यमान नहीं है उचित रूप से कोई आज्ञात्मक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। नीतिशास्त्र के लिए इस नियम का अत्यधिक महत्त्व है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि परामर्श देना अथवा कर्मों के विषय में मार्ग– दर्शन करना अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर देना कि 'मुझे क्या करना चाहिए– नैतिक निर्णय के बर्ष का अनिवार्य भाग है तो उपर्युक्त नियम से यह स्पष्ट है कि कोई भी नैतिक निर्णय पूर्णतः तथ्यात्मक कथन नहीं हो सकता। कोई कथन–चाहे उसका तथ्यों के साथ कितना शिथिल सम्बन्ध ही क्यों न हो'– इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता कि 'मुझे क्या करना चाहिए'। केवल बादेश हो ऐसा कर सकता है। इसलिए यदि हम इस बात पर चोर देते हैं कि नतिक निर्णय शिथिल तथ्यात्मक कथनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं तो हम उन्हें उनके मुख्य कार्य से बंचित कर देते हैं, क्योंकि उनका मुख्य कार्य वाचरण को नियमन करना है बऔर यह कार्य के तमी कर सकते हैं जब उनकी व्याख्या इस प्रकार से की जाए कि उनमें बाज्ञात्मक अथवा परामर्शात्मक तत्त्व विद्यमान

रहता है।"8 नैतिक निर्णयों के अर्थ के सम्बन्ध में हेयर के इन विचारों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे इन निर्णयों को व्यावहारिक जीवन में हमारा मार्गदर्शन करने वाले मुख्यतः परामर्थ्यात्मक कथन मानते हैं।

अपनी उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि के लिए हेपर ने एक महत्त्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत किया है जिस पर यहां विचार करना आवश्यक है। उनका कथन है कि यद कोई व्यक्ति वास्तव में किसी नैतिक निर्णय को स्वीकार करता है तो वह तार्किक दृष्टि से उस निर्णय के अनुरूप आचरण करने के लिए बाध्य है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति इस नैतिक निर्णय का सचमुच समर्थन करता है कि "हमें संकटकाल में दूसरों की सहायता करनी चाहिए" तो उचित अवसर जाने पर वह स्वयं भी इस निर्णय के अनुसार कार्य करने के लिए तार्किक दृष्टि से अपने बापको वचनबद्ध करता है। यदि वह स्वयं समर्थ होते हुए भी संकट– कान में दूसरों की सहायता नहीं करता तो स्पष्टतः इसका बर्थ यही है कि या तो उसने उपर्युक्त नैतिक निर्णय को बास्तव में स्वीकार ही नहीं किया अथवा बह इस निर्णय का अर्थ नहीं समझ सका। हेबर निश्चित रूप से यह मानते हैं कि किसी नैतिक निर्णय को सचमुच स्वीकार करने बौर अपनी सामर्थ्या– नुसार उचित बवसर पर उसके अनुरूप आचरण करने का प्रयास करने में अनिवार्य ताकिक सम्बन्ध है। इसे 'तार्किक संबंध' कहने का कारण यह है कि स्वयं नैतिक शब्दों का अर्थ हो इसका मूल आधार है। किसी नैतिक निर्णय को सचमुच स्वीकार करते हुए भी उपयुक्त परिस्थितियों में अपनी सामर्थ्यानुसार उसके अनुरूप आचरण करने का प्रयास न करना वस्तुतः नैतिक शब्दों का दुरुपयोग है जिसमें ताकिक विसंगति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इससे यही प्रमाणित होता है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय में उसके अनुरूप आचरण करने का वादेश अनिवार्यतः निहित रहता है। नैतिक निर्णयों के विषय में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं

कि "कों के संबंध में हमारा गार्ग– दर्शन करने के लिए नैतिक निर्णय का ऐसा होना आवश्यक है कि यदि कोई अस्ति इसे स्वीकार करता है तो वह इससे प्राप्त आज्ञात्मक वाक्य को भी कवाय ही स्वीकार करे। दूसरे शब्दों में, यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार के माज्ञात्मक वाक्य को स्वीकार नहीं करता तो यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वह मूल्यात्मक अर्थ में इस नैतिक निर्णय का समर्थन नहीं करता।'' यदि वह नैतिक निर्णण का समर्थन करने की बात कहता है किंतु आज्ञात्मक वाक्य को स्वीकार नहीं करता तो उसने अवश्य ही नैतिक निर्णय का गलत अर्थ समझा है।... इस प्रकार हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि नैतिक निर्णय में आदेश अनि– वार्यतः निहित रहता है। यह कहना कि नैतिक निर्णय कर्मों के विषय में हमारा मार्गदर्शन करते हैं यह कहने के समान ही है कि इन निर्णयों में आज्ञाएं अनि– वार्यतः निहित रहती हैं।" इस प्रकार नैतिक भाषा के अर्थ का विश्लेषण करते हुए अपने उपर्युक्त तर्क द्वारा हेयर ने अपनी इस आधारभूत मान्यता को सत्य प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि नैतिक निर्णय अवश्य ही परामर्शात्मक होते हैं, अतः मानवीय आचरण के साथ उनका अनिवार्य सम्बन्ध है।

यहां हेयर के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि इसके द्वारा उन्होंने नैतिक निर्णयों के अर्थ की जो परामर्शात्मक व्याख्या की है वह दोष पूर्ण है, क्योंकि बहुत–से व्यक्ति इन निर्णयों को सचमुच स्वीकार करते हुए भी अपने दैनिक जीवन में वस्तुतः इनके अनुरूप आचरण नहीं करते। इस अनुभव सिद्ध तथ्य से यही प्रमाणित होता है कि स्वयं अपने नैतिक निर्णयों के विरुद्ध आचरण करना तार्किक दृष्टि से असंभव नहीं है। हेयर स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि उनके सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है, अतः उन्होंने इसका सविस्तार उत्तर देने का प्रयास किया है। वे इस बात से इन्कार नहीं करते कि व्यावहारिक जीवन में अनेक व्यक्ति स्वयं अपने नैतिक निर्णयों के विपरीत आचरण

करते हैं। परंतु हेयरका कथन है कि इससे उनका परामर्शात्मक सिद्धान्त असत्य प्रमाणित नहीं होता। इसका कारण यह है कि किसी व्यक्ति का स्वयं अपने नैतिक निर्णयों के अनुरूप आचरण न करना इन निर्णयों के परामर्शात्मक अर्थ का खंडन नहीं करता। यदि कोई व्यक्ति किसी नैतिक निर्णय को वास्तव में पूर्णतः स्वीकार करते हुए भी उसके अनुसार आचरण नहीं करता तो निश्चय ही यह उसकी नैतिक दुर्बलता का द्योतक है। हेयर स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि अपने नैतिक निर्णय के अनुरूप आचरण करने के लिए व्यक्ति में उस निर्णय के प्रति निष्ठा के साथ–साथ उसके अनुसार आचरण करने को शारीरिक तथा मानसिक क्षमता भी होनी चाहिए। यदि वह अपने नैतिक निर्णय के अनुरूप आचरण करना चाहता है और शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से समर्थ होते हुए भी वह ऐसा नहीं कर पाता तो यह उसकी नैतिक दुर्बलता का स्पष्ट प्रमाण है। बहुत–से व्यक्तियों में यह नैतिक दुर्बलता पाई जाती है, किंतु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि नैतिक निर्णय परामर्शात्मक नहीं हैं और मान– जीव आचरण के साथ उनका कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है। इसी तर्क के आधत रह करने सिद्धांत के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति का खंडन करते हुए हेयर कहते हैं कि "यदि नैतिक निर्णय परामर्शात्मक न होते तो नैतिक दुर्बलता संबंधी कोई हमस्या ही म होती; किन्तु यह समस्या है, अतः ये निर्णय परामर्शात्मक हैं।...

इससे हम कम से कम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि नैतिक दुर्बलता के व्याहरण परामर्शवाद का खंडन नहीं करते जैसाकि मैंने इस सिद्धान्त की माझ्या की है। प्रलोभन का प्रतिरोध करने में पूर्णतः समर्थ होते हुए भी यदि कोई मनुष्य वही करता है जो वह कहता है कि उसे नहीं करना चाहिए तो जो कुछ वह कहता है और जो कुछ वह करता है उसमें कहीं कुछ गलत है। यह समस्या नैतिक शब्दों के मूल्यात्मक अथवा परामर्शात्मक उपयोगों से संबंधित है, अहः यह

जानना आवश्यक है कि ये उपयोग क्या है।'' परामर्शवादी सिद्धांत की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन शब्दों के परामर्शात्मक उपयोग अवश्य हैं और दे उपयोग इन शब्दों के अर्थ के लिए आवश्यक तथा उसके अनिवार्य भाग हैं।... कम से कम इसमें तो संदेह नहीं किया जा सकता कि नैतिक भाषा के परा– मर्यात्मक उपयोग हैं। "10 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हेयर नैतिक भाषा को ऐली परामर्शात्मक भाषा मानते हैं जिसका मनुष्य के कर्मों के साथ अनिवार्य संबंध है।

नैतिक भाषा के स्वरूप के विषय में अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर हेयर ने 'शुभ', 'उचित' तथा 'चाहिए' इन नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या की है। उनका मत है कि नैतिक अर्थ में इन शब्दों का उपयोग निर्देतिक अर्थ में इनके उपयोग से मूलतः भिन्न नहीं है। इसका कारण यह है कि नैतिक तथा निर्देतिक इन दोनों प्रसंगों में इन शब्दों का मुख्य अर्थ मूल्यात्मक अथवा परामर्शात्मक ही होता है। सामान्य परिस्थितियों में जब हम नैतिक अथवा निनैतिक अर्थ में इन एब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा मुख्य उद्देश्य किसी वस्तु या कर्म का मूल्यांकन करना अथवा किसी को कुछ करने या न करने का परामर्श देना ही होता है। इस प्रकार उपयोग की दृष्टि से 'शुभ' या 'अच्छा', 'उचित' और 'आहिए' इन शब्दों के नैतिक तथा निनैतिक अर्थ में कोई आधारभूत अंतर नहीं है। उक्त दोनों अयों में प्रयुक्त होने पर हम इन शब्दों को 'मूल्यात्मक शब्द' कह सकते हैं। वस्तुतः अपनी इसी मान्यता के कारण हेयर ने 'दि लेंग्वेज ऑफ़ मरित्व' में नैतिक अर्थ के साथ–साथ निनैतिक अर्थ में भी इन शब्दों के प्रयोग का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने अनेक उदाहरणों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि नैतिक तथा निर्देतिक दोनों प्रसंगों में इन शब्दों का प्रमुख अर्थ मूल्यात्मक अथवा परामर्शात्मक और गौण अर्थ वर्णनात्मक होता है। अपने प्रथम अर्थ में ये शब्द निर्णीत वस्तु या कर्म का मूल्यांकन करते हैं अथवा किसी को कुछ करने यान करने का परामर्श देते हैं और

दूसरे अर्थ में ये उस वस्तु या कर्म के कुछ विशेष गुणों का वर्णन करते हैं। इस दृष्टि से निर्नैतिक मूल्यात्मक कथनों और नैतिक निर्णयों में आधारभूत समानता है। इन दोनों में पाई जाने वाली इसी आधारभूत समानता को ध्यान में रखते हुए हेयर कहते हैं कि "मैं सर्वाधिक प्रचलित दो नैतिक शब्दों 'शुभ' तथा 'चाहिए' पर क्रमशः विचार करूंगा। पहले मैं इन शब्दों के निर्नैतिक उपयोगों का और इसके पश्चात् उनके नैतिक उपयोगों का विवेचन करूंगा। प्रत्येक स्थिति में मैं यह दिखाने की आशा करता हूं कि इन उपयोगों में बहुत–सी समान विशेषताएं हैं। "11 इस प्रकार हेयर के अनुसार नैतिक निर्णयों तथा अन्य मूल्यात्मक कथनों के अर्थ में पर्याप्त समानता है, अतः नैतिक निर्णयों के अर्थ का विश्लेषण करते हुए हमें इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

जैसा कि हेयर के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि लैंग्वेज ऑफ मॉरल्ज़' के दूसरे और तीसरे भाग में क्रमशः 'शुभ' या 'अच्छा' तथा 'चाहिए' इन दो शब्दों के अर्थ का विस्तृत विश्लेषण किया है। यहां हम निर्नैतिक तथा नैतिक प्रसंगों में इन दोनों शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में उनके मत पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द के अर्थ के विषय में हेयर का कथन है कि सामान्यतः हम इस शब्द का प्रयोग प्रशंसात्मक अर्थ में करते हैं। हम जब किसी वस्तु को 'अच्छी वस्तु' अथवा किसी व्यक्ति को 'अच्छा मनुष्य' कहते हैं तो हमारा मुख्य उद्देश्य उस वस्तु या व्यक्ति की प्रशंसा करना ही होता है, उसका वर्णन मात्र करना नहीं। सामान्यतः हम जिस वस्तु को प्रशंसनीय समझते हैं उसे ही हम 'शुभ' या 'अच्छी' कहते हैं। इसी अर्थ में हेयर 'शुभ' को मुख्यतः प्रशंसात्मक शब्द मानते हैं। उनका निश्चित मत है कि 'शुभ' का मुख्य कार्य वक्ता द्वारा निर्णीत वस्तु की प्रशंसा करना ही है। जिस बस्तु के प्रति हमारे मन में

वितृष्णा या विरोध है अथवा जिसके प्रति हम पूर्णतः उदासीन हैं उसे हम सामान्यतः 'शुभ' या 'अच्छी' नहीं कहते ।

जैसा कि हम तीसरे अध्याय में देख चुके हैं, नैतिक शब्दों के अर्थ के विषय में मुख्यतः अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर हेयर ने प्रकृतिवाद का खंडन हिया है जो अनुभवाश्रित तथ्यात्मक कथनों द्वारा ही नैतिक निर्णयों के अर्थ की ब्याख्या करता है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध उनकी मुख्य आपत्ति यही है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो हम 'शुभ', 'उचित' आदि नैतिक शब्दों द्वारा वह कार्य सम्पन्न नहीं कर सकते जो उनका प्रमुख कार्य है– अर्थात् इन शब्दों द्वारा वस्तुओं अथवा कर्मों का मूल्यांकन करना हमारे लिए असम्भव हो जाता है। हेयर का मत है कि प्रकृतिवाद के विरुद्ध यह आपत्ति केवल नैतिक निर्णयों के प्रम्बन्ध में ही नहीं, अपितु सभी प्रकार के निर्नेतिक मूल्यात्मक कथनों के सम्रन्ध में भी पूर्ण रूप से लागू होती है, क्योंकि यह सिद्धांत सभी मूल्यात्मक रुपनो को वर्णनात्मक बना देता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर हमें यह मानना पड़ेगा कि तथ्यात्मक कथनों और मूल्यात्मक निर्णयों में वस्तुतः कोई आधारभूत अन्तर नहीं है, किन्तु इन दोनों के भिन्न–भिन्न कार्यों को ध्यान में रखते हुए प्रकृतिवाद की इस मान्यता का तर्कसंगत रूप से समर्थन करना सम्भव नहीं है। इस सिद्धांत के विरुद्ध अपनी उपर्युक्त आपत्ति को स्पष्ट करते हुए हेयर ने लिखा हैः "प्रकृतिवादी सिद्धांतों का दोष यह है कि वे तथ्यात्मक कथनों से मूल्यात्मक निर्णयों को निगमित करके इन निर्णयों में विद्यमान परामर्शात्मक अथवा प्रशंसात्मक तत्त्व की उपेक्षा करते हैं। यदि मेरा यह मत उचित है तो मेरा अपना सिद्धांत – जो इस तत्त्व को सुरक्षित रखता है– प्रकृतिवादी नहीं है।.. भाषा में मूल्यात्मक शब्दों का एक विशेष कार्य है और वह है प्रशंसा करना, अतः यह स्पष्ट है कि इन शब्दों की ऐसे शब्दों द्वारा परिभाषा नहीं की जा सकती जिनका यह कार्य नहीं है; क्योंकि

यदि ऐसा किया जाता है तो हम इस कार्य को सम्पन्न करने के साधन से वंचित हो जाते हैं। "12 इस प्रकार हेयर मूल्यात्मक शब्दों के विशेष कार्य के आधार पर सभी प्रकृतिवादी सिद्धांतों का खंडन करते हैं। प्रकृतिबाद के विरुद्ध उनकी इस आपत्ति पर हम तीसरे अध्याय में सविस्तार विचार कर चुके हैं, अतः यहां इसका अधिक विस्तृत विवेचन अनावश्यक है।

यह सत्य है कि हेयर के मतानुसार 'शुभ' का मुख्य अर्थ प्रशंसात्मक अर्थ ही है, किन्तु 'शुभ' के इस मुख्य अर्थ के साथ–साथ वे उसका वर्णनात्मक अर्थ भी स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि 'शुभ' का यह वर्णनात्मक अर्थ वस्तु के उम विशेष गुणों में निहित रहता है जिनके कारण हम उसे शुभ कहते हैं। जब हम किसी वस्तु को शुभ कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो हमारी इस प्रशंसा का आधार अनिवार्यतः उस वस्तु के कुछ विशेष गुण होते हैं और उसे शुभ कह कर हम उसके इन्हीं गुणों की ओर संकेत करते हैं अथवा इनका वर्णन करते हैं। यही 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ है जो सामान्यतः इस शब्द के साथ अवश्य संबद्ध रहता है। इस वर्णनात्मक अर्थ के अभाव में हम प्रायः किसी वस्तु के लिए 'शुभ' शब्द का प्रयोग नहीं करते। हेयर यह मानते हैं कि किसी वस्तु का शुभख अंततः उसके उन गुणों पर ही निर्भर रहता है जो उसे शुभ बनाते हैं– अर्थात् जिनके कारण उसे शुभ कहा जाता है। 'शुभ' के वर्णनात्मक अर्थ का सम्बन्ध अनिवार्यतः बस्तु के इन्हीं गुणों से होता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि हम विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिए 'शुभ' शब्द का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि इस शब्द का वर्णनात्मक अर्थ भिन्न–भिन्न वर्गों की वस्तुओं के अनुरूप अनिवार्यतः परिवर्तित होता रहता है। उदाहरणार्थ हम जिन गुणों के कारण किसी पुस्तक को अच्छी कहते हैं वे उन गुणों से पूर्णतः भिन्न होते हैं जिनके कारण हम किसी मोटर कार को अच्छी कहते हैं। इसी प्रकार जो गुण किसी व्यक्ति को अच्छा मनुष्य बनाते हैं

वे उन गुणों से पूर्णतः भिन्न होते हैं जो किसी चित्र को अच्छा चित्र बनाते हैं। यही बात ऐसी अन्य सभी बस्तुओं के विषय में भी कही जा सकती है जिन्हें हम अच्छी कहते हैं। इस प्रकार 'अच्छा' या 'शुभ' शब्द के वर्णनात्मक अर्थ में प्रसंगानुसार परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसका प्रशंसात्मक अर्थ सभी प्रसंगों में समान ही रहता है, क्योंकि सामान्यतः हम जब भी किसी वस्तु को अच्छी कहते हैं तो हम उसकी प्रशंसा करते हैं। इसी कारण हेयर 'शुभ' के प्रशंसात्मक अर्थ को मुख्य और उसके वर्णनात्मक अर्थ को गौण मानते हैं। उनका विवार है कि हम बाल्यकाल में सर्वप्रथम 'शुभ' अथवा 'अच्छा' शब्द का प्रशंसात्मक अर्थ ही सीखते हैं और इसके पश्चात आयु तथा ज्ञान की वृद्धि के साथ–साथ हम विभिन्न वस्तुओं के प्रसंग में उसके भिन्न–भिन्न वर्णनात्मक अर्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि शुभ' का प्रशंसात्मक अर्थ मुख्य और उसका वर्णनात्मक अर्थ गौण है।

' परन्तु हेयर जब 'शुभ' के वर्णनात्मक अर्थ को गौण कहते हैं तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे इस अर्थ को कोई महत्त्व नहीं देते। वस्तुतः वे 'शुभ' के इस वर्णनात्मक अर्थ को भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि इसी अर्थ के माध्यम से हम उन वस्तुओं के स्वरूप तथा गुणों की तथ्यात्मक सूचना प्राप्त करते हैं जिन्हें शुभ कहा जाता है। हम ऊपर बता चुके हैं कि हेयर के मतानुसार किसी वस्तु के कुछ विशेष गुणों के कारण ही हम उसे शुभ कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि 'शुभ' शब्द हमें उस वस्तु के उन गुणों की तथ्यात्मक जानकारी प्रदान करता है जो उसे शुभ बनाते हैं। उदाहरणार्थ जब हम किसी व्यक्ति को 'अच्छा मनुष्य' बहते हैं तो उस व्यक्ति के संबंध में प्रयुक्त 'अच्छा' शब्द हमें उसमें विद्यमान कुछ विशेष गुणों–स्नेह, ईमानदारी, सत्यवादिता, परोपकार, करुणा बादि –की तथ्यात्मक सूचना देता है। 'शुभ' या 'अच्छी' कही जाने वाली अन्य वस्तुओं के विषय में भी

हम इसी प्रकार की तथ्यात्मक सूचना प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि से 'शुभ' शब्द वर्णनात्मक कार्य करता है– अर्थात् वह हमें शुभ कही जाने वाली वस्तु के विषय में तथ्यात्मक जानकारी देता है। 'शुभ' के इसी वर्णनात्मक कार्य के कारण हम पूर्णतः समान गुणों वाली दो वस्तुओं में से एक को शुभ और दूसरी को अशुभ नहीं कह सकते, क्योंकि यदि हम ऐसा कहते हैं तो हमारे कथन में तार्किक असंगति का आ जाना अनिवार्य है। किन्हीं दो वस्तुओं के गुणों को पूर्णतः समान मानते हुए भी यदि हम उनमें से एक को शुभ और दूसरी को अशुभ कहते हैं तो अन्य व्यक्तियों के लिए हमारा यह कथन वस्तुतः अबोधगम्य हो जाता है। वे हम से यह पूछ सकते हैं कि जब इन दो वस्तुओं के गुण पूर्णतः समान हैं तो इनमें से एक शुभ और दूसरी अशुभ कैसे हो सकती है। इन दो वस्तुओं के गुणों में कोई स्पष्ट अंतर बताए बिना हम इस प्रश्न का निश्चय ही कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते। इसका कारण यही है कि वस्तुओं का शुभत्व अंततः उनके कुछ विशेष गुणों पर ही आधारित रहता है। इस प्रकार हेयर के अनुसार 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ ही हमारे उन कथनों को वस्तुनिष्ठ तथा सार्वलौकिक बनाता है जिनमें हम इस शब्द का प्रयोग करते है। इस अर्थ के अभाव में 'शुभ' संबंधी हमारे कथन पूर्णतः संवेगात्मक हो जाएंगे। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि मूल्यात्मक कथनों की वस्तुनिष्ठता की दृष्टि से हेयर 'शुभ' के वर्णनात्मक अर्थ को विशेष महत्त्व देते हैं। हम आगे देखेंगे कि उनका 'सार्वलौकिकता संबंधी सिद्धांत' 'शुभ' तथा अन्य मूल्यात्मक शब्दों के इसी वर्णनात्मक अर्थ पर आधारित है।

यद्यपि हेयर 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द के वर्णनात्मक अर्थ को महत्त्वपूर्ण मानते है. फिर भी उनका निश्चित मत है कि इस शब्द का प्रमुख अर्थ मूल्यात्मक अथवा प्रशंसात्मक ही है जो सामान्यतः सभी प्रसंगों में विद्यमान रहता है। अपने इसी मुख्य प्रशंसात्मक अर्थ के कारण यह शब्द उन वस्तुओं के चुनाव के संबंध में

हमारा मार्गदर्शन करता है जिन्हें शुभ या अच्छी कहा जाता है। जब हम किसी बस्तु को अच्छी कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो हम उस वस्तु को चुनने के विषय में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वयं अपना अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्ग–दर्शन करते हैं। उस वस्तु के संबंध में हमारा निर्णय उचित अवसर आने पर इसका चुनाव करने में स्वयं हमारे लिए अथवा दूसरों के लिए सहायक होता है। संस्तुतः यह बात केवल 'शुभ' के विषय में ही नहीं, अपितु अन्य सभी मूल्यात्मक पन्नों के विषय में भी कही जा सकती है। जब हम किन्हीं बस्तुकों से संबधित अपने निर्णयों में इन मूल्यात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारे ये निर्णय उन वस्तुओं का चुनाव करने के विषय में हमारे लिए मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। हेयर के मतानुसार इसका कारण किसी वस्तु की प्रशंसा अथवा निंदा के मूल उद्देश्य में ही निहित रहता है। जब हम किसी वस्तु की प्रशंसा या निदा करते हैं तो हमारा मुख्य उद्देश्य उपयुक्त अवसर पर उसे चुनने या न चुनने के संबंध में स्वयं अपना अथवा दूसरों का मार्गदर्शन करना ही होता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि हेयर के विचार में केवल वर्तमान तथा भविष्यत काल से संबंधित मूल्यात्मक निर्णयों के विषय में ही नहीं, अपितु भूतकाल से संबंधित मूल्यात्मक निर्णयों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। जब हम भूत काल में किए गए अनुचित कर्म के लिए किसी व्यक्ति की निंदा करते हैं तो हमारा मुख्य उद्देश्य यह होता है कि वह व्यक्ति अथवा कोई अन्य व्यक्ति भविष्य में पुनः वह कर्म न करे। वस्तुतः इसी कारण भूतकाल संबंधी हमारे नैतिक निर्णयों को सार्थक और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार हेयर विभिन्न विकल्पों के चयन के संबंध में मनुष्यों का मार्गदर्शन करना नैतिक निर्णयों सहित सभी मूल्यात्मक निर्णयों का प्रमुख उद्देश्य मानते हैं

अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर 'शुभ' के अर्थ की व्याख्या करते हुए हेयर ने लिखा है– "मैंने कहा है कि 'शुभ' शब्द का मुख्य कार्य प्रशंसा करना है। इसलिए हमें यह मालूम करना चाहिए कि प्रशंसा करने का अर्थ क्या है। जब हम किसी वस्तु की प्रशंसा या निदा करते हैं तो हम सदैव कम से कम अप्रत्यक्षतः वर्त– मान अथवा भावी विकल्पों के विषय में स्वयं अपना या दूसरों का मार्गदर्शन करने के लिए ही ऐसा करते हैं। यदि किसी व्यक्ति के लिए चित्रों को देखने या न देखने "अथवा खरीदने या न खरीदने के उद्देश्य से चुनाव करने की आवश्यकता न होती तो हम उन्हें अच्छे या बुरे न कहते। यदि हमारे समक्ष इस बात का चुनाव करने के लिए प्रयास करने का विकल्प न होता कि हम किस प्रकार के मनुष्य बनना चाहते हैं तो हम अच्छे मनुष्यों की बात न करते। हमें यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि सर्वाधिक उपयोगी मूल्यात्मक निर्णय वे होते हैं जो ऐसे विकल्पों की ओर संकेत करते हैं जिन्हें अपनाने की हमारे लिए पर्याप्त संभावना है। यहां यह बता देना आवश्यक है कि भूतकालीन विकल्पों से संबंधित निर्णय भी केवल भूत काल से ही संबंधित नहीं होते। यदि मैं भूतकाल में कोई कर्म करने के लिए किसी व्यक्ति की निंदा करता हूं तो मैं इस संभावना की कल्पना करता हूं कि उस व्यक्ति को, किसी अन्य व्यक्ति को अथवा स्वयं मुझे पुनः उसी प्रकार का कर्म करने का चुनाव करना पड़ सकता है; अन्यथा उसको निदा करने का कोई अर्थ नहीं होगा। "13 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हेयर शुम' तथा अन्य सभी मूल्यात्मक शब्दों के अर्थ को विकल्पों के चयन के विषय में मनुष्यों का मार्गदर्शन करने के साथ अनिवार्यतः संबद्ध मानते हैं। उनकी यह मान्यता कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है– इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत अध्याय के अंतिम खंड में विचार करेंगे।

हेपर का मत है कि उन्होंने 'शुभ' के अर्थ का जो विश्लेषण किया है वह इस शब्द के निर्मेतिक तथा नैतिक दोनों अर्थों पर समान रूप से लागू होता है, क्योंकि दोनों प्रकार के प्रसंगों में इस शब्द का कार्य मूलतः समान होता है। हमने ऊपर विनतिक अर्थ में 'शुभ या 'अच्छा' शब्द की जो मूल विशेषताएँ बताई हैं वे ही विशेषताएं इस शब्द के नैतिक अर्थ में भी विद्यमान रहती हैं। इन दोनों ओं में 'इच्छा' या 'शुभ' की मूल विशेषताओं का तुलनात्मक विवेचन करने से पूर्व यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हेयर के अनुसार इस शब्द के 'नैतिक अर्थ' से स्या तात्पर्य है। इस संबंध में उनका स्पष्ट कथन है कि जब हम मनुष्य तथा उसकी अभिप्रेरणाओं और उसके कर्मों एवं उद्देश्यों के लिए 'अच्छा' अथवा शुभ' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इन प्रसंगों में इस शब्द के अर्थ को ही 'नैतिक अर्थ' माना जा सकता है। उदाहरणार्थ जव हम यह कहते हैं कि "वह व्यक्ति एक बच्छा मनुष्य है" अथवा "दुःखी व्यक्ति की सहायता करके उसने शुभ कर्म किया है" तो अपने इन निर्णयों में हम 'अच्छा' तथा 'शुभ' इन शब्दों का प्रयोग नैतिक अर्थ में ही करते हैं, निनैतिक अर्थ में नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'शुभ' के नैतिक अर्थ का संबंध अनिवार्यतः मनुष्य तथा उसके चरित्र और आचरण से ही है। इसी आधार पर 'शुभ' के नैतिक अर्थ की व्याख्या करते हुए हेयर कहते है कि "जव हम नैतिक दृष्टि से प्रशंसा करने के लिए 'शुभ' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम सदैव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं। जब हम 'शुम कर्म' अथवा इसी प्रकार के अन्य वाक्यांशों का प्रयोग करते हैं तो भी परोक्ष रूप से हमारा संकेत मनुष्य के चरित्र की ओर ही होता है। इसलिए नैतिक शुमत्व की चर्चा करते हुए मैं 'अच्छा मनुष्य' तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्यांशों की ही बात करूंगा। "14 इस प्रकार हेयर के मतानुसार जब हम मनुष्य तथा उसके चरित्र और आचरण का मूल्यांकन करने के लिए 'अच्छा', 'बुरा', 'शुम', अनुम' कादि मूल्यात्मक शब्दों का

प्रयोग करते हैं तो अनिवार्यतः इसे इन शब्दों का 'नैतिक अर्थ' कहा जा सकता है। वस्तुतः यही महत्त्वपूर्ण तथ्य इन शब्दों के इस 'नैतिक अर्थ' को इनके 'निनैतिक अर्थ' से पृथक करता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या नैतिक अर्थ में 'शुम' तथा अन्य मूल्यात्मक शब्दों के प्रयोग के तार्किक नियम निर्देतिक अर्थ में इन शब्दों के प्रयोग के ताकिक नियमों से भिन्न प्रकार के होते हैं। हेयर इस प्रश्नका निश्चित रूप से नकारात्मक उत्तर देते हैं। उनका मत है कि नैतिक तथा निर्नेतिक दोनों अर्षों में मूल्यात्मक शब्दों के प्रयोग से संबंधित तार्किक नियम पूर्णतः समान होते हैं। उदाहरणार्थ निनैतिक प्रसंगों की भांति नैतिक प्रसंगों में भी 'शुम' का मुरुय अर्थ मूल्यात्मक या प्रशंसात्मक और इसका गौण अर्थ वर्णनात्मक ही होता है। जब हम किसी व्यक्ति को 'अच्छा मनुष्य' कहते हैं तो हम निश्चय ही नैतिक दृष्टि से उसकी प्रशंसा करते हैं और इस प्रसंग में यही 'अच्छा' शब्द का मुख्य अर्थ है। निनैतिक प्रसंगों के समान ही सभी नैतिक प्रसंगों में भी इस शब्द का यही प्रशंसात्मक मुख्य अर्थ विद्यमान रहता है। परन्तु इस मुख्य अर्थ के साथ ही नैतिक प्रसंगों में भी इस शब्द का वर्णनात्मक अर्थ अवश्य होता है। यह वर्णनात्मक अर्थ स्नेह, उदारता, परोपकार, भ्याय, ईमानदारी, सत्यवादिता आदि व्यक्ति के उन गुणों में निहित रहता है जिनके कारण हम उसे 'अच्छा मनुष्य' कहते हैं और इस प्रकार नैतिक दृष्टि से उसकी प्रशंसा करते हैं। वस्तुतः उसके ये गुण ही हमारे लिए वे तर्क हैं जो हम उसके संबंध में अपने नैतिक निर्णय के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को 'अच्छा मनुष्य' कहना तार्किक दृष्टि से हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है जिसमें ये गुण विद्यमान है और यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमारे नैतिक निर्णयों में अनि– वार्यतः विसंगति आ जाती है। यदि मैं यह स्वीकार करता हूं कि गौतम बुद्ध तथा महात्मागांधी में समान सद्गुण

विद्यमान थे तो मैं ताकिक दृष्टि से एक को अच्छा और दूसरे को बुरा मनुष्य नहीं कह सकता। स्पष्ट है कि इस दृष्टि से 'अच्छा' और 'बुरा' शब्दों का नैतिक अर्थ इनके निनैतिक अर्थ से मूलतः भिन्न प्रकार का नहीं है। इसके अतिरिक्त निर्नेतिक प्रसंगों की भांति नैतिक प्रसंगों में भी 'अच्छा', 'बुरा' बादि शब्दों का मूल्यात्मक अर्थ सदैव समान रहता है, किंतु इनके वर्ण– नात्मक अर्थ में परिवर्तन हो सकता है। हम किसी व्यक्ति को उसकी उदारता तथा दयालुता के कारण 'अच्छा मनुष्य' कह सकते हैं और किसी अन्य व्यक्ति को उसकी ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा के कारण। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि नैतिक प्रसंगों में भी 'अच्छा' शब्द का वर्णनात्मक अर्थ परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि इन प्रसंगों में भी हेयर इस शब्द के वर्णनात्मक अर्थ को गौण ही मानते हैं। परंतु उनका मत है कि इस वर्णनात्मक अर्थ के अभाव में हमारे लिए नैतिक निर्णय देना संभव नहीं है, क्योंकि हमारे निर्णय अंततः इसी अर्थ पर आधारित रहते हैं । नैतिक निर्णयों के लिए इस वर्णनात्मक अर्थ के महत्व को हेयर ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है– "यह निर्णय कि वह नैतिक दृष्टि से एक अच्छा मनुष्य है इस निर्णय से ताकिक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं है कि उसमें कुछ अन्य गुण हैं जिन्हें हम सद्‌गुण कह सकते हैं और जो उसे अच्छा मनुष्य बनाते हैं। इन दोनों में संबंध अवश्य है, यद्यपि यह संबंध अर्थ–साम्य का नहीं है। नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' का वर्णनात्मक तथा मूल्यात्मक अर्थ दोनों ही विद्यमान रहते हैं और मूल्यात्मक अर्थ प्रमुख होता है। वर्णनात्मक अर्थ को जानना बह जानना है कि वक्ता प्रतिमानों के आधार पर निर्णय दे रहा है। "15 इस प्रकार हेयर का यह निश्चित मत है कि नैतिक तथा निर्नेतिक दोनों प्रसंगों में 'शुभ' के अर्थ का विश्लेषण एक ही प्रकार के ताकिक नियमों के आधार पर किया जा सकता है, क्योंकि इन दोनों प्रसंगों में

प्रयुक्त होने पर इस शब्द के अर्थ में कोई मूल अंतर नहीं होता। यही बात अन्य सभी मूल्यात्मक शब्दों के अर्थ के विषय में भी कही जा सकती है।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि नैतिक और निर्नेतिक इन दोनों प्रसंगों में तार्किक दृष्टि से 'शुभ' का अर्थ समान होता है तो हम नैतिक प्रसंगों में इस शब्द का अर्थ निर्देतिक प्रसंगों में इसके अर्थ से पूर्णतः भिन्न क्यों मानते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हेयर ने कहा है कि नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' के अर्थ को पूर्णतया भिन्न मानने के दो प्रमुख कारण हैं। इसका प्रथम कारण यह है। कि जिन गुणों के आधार पर हम किसी व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से अच्छा मनुष्य कहते हैं वे उन गुणों से पूर्णतः भिन्न होते हैं जिनके कारण हम कार, घड़ी, पुस्तक, चाकू आदि निर्जीव वस्तुओं को अच्छी कहते हैं। इन गुणों में आधारभूत अंतर होने के कारण हम यह मानने लगते हैं कि नैतिक प्रसंगों में 'अच्छा' शब्द का अर्थ निर्नेतिक प्रसंगों में इसके अर्थ से पूर्णतः भिन्न होता है। परंतु हेयर का विचार है कि ऐसा सोचना वास्तव में हमारी भूल है। यह सत्य है कि नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' या अच्छा' शब्द का वर्णनात्मक अर्थ निनेंतिक प्रसंगों में इस शब्द के वर्णनात्मक वर्ष से भिन्न होता है, किन्तु निनेंतिक प्रसंगों में भी इसके वर्णनात्मक अर्थ के विषय में यही बात कही जा सकती है। उदाहरणार्थ जिन गुणों के कारण हम कार को अच्छी कहते हैं वे उन गुणों से पूर्णतः भिन्न होते हैं जिनके कारण हम घड़ी को अच्छी कहते हैं। परंतु वर्णनात्मक अर्थ की इस भिन्नता से यह प्रमाणित नहीं होता कि नैतिक तथा निनैतिक प्रसंगों में 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का मूल्यात्मक अर्थ भी भिन्न–भिन्न होता है।

नैतिक और निनैतिक प्रसंगों में 'शुभ' शब्द के अर्थ को भिन्न–भिन्न मानने का दूसरा प्रमुख कारण यह है कि हम नैतिक शुभत्व को निर्नेतिक शुभत्व की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं और इसलिए यह आशा करते हैं कि

नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' के अर्थ के तार्किक नियम निर्नैतिक प्रसंगों में इस शब्द के अर्थ के ताकिक नियमों से अवश्य ही भिन्न होंगे। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि हम जितनी गंभीरता– पूर्वक नैतिक शुभत्व के विषय में विचार करते हैं उतनी गंभीरता से निर्नैतिक शुभत्व के संबंध में विचार नहीं करते। यदि हमें ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति नैतिक दृष्टि से अच्छा मनुष्य नहीं है तो हग बहुत क्षुब्ध होते हैं, किन्तु किसी निर्जीव वस्तु के विषय में यह मालूम होने पर कि वह अच्छी नहीं है हम इस प्रकार की क्षुब्धता का अनुभव नहीं करते। इससे स्पष्ट है कि हम नैतिक शुभत्व को मिर्नैतिक शुभत्व की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व देते हैं। हेयर के विचार में इसका कारण यह है कि हम स्वयं मनुष्य हैं और नैतिक शुभत्व का मनुष्य के चरित्र तथा आचरण के साथ अनिवार्य संबंध है। जब हम किसी कर्म को शुभ कहते हैं तो अनिवार्यतः इसका अर्थ यह होता है कि उचित अवसर आने पर अपनी सामर्थ्यानुसार स्वयं हमें भी वह कर्म करना चाहिए। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में हम नैतिक शुभत्व के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। वस्तुतः नंतिक निर्णयों का स्वयं हमारे जीवन पर ही नहीं, अपितु अन्य व्यक्तियों के जीवन पर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि हम इन निर्णयों को विशेष महत्त्व देते हैं और इन पर बड़ी गंभीरता से विचार करते हैं। हेयर स्वयं भी मानव–जीवन में नैतिक निर्णयों के इस विशेष महत्त्व को पूर्णतः स्वीकार करते हैं, किंतु उनके मतानुसार इसका अर्थ यह नहीं है कि इन निर्णयों के अर्थ का विश्लेषण करने के लिए विशेष प्रकार के ताकिक नियमों की आवश्यकता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। उनका यह निश्चित मत है कि नैतिक निर्णयों के अर्थ की ब्याख्या भी उन्हीं तार्किक नियमों के आधार पर की जा सकती है जिनके आधार पर हम निर्देतिक मूल्यात्मक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार हेयर के विचार में यद्यपि नैतिक निर्णयों का हमारे लिए

विशेष महत्त्व है, फिर भी नैतिक भाषा के अर्थ का विश्लेषण करने के लिए सामान्य ताकिक नियमों से भिन्न किसी विशेष प्रकार के तार्किक नियमों की कोई आवश्यकता नहीं है।

अभी तक हमने 'शुभ' के अर्थ के विषय में ही हेयर का मत प्रस्तुत किया है, अब 'उचित', 'चाहिए' और 'कर्तव्य' के अर्थ के संबंध में भी चनके विचारों का उल्लेख करना आवश्यक है। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि वे इन सभी शब्दों को मूल्यात्मक शब्द मानते हैं जिनका मुख्य कार्य मानवीय आचरण का मार्गदर्शन करमा है। परंतु इन शब्दों के अर्थ में इस आधारभूत समानता के साथ–साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि 'शुभ' तथा अन्य नैतिक शब्दों के अर्थ में पर्याप्त अंतर है। इस संबंध में हेवर का स्पष्ट कथन है कि जो व्यक्ति 'शुभ' तथा इषित' के उपयोग से भली–भांति परिचित है वह कभी भी यह नहीं कहेगा कि इम दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। सर्वप्रथम व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि हम दोनों शब्दों का प्रयोग निश्चय ही भिन्न– भिन्न अथों में करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम किसी कर्म को शुभ कहते हैं तो हम इस संभावना को स्वीकार करते हैं कि वह कम या अधिक शुभ हो सकता है, किंतु किसी कर्म के औचित्य के विषय में हम यह बात नहीं कहते । सामान्यतः औचित्य की मात्रा के विचार को अस्वीकार करते हुए हम यह मानते हैं कि कोई कर्म या हो उचित हो सकता है अथवा अनुचित; वह कम या अधिक उचित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से 'उचित' का अर्थ 'शुभ' के अर्थ से अवश्य ही पर्याप्त सीमा हरु भिन्न है।

इसके अतिरिक्त नैतिक प्रसंगों में हम 'उचित' का अर्थ 'शुभ' के अर्थ से भिन्न मानते हैं। सामान्यतः हम ऐसे कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित कहते हैं जो नियम के अनुरूप है, किंतु ऐसे कर्म का शुभ होना अनिवार्य नहीं है। इसका कारण

यह है कि कर्म का शुभत्व व्यक्ति की उस मूल अभिप्रेरणा पर ही निर्भर है जिस से प्रेरित होकर उसने वह कर्म किया है। ऐसी स्थिति में यह संभव है कि कोई कर्म उचित हो, किंतु वह शुभ न हो। इसी प्रकार यह भी संभव है कि कोई कर्म शुभ हो, किंतु बहु उचित न हो। उचित और शुभ कर्म के इसी अंतर को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए हेयर ने लिखा है– "यह सामान्य बात है कि किसी कर्म को उचित बहना यह कहना नहीं है कि वह नर्म शुभ है, क्योंकि कर्म के शुभ होने के लिए यह बावश्यक है कि वह शुभ अभिप्रेरणा द्वारा किया गया हो, जबकि उसके उचित होने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि वह किसी नियम के अनुरूप हो– फिर चाहे यह किसी भी अभिप्रेरणा द्वारा किया गया हो। उदाहरणार्थ यदि मैं इस आशा से अपने दरजी के बिल का भुगतान करता हूं कि वह यह धन अत्यधिक शराब पीने पर खर्च करेगा तो भी मैं इस बिल का भुगतान करके उचित कर्म करता हूं, अद्यापि यह कर्म शुभ नहीं हैं, क्योंकि मेरी अभिप्रेरणा अशुभ है। यह कहना कि किसी व्यक्ति ने वह कर्म किया जो उचित नहीं था अनिवार्यतः इसके लिए उसकी निदा करना अथवा उसे दोषी मानना नहीं है, क्योंकि यद्यपि उसने उचित कर्म नहीं किया फिर भी यह संभव है कि उसने सर्वोत्तम अभिप्रेरणा से प्रेरित होकर वह कर्म किया हो अथवा वह ऐसे प्रलोभन का प्रतिरोध न कर सका हो जिसका प्रतिरोध करने में असफल होने के लिए उसे दोषी नहीं माना जा सकता। "16 इस प्रकार हैबर के मतानुसार 'उचित' और 'शुभ' के अर्थ में पर्याप्त अंतर है। उनका कथम है कि इसी प्रकार का अंतर 'शुम' तथा 'चाहिए' के अर्थ में भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, क्योंकि हम 'चाहिए' शब्द का प्रयोग भी लगभग उसी अर्थ में करते हैं जिस अर्थ में 'उचित' का प्रयोग किया जाता है।

परंतु उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि हेयर के विचार में 'शुभ' तथा 'उचित' और 'चाहिए' का अर्थ पूर्णतः भिन्न है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, वे इन तीनों शब्दों को मूल्यात्मक शब्द मानते हुए इनके अर्थ में पर्याप्त समानता स्वीकार करते हैं। 'शुभ' और 'उचित' के अर्थ में एक महत्त्वपूर्ण समानता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार किती वस्तु का शुभत्व उसके कुछ विशेष गुणों पर ही निर्भर होता है उसी प्रकार किसी कर्म का औचित्य भी उससे संबंधित कुछ विशेष तथ्यों पर आधारित रहता है। इन तथ्यों में हम कर्म के परिणामों, किसी विशेष नियम तथा उन परिस्थितियों का उल्लेख कर सकते हैं जिनमें वह कर्म किया गया है। इन्हीं सब तथ्यों के आधार पर हम यह निर्णय करते हैं कि कोई कर्म उचित है या नहीं– अर्थात् वह कर्म हमें करना चाहिए अथवा नहीं। इससे स्पष्ट है कि किसी कर्म के औचित्य का इन तथ्यों के साथ अनिवार्य संबंध है। यदि किन्ही दो कर्मों के सभी परिणाम, विशेष नियम तथा वे परिस्थितियां जिनमें ये कर्म किए गए हैं पूर्णतः समान हैं तो हम तार्किक दृष्टि से एक कर्म को उचित और दूसरे को अनुचित नहीं कह सकते। यदि हम ऐसा कहते हैं तो हमारे कथन में असंगति का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है। 'शुभ' के विषय में इस विशेषता का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इस दृ ष्टि से 'उचित' और 'चाहिए' का अर्थ भी 'शुभ' के अर्थ से भिन्न नहीं है। इसी विशेषता के आधार पर 'शुभ' तथा उचित' के अर्थ की समानता को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "जिस प्रकार चित्र अथवा अन्य वस्तुएं केवल अपने शुभत्व के कारण एक–दूसरे से भिन्न नहीं हो सकतीं उसी प्रकार कर्म भी केवल अपने औचित्य के कारण एक–दूसरे से भिन्न नहीं हो सकते; और यह असंभावना ताकिक असंभावना है जो उस उद्देश्य से उत्पन्न होती है जिसके लिए

हम इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। "17 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हेयर 'उचित' और 'चाहिए' के अर्थ को 'शुम' के अर्थ से पूर्णतः भिन्न नहीं मानते ।

'शुभ', 'उचित' तथा 'चाहिए' के अर्थ की जिस समग्नता का उल्लेख ऊपर किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि हेयर के विचार में 'शुभ' की भांति 'उचित' और 'बाहिए' का भी वर्णनात्मक अर्थ अवश्य होता है जो प्रसंगानुसार परिवर्तित होता रहता है। जब हम किसी कर्म के विषय में 'उचित' तथा 'चाहिए' का प्रयोग करते हैं तो ये शब्द इस कर्म से संबंधित कुछ तथ्यों–परिणायों, नियमों, परिस्थितियों आदि की ओर अवश्य संकेत करते हैं। वस्तुतः कर्म संबंधी इन्हीं तथ्यों में 'उचित' और 'चाहिए' का वर्णनात्मक अर्थ निहित रहता है। इस वर्ण– नात्मक अर्थ के अभाव में ये शब्द मार्ग दर्शन संबंधी अपना मुख्य कार्य नहीं कर सस्ते, किंतु प्रसंगानुसार परिवर्तित होते रहने के कारण हेयर इसे गौण अर्थ ही बानते हैं। उनका विचार है कि इन शब्दों का मुख्य अर्थ परामर्शात्मक अर्थ ही है जो सभी प्रसंगों में समान रूप से विद्यमान रहता है। इसी कारण उन्होंने 'उचित' और 'चाहिए' के अर्थ की व्याख्या के संबंध में भी प्रकृतिवाद का उसी प्रकार खंडन किया है जिस प्रकार 'शुभ' के अर्थ की व्याख्या के संबंध में। हेयर का कथन है कि 'उचित' और 'चाहिए' का कर्म संबंधी कुछ तथ्यों के साथ अनिवार्य संबंध अवश्य है, किंतु इन तथ्यों के आधार पर उक्त दोनों शब्दों के अर्थ की ठीक–ठीक व्याख्या कभी नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि ये शब्द मुख्यतः वर्णनात्मक न होकर मूल्यात्मक या परामर्शात्मक हैं। किन्हीं तथ्यों के वर्णन मात्र से हम परामर्श या मार्गदर्शन संबंधी तत्त्व को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। प्रकृ तिवाद के विरुद्ध अपने इस तर्क को हेयर ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। मान लीजिए कोई व्यक्ति यह कहता है कि "अमुक कर्म अनुचित है" का अर्थ यह है कि "बह कर्म हमारे देश के शासक की आज्ञा के विरुद्ध है।" हम

उत्ससे यह पूछ सकते हैं कि क्या उपर्युक्त दोनों कथन समानार्थक हैं। वह निश्चय ही इस शन का उत्तर 'हां' में नहीं दे सकता, क्योंकि यदि वह ऐसा करता है तो उसका यह कथन निरर्थक पुनरुक्ति मात्र हो जाता है कि "जो कर्म हमारे देश के शासक की आज्ञा के विरुद्ध है यह अनुचित है।" यदि 'अनुचित' का अर्थ 'हमारे देश के शासक की बाज्ञा के विरुद्ध' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो उसका उपर्युक्त रुवन विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति मात्र हो जाता है जिसका अर्थ यह है कि "जो कर्म हमारे देश के शासक की आज्ञा के विरुद्ध है वह हमारे देश के शासक की बाज्ञा के विरुद्ध है"। परंतु निश्चय ही वह इस प्रकार का निरर्थक वाक्य नहीं बहना चाहेगा, अतः इससे यही सिद्ध होता है कि 'अनुचित' का अर्थ 'हमारे देश के शासक की बाज्ञा के विरुद्ध' से भिन्न है। जब हम अपने दैनिक जीवन में 'अनुचित', 'उचित', 'चाहिए' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो इम इस तथ्य को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। 18 हम देख चुके हैं कि 'शुभ' के अर्थ की व्याख्या करते हुए भी हेयर ने प्रकृतिवाद के विरुद्ध यही तर्क दिया है। वे यह स्वीकार करते हैं कि इस सिद्धांत के विरुद्ध यह वही तर्क है जो मूर ने अपनी पुस्तक 'प्रिसिपिया ऐथिका' में दिया था। प्रकृतिवाद के विरुद्ध मूर के इस तर्क पर हम तीसरे अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। यहां इतना कह देना ही पर्याप्त है कि हेयर भी प्रकृतिवाद का खंडन करने के लिए इसे एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते हैं।

'उचित तथा 'चाहिए' के अर्थ की व्याख्या करते हुए हेयर कहते हैं कि इन शब्दों का मुख्य कार्य आचरण के सम्बन्ध में मनुष्य का मार्गदर्शन करना है और यह मार्गदर्शन कुछ नियमों पर आधारित होता है। उदाहरणार्थ जब हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा कोई कर्म किसी ऐसे नियम के विरुद्ध है जिसका पालन करने का हमने निश्चय किया है तो हम यह कहते हैं कि हमें वह कर्म नहीं

करना चाहिए और यदि हम वह कर्म कर चुके हैं तो हम कहते हैं कि हमें बह कर्म नहीं करना चाहिए था। इससे यह स्पष्ट है कि 'चाहिए' का उन नियमों के साथ अवश्य सम्बन्ध है जिन्हें हम अपने आचरण के लिए स्वीकार करते हैं। यही बात 'उचित' के अर्थ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, क्योंकि जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, सामान्यतः उसी कर्म को उचित माना जाता है जो नियम के बनुरूप है। हेयर का मत है कि 'चाहिए' तथा 'उचित' के अर्थ की यह व्याख्या नैतिक और निर्नेतिक दोनों प्रसंगों में इन शब्दों के प्रयोग पर समान रूप से लागू होती है। इस दृष्टि से इन दोनों प्रसंगों में 'चाहिए' और 'उचित' के अर्थ में कोई मूल भेद नहीं है। नैतिक तथा निर्नेतिक दोनों प्रसंगों में 'शुम' की भांति 'उचित' और 'चाहिए' के प्रयोग के तार्किक नियम भी समान ही हैं। दोनों प्रसंगों में ये शब्द आचरण के सम्बन्ध में मनुष्यों का मार्गदर्शन करते हैं। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए हेयर ने उदाहरण के रूप में निम्नलिखित दो वाक्य प्रस्तुत किए हैं– (1) "तुम्हें विष की दूसरी खुराक देनी चाहिए"। (यह वाक्य उस व्यक्ति से कहा गया है जिसे किसी मनुष्य को विष देकर उसकी हत्या करने का काम सौंपा गया है।) (2) "तुम्हें सत्य बोलना चाहिए"। यह स्पष्ट है कि पहला वाक्य नैतिक निर्णय नहीं है, किन्तु दूसरा वाक्य नैतिक निर्णय है। फिर भी इन दोनों वाक्यों में 'चाहिए' का मार्ग– दर्शन सम्बन्धी मुख्य अर्थ समान ही है। 19 दोनों वाक्यों में बनता किसी को कुछ करने के लिए निर्देश देकर उसका मार्गदर्शन करता है।

परन्तु हेयर का विचार है कि जब हम नैतिक प्रसंगों में 'चाहिए' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा निर्णय अनिवार्यतः किसी नैतिक नियम अथवा सिद्धांत वरही आधारित होता है। वस्तुतः यही तथ्य नैतिक प्रसंगों में इस शब्द के अर्थ को हमारे लिए विशेष महत्त्व प्रदान करता है। नैतिक नियम वे नियम हैं जो मनुष्य

होने के नाते हमारे आचरण का नियमन अथवा मार्गदर्शन करते हैं, अतः हम इन नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त किसी नैतिक नियम को स्वीकार करने का अर्थ है उपयुक्त अवसर पर अपनी सामर्थ्यानुसार उसके अनुरूप आचरण करने का प्रयास करना। यदि मैं किसी व्यक्ति से कहता हूं कि "तुम्हें सत्य बोलना चाहिए" तो मैं अवश्य ही सत्य बोलने से सम्बन्धित नैतिक नियम को स्वीकार करता हूं– अर्थात् मैं यह मानता हूं कि उन परिस्थितियों में मुझे तथा अन्य सभी व्यक्तियों को सत्य बोलना चाहिए जिनमें वह व्यक्ति है। यही कारण है कि हमारे लिए नैतिक निर्णय निनैतिक निर्णयों की अपेक्षा रही अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं और इस दृष्टि से नैतिक प्रसंगों में 'चाहिए', 'उचित' आदि शब्दों का भी हमारे लिए विशेष महत्त्व होना स्वाभाविक है। परन्तु हेवर के मतानुसार इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि नैतिक प्रसंगों में इन शब्दों का अर्थ निर्नैतिक प्रसंगों में इनके अर्थ से पूर्णतः भिन्न होता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि 'कर्तव्य' के अर्थ के विषय में हेयर का मत 'उचित' और 'बाहिए' के अर्थ के सम्बन्ध में उनके मत से कुछ भिन्न है। उनका कथन है कि 'कर्तव्य' शब्द का प्रयोग प्रायः नैतिक, कानूनी, सैनिक तथा कुछ अन्य विशेष प्रसंगों में ही किया जाता है, अतः इस शब्द का अर्थ 'उचित' और 'चाहिए' के अर्थ की अपेक्षा अधिक सीमित है। हम नैतिक प्रसंगों में 'उचित' और 'चाहिए' के स्थान पर 'कर्तव्य' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, किंतु सभी निर्नैतिक प्रसंगों में हम ऐसा नहीं कर सकते। जहां तक मुझे ज्ञात है, हेवर 'वर्तव्य' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में इसने अधिक और कुछ नहीं कहते। उन्होंने 'शुम', 'उचित' और 'चाहिए' इन तीन शब्दों के अर्थ की ही विस्तृत म्याख्या की है।

नैतिक निर्णयों के प्रथम मुख्य तत्त्व – परामर्शात्मकता के विषय में हेयर के मत का विवेचन करने के पश्चात अब इन निर्णयों के एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व

सार्वलौकिकता के सम्बन्ध में भी उनके मत पर विचार करना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि वे नैतिक निर्णयों के परामर्शात्मक अर्थ के साथ–साथ इन निर्णयों के वर्णनात्मक बर्ष को भी विशेष महत्त्व देते हैं। इसका कारण यह है कि उनके विचार में यही वर्णनात्मक अर्थ नैतिक निर्णयों को वास्तव में 'सावं. सौकिक' निर्णय बनाता है। परामर्शात्मकता की भांति यह सार्वलौकिकता भी इन निर्णयों का अनिवार्य तत्व है जिसके अभाव में इन्हें नैतिक निर्णय नहीं कहा जा सकता। जब हेयर किसी निर्णय को 'सार्वलौकिक निर्णय कहते हैं तो इससे उनका तात्पर्य यह है कि वह निर्णय समान परिस्थितियों में सभी समान वस्तुओं पर बिना किसी अपबाद के अनिवार्यतः लागू होता है। इस वृष्टि से वर्णनात्मक निर्णयों तथा नैतिक निर्णयों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही समान रूप से सार्वलौकिक निर्णय होते हैं। इस सार्वलौकिकता पर आधारित इन दोनों प्रकार के निर्णयों की समानता को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "यदि मैं किसी वस्तु को लाल कहता हूं तो मैं उस जैसी अन्य वस्तुओं को भी लाल कहने के लिए तर्कतः प्रतिबद्ध हूं। और यदि में किसी बस्तु को शुभ 'क' कहता हूं तो मैं उस जैसे किसी भी 'क' को शुभ कहने के लिए प्रतिबद्ध हूं। सुसंगत रूप से यह मानना असंम्भव है कि नैतिक निर्णय वर्णना– त्मक हैं और वे सार्वलौकिक नहीं हैं। इसी बात को और भी अधिक निश्चित रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है जो दार्शनिक सार्वलौकिकता को अस्वी कार करता है वह इस विचार को मानने के लिए प्रतिबद्ध है कि नैतिक निर्णयों का कोई वर्णनात्मक अर्थ नहीं होता। "20 इस प्रकार हेबर का यह निश्चित मत है कि सार्वलौकिकता वर्णनात्मक निर्णयों की भांति नैतिक निर्णयों की भी अनिवार्य विशेषता है। बस्तुतः सार्वलौकिकता सम्बन्धी इसी विशेषता के कारण हम समान गुणों बाले दो व्यक्तियों में से एक को अच्छा और दूसरे को बुरा अथवा दो समान कर्मों में से एक को उचित तथा दूसरे को

अनुचित नहीं कह सकते। यदि हम ऐसा कहते हैं तो हमारे कथनों में ताकिक असंगति का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि सार्वलौकिकता वर्णनात्मक शब्दों की भांति नैतिक शब्दों के अर्थ का भी अनिवार्य भाग है। मनुष्य के लिए किसी नैतिक निर्णय को स्वीकार करने का अर्थ अनिवार्यतः यह है कि बह समान परिस्थितियों में उस निर्णय को स्वयं अपने ऊपर तथा अन्य सभी व्यक्तियों पर लागू करने के लिए ताकिक दृष्टि से प्रतिबद्ध है। यदि मैं यह कहता हूं कि " 'क' को चोरी नहीं करनी नाहिए" तो मैं यह स्वीकार करने के लिए तकंतः प्रतिबद्ध हूं कि समान परिस्थितियों में किसी भी व्यक्ति को चोरी नहीं करनी चाहिए। अन्य सभी नैतिक निर्णयों के विषय में भी यही बीत मही जा कहती है। मकि हम पक्षपात परामर्शबादनिर्णय देता है तो वह यह स्वीकार करने के लिए अपने आपको ताकि दृष्टि से अनिवार्यतः प्रतिबद्ध करता है कि उसका वह नैतिक निर्णय समान परिस्थितियों में सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होगा जिनमें वह स्वयं भी सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, वह अपने नैतिक निर्णय को सार्वलौकिक निर्णय के रूप में स्वीकार करने के लिए ताकिक दृष्टि से प्रतिबद्ध है। यदि वह अपने नैतिक निर्णय को सार्वलौकिक निर्णय के रूप में स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होता तो उसके इस निर्णय को वास्तव में 'नैतिक निर्णय' की संज्ञा नहीं दी श्रा सकती । परामर्शवादियों के अनुसार सार्वलौकिकता का यह वा को तथ्यात्मक कथनों के समान वस्तुनिष्ठ बनाता है और साथ ही इन्हें सवे– मात्मक कथनों से भी पथक करता है। इस तत्त्व के अभाव में हम किसी भी कथन सभी नैतिक निर्णयों में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। यही तत्त्व इन निर्णयों ता के साथ–साथ सार्वलौकिकता को भी सभी नैतिक निर्णयों की अनिवार्य मूल विशेषता मानते हैं। इन निर्णयों में विद्यमान सार्वलौकिकता के इस तत्त्व को हम एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट कर

सकते हैं। यदि मैं यह कहता हूं कि "चोरी करना अनुचित है" तो मैं अपने इस नैतिक निर्णय द्वारा तार्किक दृष्टि से यह स्वीकार करने के लिए आपने आपको अनिवार्यतः प्रतिबद्ध करता है कि समान परिस्थितियों में सभी मनुष्यों के लिए – जिनमें मैं स्वयं भी सम्मि लित हूं–चोरी करना अनुचित है। यदि मैं यह स्वीकार नहीं करता तो मैं 'अनुचित' शब्द के सार्थक प्रयोग के लिए ताकिक नियमों का उल्लंघन करता हूं जिसके फलस्वरूप मेरे उपर्युक्त कथन को 'नैतिक निर्णय' नहीं माना जा सक्ता । परामर्शवादियों ने नैतिक निर्णयों में पाए जाने वाले सार्वलौकिकता के इस तत्त्व को विशेष महत्त्व दिया है, अतः हम इस तत्त्व के संबंध में उनके मत पर अगले खंडों में अधिक विस्तार से विचार करेंगे। यहां संक्षेप में इतना कह देना ही पर्याप्त है कि परामर्शवाद के अनुसार सार्वलौकिकता और परामर्शात्मकता ये दोनों ही नैतिक निर्णयों की अनिवार्य मूल विशेषताएं हैं जिनके अभाव में हम किसी कथन को 'नैतिक निणय' की संज्ञा नहीं दे सकते । अथवा किसी अन्य कारण से प्रेरित हो कर दो समान कर्मों या व्यक्तियों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देते हैं तो हम स्पष्ट रूप से सार्वलौकिकता के उपर्युक्त तार्किक नियम का उल्लंघन करते हैं। ऐसा करने से हमारे नैतिक निर्णयों में वैसी ही ताकिक असंगति आ जाती है जैसी एक ही वस्तु के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी वर्णनात्मक कथनों यथा, "वह वस्तु लाल है" और "वह बस्तु लाल नहीं है" में पाई जाती है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि सार्वलौकिकता के नियम के विषय में हेयर के उपर्युक्त मत पर कान्ट के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ग्राउंडवर्क ऑफ़ दि मैटाफ़िजिक ऑफ मॉरल्ज' में कान्ट ने अन्य नैतिक नियमों के साथ–साथ सार्वभौमिकता के नियम को भी अनिवार्य नियम के रूप में स्वीकार किया है। इस नियम की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि मैं कोई कर्म

करना चाहता हूं तो मुझे अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या अन्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें– अर्थात् क्या वह कर्म करना सार्वभौमिक नियम हो जाना चाहिए। वे ऐसे प्रत्येक कर्म को अनैतिक मानते हैं जो सार्व– भौनिकता के इस नियम के विरुद्ध है– अर्थात् जिसे करते समय व्यक्तिइस नियम का उल्लंघन करता है। हेयर मूलतः कान्ट के इसी नियम का समर्थन करते हैं इस सम्बन्ध में अपने विचारों पर कान्ट के प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है– "यह पूछना कि क्या इन परिस्थितियों में मुझे 'क' नामक कर्म करना चाहिए (एक छोटे–से, किन्तु महत्त्वपूर्ण, संशोधन के साथ कान्ट की भाषा का प्रयोग करते हुए) यह पूछना है कि क्या मैं यह इच्छा करता हूं कि ऐसी परिस्थितियों में 'क' नामक कर्म करना सार्वभौमिक नियम बन जाना चाहिए। इसी प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि उन परिस्थितियों में 'क' नामक कर्म करने के प्रति मैं किस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाना चाहूंगा। "21 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सार्वलौकिकता के नियम का प्रतिपादन करते हुए हेयर कान्ट के विचारों से प्रभावित अवश्य परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि हेपर के सार्वलौकिकता के नियम तथा काम्ट के सार्वभौमिकता के नियम में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में ये दोनों नियम पूर्णतः समान प्रतीत होते हुए भी एक– दूसरे से कुछ सीमा तक भिन्न हैं। कान्ट का नियम 'नैतिक नियम' है जिसके अनुसार हमें ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिए जिसे हम सार्वभौमिक नहीं बना सकते – अर्थात् जिसके सम्बन्ध में हम यह इच्छा नहीं करते कि अन्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें। यह नियम हमें पक्षपात अथवा किसी अन्य व्यक्तिगत कारण से प्रेरित होकर कोई भी कर्म न करने का नैतिक आदेश देता है। परन्तु हेयर का सार्वलौकिकता का नियम 'नैतिक नियम' न होकर वस्तुतः 'व्यकिक नियम' है। इस नियम के अनुसार सार्वलौकिकता का तत्त्व नैतिक शब्दों के अर्थ में

ही अनिवार्यतः निहित रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि सार्वलौकिकता के तत्त्व को स्वीकार किए बिना हम वर्णनात्मक शब्दों की भांति किसी भी नैतिक शब्द का सुसंगत एवं सार्थक प्रयोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार हम समान रंग बाली दो वस्तुओं में से एक को लाल और दूसरी को काली नहीं कह सक्ते ठीक उसी प्रकार हम समान गुणों वाले दो व्यक्तियों में से एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा नहीं कह सकते। हम देख चुके हैं कि इस दृष्टि से नैतिक शब्दों का अर्थ वर्णनात्मक शब्दों के समान ही है। वस्तुतः अपनी उपर्युक्त मान्यता के कारण ही हेयर ने अपने सार्वलौकिकता के नियम को 'तार्किक नियम' कहा है जिसका उल्लंघन करने से हमारे कथनों में अनिवार्यतः ताकिक असंगति उत्पन्न हो जाती है। यह नियम हमें कोई नैतिक आदेश नहीं देता, अपितु हमसे यह मांग करता है कि अपने कथनों की सार्थकता के लिए हमें इनमें तार्किक संगति अवश्य बनाए रखनी चाहिए। इस दृष्टि से हेयर का सार्वलौकिकता का नियम कान्ट के सार्व–भौमिकता के नियम से निश्चय ही भिन्न है। परन्तु इन दोनों नियमों में आधार–भूत समानता यह है कि ये दोनों ही हमारे ऐसे प्रत्येक कर्म को अनुचित मानते हैं जिसके विषय में हम यह इच्छा नहीं करते कि समान परिस्थितियों में अम्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें। वास्तव में इसी समानता के कारण कुछ दार्शनिकों ने हेयर के सार्वलौकिकता के नियम को भी कान्ट के सार्वभौमिकता के नियम के समान ही 'नैतिक नियम' मान लेने की भूल की है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, हेयर अपने इस नियम को 'नैतिक नियम' न मान कर 'ताकिक नियम' ही मानते हैं और इसी कारण उन्होंने इसे कान्ट के नियम से भिन्न नाम दिया है।

अपनी दूसरी पुस्तक 'फीडम ऍंड रीजन' में हेयर 'ने तार्किक नियम' के रूप में ही सार्वलौकिकता के नियम की विस्तृत व्याख्या की है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि "मैतिक निर्णय उसी प्रकार सार्वलौकिक होते हैं जिस प्रकार वर्णनात्मक निर्णय अर्थात् नैतिक कथनों तथा वर्णनात्मक कथनों दोनों का ही वर्णनात्मक अर्थ होता है; परन्तु जो सार्वभौमिक नियम नैतिक निर्णयों के इस वर्णनात्मक अर्थ को निर्धारित करते हैं वे केवल अर्थ सम्बन्धी नियम ही नहीं होते, अपितु महत्त्वपूर्ण नैतिक सिद्धांत होते हैं ताकिक सिद्धांत' से मेरा तात्पर्य शब्दों के अर्थ सम्बन्धी सिद्धांत से है। मैं यह मानता रहा हूं कि 'चाहिए' शब्द तथा अन्य नैतिक शब्दों का अर्थ इस प्रकार का होता है कि जो व्यक्ति उनका प्रयोग करता है वह इसके द्वारा अपने आपको सार्वभौमिक नियम का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध करता है। यही सार्वलौकिकता का सिद्धांत है।'''

सार्वलौकिकता के नियम का उल्लंघन करना ताकिक दोष है, नैतिक दोष नहीं। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'मुझे अमुक कर्म करना चाहिए, किन्तु अन्य किसी भी व्यक्ति को समान परिस्थितियों में वह कर्म नहीं करना चाहिए' तो मेरे सिद्धांत के अनुसार वह 'चाहिए' शब्द का दुरुपयोग कर रहा है; बह अप्रत्यक्षतः स्वयं अपना ही विरोध कर रहा है। सार्वलौकिकता का सिद्धांत हमे उन कर्मों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देने से रोकता है जिन्हें हम पूर्णतः समान मानते हैं। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि ऐसा करना ताकिक दृष्टि से दो असंगत निर्णय देना है। "22 हेवर द्वारा की गई सार्वलौकिकता के नियन की उपर्युक्त व्याख्या से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे इसे 'तातिक नियम' के रूप में ही स्वीकार करते हैं, अतः उनका यह नियम कान्ट के 'नैतिक नियम' से निश्चय ही भिन्न है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि अपने इस सार्वलौकिकता के ताकिक नियम के आधार पर ही हेयर नैतिक निर्णयों तथा आज्ञाओं में अन्तर स्पष्ट करते हैं। हम देख चुके हैं कि हेयर के मतानुसार प्रत्येक नैतिक निर्णय में परामर्श या आदेश अनिवार्यतः निहित रहता है जो इसे वर्णनात्मक कथनों से पृथक करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे नैतिक निर्णयों तथा आज्ञाओं अथवा आदेशों में कोई अन्तर नहीं मानते। वस्तुतः हेयर स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि सार्वलौकिकता का नियम नैतिक निर्णयों को आदेशों या आज्ञाओं है पुषस करता है। जब हम किसी व्यक्ति को कोई आदेश देते हैं तो हमारे लिए यह अनिवार्य नहीं है कि हम उसके समर्थन में सार्वलौकिकता के नियम पर आधारित कोई उचित कारण या तर्क प्रस्तुत करें। इस दृष्टि से हमारा श्रादेत पूर्णतः व्यक्तिगत हो सकता है जिसका सार्वलौकिक होना अनिवार्य नहीं है। परन्तु नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ये निर्णय अनिवार्यतः सार्वलौकिक होते हैं। हम देख चुके हैं कि हेयर के विचार में अब कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय देता है तो उसके लिए इस निर्णय को सार्वलौकिक निर्णय के रूप में स्वीकार करना अर्थात् इसे तमान परिस्थितियों में अन्य सभी व्यक्तियों पर लागू करने के लिए उद्यत होना–ताकिक वृष्टि से अनिवार्य है। उससे यह मांग करना पूर्णतः उचित होगा कि वह अपने नैतिक निर्णय के समर्थन में वस्तुनिष्ठ तर्क प्रस्तुत करे और ऐसा तर्क सार्वलौकिकता के नियम पर ही आधारित हो सकता है। नैतिक निर्णयों की यह अनिवार्य विशेषता उन्हें आज्ञाओं अथवा आदेशों से पृथक करती है। मुख्यतः इसी आधार पर नैतिक निर्णयों तथा आदेशों में अन्तर स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "सार्वलौकिकता की दृष्टि से 'चाहिए सम्बन्धी निर्णयों' को सामान्य आदेशों से पृथक करना और भी आवश्यक है। साधारण

आदेशों के लिए तर्क या कारण प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है, यद्यपि सामान्यतः ऐसे आदेशों के समर्थन में तर्क अवश्य दिए जाते हैं; परन्तु यदि 'चाहिए सम्बन्धी निर्णयों' के समर्थन में कारणों या तकों की मांग को अनावश्यक अथवा निरर्थक समझा जाता है तो अवश्य ही इन निर्णयों का दुरुपयोग किया जा रहा है। "23 इस प्रकार हेयर का मत है कि नैतिक निर्णय सार्वलौकिकता सम्बन्धी अपनी अनिवार्य विशेषता के कारण आज्ञाओं अथवा आदेशों से निश्चय ही भिन्न होते हैं।

अभी तक हमने मुख्यतः नैतिक शब्दों तथा नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप के विषय में हेयर के मत का विवेचन किया है। अब संक्षेप में इस महत्व–पूर्ण प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि उनके अनुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तों का स्वरूप, उद्देश्य तथा आधार क्या है। हम पहले ही इस तथ्य का उल्लेख कर चुके हैं कि हेयर नैतिक निर्णयों को मुख्यतः बौद्धिक निर्णय मानते हैं, भावनात्मक या संवेगात्मक कथन नहीं। उनका मत है कि नैतिक निर्णय देना निश्चय ही एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो संवेगात्मक अभिव्यक्ति की निबों द्धिक प्रक्रिया से भिन्न होती है। हम देख चुके हैं कि नैतिक निर्णयों द्वारा स्वयं अपना अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करना बौद्धिक कार्य है जिसका उचित तकों पर आधारित होना आवश्यक है। जब तुम नैतिक निर्णय देते हैं, तो हमसे यह मांग की जा सकती है कि हम अपने इन निर्णयों की पुष्टि के लिए उचित कारण या तर्क प्रस्तुत करें। यदि हम इस मांग को अनुचित मा अनावश्यक मान कर इसकी पूति नहीं करते तो हमारे निर्णयों को बास्तव में 'नैतिक निर्णय' नहीं कहा जा सकता। यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि हेयर के मतानुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने बाले तों का उद्देश्य स्वयं इन निर्णयों को ही उचित सिद्ध करना होता है, अन्य व्यक्तियों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना नहीं। इस सम्बन्ध में वे स्टीवैन्सन के मत को

पूर्णतः अस्वीकार करते हैं जिनके अनुसार दैतिक निर्णयों के पक्ष में दिए जाने वाले तकों का मुख्य उद्देश्य इन निर्णयों को इवित सिद्ध करने के स्थान पर अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करना ही होता है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन की इस मान्यता के कारण नैतिक विषेप मुख्यतः नियों द्विक हो जाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार नियों द्विक विधियों द्वारा हम दूसरों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को परिवर्तित अथवा प्रभावित कर सकते हैं। संवेगबाद की इसी समस्या को ध्यान में रखते हुए हेयर नैतिक निर्णयों तथा उनके लिए प्रस्तुत किए जाने वाले तों में मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध हे स्थान पर ताकिक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उन्होंने नैतिक निर्णयों के अर्थ की भांति इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के विषय में भी स्टीर्वन्सन के मत का खण्डन किया है।

हेयर का विचार है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्को का मुख्य आधार सार्वलोकिकता का नियम है। नैतिक निर्णयों के अनिवार्यतः सार्वलौकिक होने के कारण ही हम इन निर्णयों के सम्बन्ध में बौद्धिक तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। किसी कयन के तर्कसंगत होने के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें कोई तार्किक असंगति न हो। हम ऊपर देख चुके हैं कि नैतिक नियंवों में ताकिक दृष्टि से संगति बनाए रखने के लिए सार्वलौकिकता के नियम का पालन करना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय देते समय इस नियम का उल्लंघन करता है तो उसके निर्णय में अनिवार्यतः ताकिक असंगति उपम्त हो जाती है जिसके फलस्वरूप वह निर्णय ताकिक दृष्टि से दोषपूर्ण तथा बौद्धिक हो जाता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि अनेक व्यक्ति पक्षपात, पूर्वाग्रह पृणा अथवा शत्रुता के कारण पूर्णतः समान गुणों वाले व्यक्तियों या कर्मों के सम्वन्ध में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देते हैं। वे कोई उचित कारण बताए बिना केवल अपने पूर्वाग्रहों से प्रेरित होकर एक व्यक्ति के कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित और समान परिस्थितियों में

किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किए गए उसी कर्म की नैतिक दृष्टि से अनुचित कहते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों के पक्षपातपूर्ण तथा सार्वलौकिकता के नियम के विरुद्ध निर्णयों को तर्कसंगत नैतिक निर्णय नहीं माना जा सकता। इन व्यक्तियों को तार्किक दृष्टि से इस बात के लिए राष्य किया जा सकता है कि वे सार्वलौकिकता के नियम के अनुसार अपने नैतिक निर्णयों में आबश्यक संशोधन अथवा परिवर्तन करें। यदि वे ऐसा नहीं करते ही निश्चय ही उन्हें 'विवेकशील व्यक्ति' नहीं कहा जा सकता। इससे स्पष्ट है कि ईयर के विचार में सार्वलौकिकता का नियम ही नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत निर्णय बनाता है।

नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत सिद्ध करने की दृष्टि से सार्वलौकिकता के इस नियम की महत्त्व को स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "यदि कोई मनुष्य बन्य व्यक्तियों के कामों के विषय में स्वीकारात्मक नैतिक निर्णय देने के लिए तैयार है किन्तु स्वयं अपने कर्मों के सम्बन्ध में वह ऐसा नहीं करता तो हम उसदे पूछ सकते हैं कि वह किस सिद्धांत के आधार पर इन भिन्न–भिन्न मामलों में मेद करता है। यह सार्वलौकिकता की मांग का विशेष परिणाम है। उसे वा तो कोई ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत करना चाहिए जिसके आधार पर वह समान प्रतीत होने वाले मामलों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देता है अथवा उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि वह जो निर्णय दे रहा है वे नैतिक निर्णय नहीं है। परन्तु यदि वह यह स्वीकार करता है तो उसकी स्थिति ऐसे व्यक्ति की स्थिति के समान हो जाती है जो कोई भी नैतिक निर्णय नहीं देता। यदि हम यह देखते है कि कोई मनुष्य समान परिस्थितियों में अपने विषय में जो निर्णय देता है के दूसरों के विषय में दिए गए उसके निर्णयों से पूर्णतः भिन्न हैं तो हम उसे ताहिक दृष्टि से इस बात के लिए बाध्य कर सकते हैं कि या तो वह इन दोनों प्रकार के निर्णयों में से एक प्रकार के निर्णयों को अस्वीकार कर दे अथवा परिस्थितियों में अन्तर बताए।

"24 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हेयर के मतानुसार सार्वलौकिस्ता का नियम ही नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत निर्णय सिद्ध करने का मूल आधार है। यह नियम हमें बताता है कि नैतिक निर्णयों के लिए जो तर्क दिए जाते हैं उनका सार्वलौकिक होना अनिवार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जो तर्क मेरे किसी कर्म को उचित या अनुचित सिद्ध करता है वही तर्क समान परिस्थितियों में किसी भी अन्य व्यक्ति के उसी प्रकार के कर्म को भी अनिवार्यतः उचित अथवा अनुचित सिद्ध करता है। प्रत्येक नैतिक निर्णय के समर्थन में दिए जाने वाले वास्तविक तर्क में यह सार्वलौकिकता अनिवार्यतः निहित रहती है। इस प्रकार हेयर नैतिक निर्णयों के अर्थ के साथ–साथ उनके प्रमाणीकरण की दृष्टि से भी सार्वलौकिकता के नियम को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी यह मान्यता कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत अध्याय के अन्तिम खण्ड में विस्तार से विचार करेंगे ।

हेयर का कथन है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले सकों के लिए सार्वलौकिकता के अतिरिक्त अन्य तीन तत्त्वों का भी बहुत महत्व है। ये तीन तत्त्व हैं– (1) तथ्य, (2) दूसरों की इच्छाएं अथवा उनके हित और (3) निर्णयकर्ता की कल्पना। जब हम अपने किसी मैतिक निर्णय के समर्थन में कोई तर्क देते हैं तो हमारे लिए इन तीनों तत्त्वों की ओर उचित ध्यान देगा बावश्यक हो जाता है। सर्वप्रथम हमें उन विशेष तथ्यों पर विचार करना बाहिए जो उस समस्या से सम्बन्धित है जिसके विषय में हम नैतिक निर्णय देते है। इस समस्या से सम्बद्ध सभी आवश्यक तथ्यों पर ध्यान दिए बिना हम इसके सम्बन्ध में अपने नैतिक निर्णय की पुष्टि नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि किसी नैतिक निर्णय के समर्थन में दिया गया हमारा ऐसा प्रत्येक तर्क अप्रासंगिक तथा प्रभावहीन हो जाता है जो इन सम्बद्ध तथ्यों की उपेक्षा करता है। इस दृष्टि से

सभी सम्बद्ध तथ्यों पर विचार करना नैतिक तर्क की प्रभाव– शोलता के लिए अनिवार्य है।

हेयर का मत है कि संबद्ध तथ्यों के साथ–साथ हमें उन सभी व्यक्तियों की इच्छाजों तथा उनके हितों का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए जो हमारे नैतिक निर्णयों द्वारा प्रभावित होते हैं। हमारे नैतिक निर्णयों के लिए मनुष्य की इच्छाओं तया बावश्यकताओं का विशेष महत्त्व है, क्योंकि ये निर्णय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप ने इन इच्छाओं और आवश्यकताओं को अवश्य प्रभावित करते हैं। यदि दूसरों की इच्छाओं पर हमारे नैतिक निर्णयों का कोई प्रमाव न पड़ता तो हम ये निर्णय न देठे, क्योंकि ऐसी स्थिति में हमारे लिए ये निर्णय देना निरर्षक होता । इसके अतिरिक्त दूसरों की इच्छाओं तथा आवश्यकताबों की उपेक्षा करके हम बपने नैतिक निर्णयों को कभी भी सार्वलौकिक नहीं बना सकते। यही कारण है कि हेयर नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले तों के लिए मानवीय इच्छाओं और आवश्यकताओं को विशेष महत्त्व देते हैं।

उपर्युक्त दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त नैतिक तों के लिए निर्णयकर्ता की सत्पना को भी हेयर आवश्यक तत्त्व मानते हैं। उनके मतानुसार सार्वलौकिक नैतिक निर्णय देने के लिए यह आवश्यक है कि निर्णय देने बाला व्यक्ति स्वयं अपने बाप को दूसरों के स्थान पर रखने की कल्पना कर सके। अपनी कल्पना द्वारा वह इस बात का अनुमान लगा सकता है कि दूसरों के हितों पर उसके नैतिक निर्णयों का क्या प्रभाव पड़ेगा। इसके कारण अन्य व्यक्तियों के संबंध में यह ऐसा कोई नैतिक निर्णय नहीं देगा जो बह स्वयं अपने संबंध में देना पसंद महीं करता। इस प्रकार कल्पना संबंधी यह तत्त्व नैतिक निर्णयों की सार्ब सौकिकता के लिए निश्चय ही बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। संक्षेप में हेयर के अनुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले तकों के लिए सार्वभौकिकता के अतिरिक्त सभी

संबद्ध तथ्यों पर विचार करना, दूसरों की इच्छानों का ध्यान रखना तथा अपनी कल्पना द्वारा स्वयं अपने आप को दूसरों के स्थान पर रण कर संपूर्ण स्थिति को समझना –– ये छीनों तरण बहुत आवश्यक है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सभी तत्वों के साथ–साथ हेयर ने नैतिक सकों के लिए उच्च मानवीय आदर्शों के महत्व को भी स्वीकार किया है। उनका कथन है कि नैतिक निर्णय देते समय हम केवल मानवीय हितों और इच्छाओं का ही ध्यान नहीं रखते, अपितु कुछ महान बादशों पर भी विचार करते हैं। यह सत्य है कि हम प्रायः उन कमों को नैतिक दृष्टि से उचित मानते हैं जो मनुष्य के हित में सहायक होते हैं, किंतु हम सदा केवल इसी आधार पर कर्मों के औचित्य का निर्णय नहीं करते। इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कोई कर्म सभी संबद्ध पक्षों की इच्छाओं की पूति करने के कारण उनके लिए लाभदायक हो, किंतु वह किसी महान मानवीय आदर्श के विरुद्ध हो। ऐसे कर्म को निश्चय ही नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। अपनी इस मान्यता को हेयर ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि मान लीजिए एक रूपवती लड़की किसी क्लब में धनवान व्यापारियों के समक्ष निर्वसना होकर पर्याप्त धन कमा लेती है। अब इस प्रश्न पर विचार कीजिए कि क्या उसका यह कर्म नैतिक दृष्टि से उचित है। यह स्पष्ट है कि संबद्ध पक्षों की तृप्ति या इच्छा–पूति के आधार पर इस कर्म को अनुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे लड़की को धन और व्यापारियों को सुख मिलता है। फिर भी बहुत से व्यक्ति उसके इस कर्म को नैतिक दृष्टि से अनुचित और निदनीय मानेंगे, क्योंकि यह उस आदर्श के विरुद्ध है जिसके अनुसार नारी के शील अथवा सतीत्व को पवित्र माना जाता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि हम केवल लाभ अथवा उपयोगिता के आधार पर मानवीय कर्मों के औचित्य का निर्णय

नहीं कर सकते। किसी कर्म के विषय में अपना नैतिक निर्णय देते समय हमें संबद्ध पक्षों के लिए उसकी उपयोगिता के साथ–साथ इस प्रश्न पर भी विचार करना पड़ता है कि वह किसी महान आदर्श के विरुद्ध तो नहीं है। इस प्रकार हेयर का मत है कि हम उपयोगिता और आदर्श इन दोनों के आधार पर कर्मों के संबंध में नैतिक निर्णय देते हैं। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "कम से कम दो प्रकार के ऐसे आधार हैं जिन्हें ध्यान में रखते हुए कोई मनुष्य यह कह सकता है कि अमुक कर्म करना ही सर्वोत्तम है। इनमें से एक का संबंध हितों से है और दूसरे का आदर्शों से। यद्यपि इन दोनों प्रकार के आधारों में कुछ संबंध है, फिर भी इन्हें एक–दूसरे से पृथक रखना चाहिए। अपनी सामान्य भाषा में हम इन दोनों के लिए 'नैतिक' शब्द का प्रयोग करते हैं। "

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उपयोगिता तथा आदर्श में संघर्ष हो तो हमें इन दोनों में से किस का परित्याग करना चाहिए और किस को महत्त्व देना चाहिए । जहां तक मुझे ज्ञात है, हेयर ने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट तथा निश्चित उत्तर नहीं दिया। वे केवल इतना ही कहते हैं कि उपयोगिता और आदर्श ये दोनों ही कर्मों के औचित्य का निर्णय करने के लिए महत्त्वपूर्ण आधार हैं। उनका यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि हम इन दोनों के आधार पर अपने नैतिक निर्णयों को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परन्तु जब उपयोगिता तथा आदर्श में संघर्ष होता है और मनुष्य इन दोनों में से किसी एक के अनुसार ही आचरण कर सकता है तो उसे बहुत कठिन समस्या का सामना करना पड़ता है। इस समस्या का समाधान करने के लिए कुछ दार्शनिक केवल उपयोगिता को और कुछ अन्य दार्शनिक केवल आदर्श को ही मानवीय कमों के औचित्य का आधार स्वीकार करते हैं। हेयर के उपर्युक्त विचारों में यह स्पष्ट है कि वे इन दोनों प्रकार के दार्शनिकों के मत को एकांगी मानते हैं। परन्तु वे इस

कठिन समस्या का कोई संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके कि आदर्श तथा उपयोगिता में संघर्ष होने पर मनुष्य को इन दोनों में से रिस के अनुसार आचरण करना चाहिए। वस्तुतः मानव–स्वभाव की जटिलता और परिस्थितियों की विविधता को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि इस कठिन समस्या का कोई सर्वमान्य एवं पूर्णतः संतोषजनक समाधान प्रस्तुत करना संभव प्रतीत नहीं होता ।

5.3.3 पी. एच. नॉवेल स्मिथ

अथवा किसी अन्य कारण से प्रेरित हो कर दो समान कर्मों या व्यक्तियों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देते हैं तो हम स्पष्ट रूप से सार्वलौकिकता के उपर्युक्त तार्किक नियम का उल्लंघन करते हैं। ऐसा करने से हमारे नैतिक निर्णयों में वैसी ही ताकिक असंगति आ जाती है जैसी एक ही वस्तु के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी वर्णनात्मक कथनों यथा, "वह वस्तु लाल है" और "वह बस्तु लाल नहीं है" में पाई जाती है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि सार्वलौकिकता के नियम के विषय में हेयर के उपर्युक्त मत पर कान्ट के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ग्राउंडवर्क ऑफ़ दि मैटाफ़िजिक ऑफ मॉरल्ज' में कान्ट ने अन्य नैतिक नियमों के साथ–साथ सार्वभौमिकता के नियम को भी अनिवार्य नियम के रूप में स्वीकार किया है। इस नियम की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि मैं कोई कर्म करना चाहता हूं तो मुझे अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या अन्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें– अर्थात् क्या वह कर्म करना सार्वभौमिक नियम हो जाना चाहिए। वे ऐसे प्रत्येक कर्म को अनैतिक मानते हैं जो सार्व– भौनिकता के इस नियम के विरुद्ध है– अर्थात् जिसे करते समय व्यक्तिइस नियम का उल्लंघन करता है। हेयर मूलतः कान्ट के इसी नियम का समर्थन करते हैं इस सम्बन्ध में

अपने विचारों पर कान्ट के प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है– "यह पूछना कि क्या इन परिस्थितियों में मुझे 'क' नामक कर्म करना चाहिए (एक छोटे–से, किन्तु महत्त्वपूर्ण, संशोधन के साथ कान्ट की भाषा का प्रयोग करते हुए) यह पूछना है कि क्या मैं यह इच्छा करता हूं कि ऐसी परिस्थितियों में 'क' नामक कर्म करना सार्वभौमिक नियम बन जाना चाहिए। इसी प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि उन परिस्थितियों में 'क' नामक कर्म करने के प्रति मैं किस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाना चाहूंगा। "21 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सार्वलौकिकता के नियम का प्रतिपादन करते हुए हेयर कान्ट के विचारों से प्रभावित अवश्य परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि हेपर के सार्वलौकिकता के नियम तथा काम्ट के सार्वभौमिकता के नियम में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में ये दोनों नियम पूर्णतः समान प्रतीत होते हुए भी एक– दूसरे से कुछ सीमा तक भिन्न हैं। कान्ट का नियम 'नैतिक नियम' है जिसके अनुसार हमें ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिए जिसे हम सार्वभौमिक नहीं बना सकते – अर्थात् जिसके सम्बन्ध में हम यह इच्छा नहीं करते कि अन्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें। यह नियम हमें पक्षपात अथवा किसी अन्य व्यक्तिगत कारण से प्रेरित होकर कोई भी कर्म न करने का नैतिक आदेश देता है। परन्तु हेयर का सार्वलौकिकता का नियम 'नैतिक नियम' न होकर वस्तुतः 'व्यकिक नियम' है। इस नियम के अनुसार सार्वलौकिकता का तत्त्व नैतिक शब्दों के अर्थ में ही अनिवार्यतः निहित रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि सार्वलौकिकता के तत्त्व को स्वीकार किए बिना हम वर्णनात्मक शब्दों की भांति किसी भी नैतिक शब्द का सुसंगत एवं सार्थक प्रयोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार हम समान रंग बाली दो वस्तुओं में से एक को लाल और दूसरी को काली नहीं कह सक्ते ठीक उसी प्रकार हम समान गुणों वाले दो व्यक्तियों में से एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा

नहीं कह सकते। हम देख चुके हैं कि इस दृष्टि से नैतिक शब्दों का अर्थ वर्णनात्मक शब्दों के समान ही है। वस्तुतः अपनी उपर्युक्त मान्यता के कारण ही हेयर ने अपने सार्वलौकिकता के नियम को 'तार्किक नियम' कहा है जिसका उल्लंघन करने से हमारे कथनों में अनिवार्यतः ताकिक असंगति उत्पन्न हो जाती है। यह नियम हमें कोई नैतिक आदेश नहीं देता, अपितु हमसे यह मांग करता है कि अपने कथनों की सार्थकता के लिए हमें इनमें तार्किक संगति अवश्य बनाए रखनी चाहिए। इस दृष्टि से हेयर का सार्वलौकिकता का नियम कान्ट के सार्व–भौमिकता के नियम से निश्चय ही भिन्न है। परन्तु इन दोनों नियमों में आधार–भूत समानता यह है कि ये दोनों ही हमारे ऐसे प्रत्येक कर्म को अनुचित मानते हैं जिसके विषय में हम यह इच्छा नहीं करते कि समान परिस्थितियों में अम्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें। वास्तव में इसी समानता के कारण कुछ दार्शनिकों ने हेयर के सार्वलौकिकता के नियम को भी कान्ट के सार्वभौमिकता के नियम के समान ही 'नैतिक नियम' मान लेने की भूल की है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, हेयर अपने इस नियम को 'नैतिक नियम' न मान कर 'ताकिक नियम' ही मानते हैं और इसी कारण उन्होंने इसे कान्ट के नियम से भिन्न नाम दिया है।

अपनी दूसरी पुस्तक 'फीडम ऍड रीजन' में हेयर 'ने तार्किक नियम' के रूप में ही सार्वलौकिकता के नियम की विस्तृत व्याख्या की है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि "मैतिक निर्णय उसी प्रकार सार्वलौकिक होते हैं जिस प्रकार वर्णनात्मक निर्णय अर्थात् नैतिक कथनों तथा वर्णनात्मक कथनों दोनों का ही वर्णनात्मक अर्थ होता है; परन्तु जो सार्वभौमिक नियम नैतिक निर्णयों के इस वर्णनात्मक अर्थ को निर्धारित करते हैं वे केवल अर्थ सम्बन्धी नियम ही नहीं होते,

अपितु महत्त्वपूर्ण नैतिक सिद्धांत होते हैं ताकिक सिद्धांत' से मेरा तात्पर्य शब्दों के अर्थ सम्बन्धी सिद्धांत से है। मैं यह मानता रहा हूं कि 'चाहिए' शब्द तथा अन्य नैतिक शब्दों का अर्थ इस प्रकार का होता है कि जो व्यक्ति उनका प्रयोग करता है वह इसके द्वारा अपने आपको सार्वभौमिक नियम का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध करता है। यही सार्वलौकिकता का सिद्धांत है।'''

सार्वलौकिकता के नियम का उल्लंघन करना ताकिक दोष है, नैतिक दोष नहीं। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'मुझे अमुक कर्म करना चाहिए, किन्तु अन्य किसी भी व्यक्ति को समान परिस्थितियों में वह कर्म नहीं करना चाहिए' तो मेरे सिद्धांत के अनुसार वह 'चाहिए' शब्द का दुरुपयोग कर रहा है; बह अप्रत्यक्षतः स्वयं अपना ही विरोध कर रहा है। सार्वलौकिकता का सिद्धांत हमे उन कर्मों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देने से रोकता है जिन्हें हम पूर्णतः समान मानते हैं। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि ऐसा करना ताकिक दृष्टि से दो असंगत निर्णय देना है। "22 हेवर द्वारा की गई सार्वलौकिकता के नियन की उपर्युक्त व्याख्या से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे इसे 'तातिक नियम' के रूप में ही स्वीकार करते हैं, अतः उनका यह नियम कान्ट के 'नैतिक नियम' से निश्चय ही भिन्न है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि अपने इस सार्वलौकिकता के ताकिक नियम के आधार पर ही हेयर नैतिक निर्णयों तथा आज्ञाओं में अन्तर स्पष्ट करते हैं। हम देख चुके हैं कि हेयर के मतानुसार प्रत्येक नैतिक निर्णय में परामर्श या आदेश अनिवार्यतः निहित रहता है जो इसे वर्णनात्मक कथनों से पृथक करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे नैतिक निर्णयों तथा आज्ञाओं अथवा आदेशों में कोई अन्तर नहीं मानते। वस्तुतः हेयर स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि सार्वलौकिकता का नियम नैतिक निर्णयों को आदेशों या

आज्ञाओं है पुषस करता है। जब हम किसी व्यक्ति को कोई आदेश देते हैं तो हमारे लिए यह अनिवार्य नहीं है कि हम उसके समर्थन में सार्वलौकिकता के नियम पर आधारित कोई उचित कारण या तर्क प्रस्तुत करें। इस दृष्टि से हमारा श्रादेत पूर्णतः व्यक्तिगत हो सकता है जिसका सार्वलौकिक होना अनिवार्य नहीं है। परन्तु नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ये निर्णय अनिवार्यतः सार्वलौकिक होते हैं। हम देख चुके हैं कि हेयर के विचार में अब कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय देता है तो उसके लिए इस निर्णय को सार्वलौकिक निर्णय के रूप में स्वीकार करना अर्थात् इसे तमान परिस्थितियों में अन्य सभी व्यक्तियों पर लागू करने के लिए उद्यत होना–ताकिक वृष्टि से अनिवार्य है। उससे यह मांग करना पूर्णतः उचित होगा कि वह अपने नैतिक निर्णय के समर्थन में वस्तुनिष्ठ तर्क प्रस्तुत करे और ऐसा तर्क सार्वलौकिकता के नियम पर ही आधारित हो सकता है। नैतिक निर्णयों की यह अनिवार्य विशेषता उन्हें आज्ञाओं अथवा आदेशों से पृथक करती है। मुख्यतः इसी आधार पर नैतिक निर्णयों तथा आदेशों में अन्तर स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "सार्वलौकिकता की दृष्टि से 'चाहिए सम्बन्धी निर्णयों' को सामान्य आदेशों से पृथक करना और भी आवश्यक है। साधारण आदेशों के लिए तर्क या कारण प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है, यद्यपि सामान्यतः ऐसे आदेशों के समर्थन में तर्क अवश्य दिए जाते हैं; परन्तु यदि 'चाहिए सम्बन्धी निर्णयों' के समर्थन में कारणों या तकों की मांग को अनावश्यक अथवा निरर्थक समझा जाता है तो अवश्य ही इन निर्णयों का दुरुपयोग किया जा रहा है। "23 इस प्रकार हेयर का मत है कि नैतिक निर्णय सार्वलौकिकता सम्बन्धी अपनी अनिवार्य विशेषता के कारण आज्ञाओं अथवा आदेशों से निश्चय ही भिन्न होते हैं।

अभी तक हमने मुख्यतः नैतिक शब्दों तथा नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप के विषय में हेयर के मत का विवेचन किया है। अब संक्षेप में इस महत्व–

पूर्ण प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि उनके अनुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तों का स्वरूप, उद्देश्य तथा आधार क्या है। हम पहले ही इस तथ्य का उल्लेख कर चुके हैं कि हेयर नैतिक निर्णयों को मुख्यतः बौद्धिक निर्णय मानते हैं, भावनात्मक या संवेगात्मक कथन नहीं। उनका मत है कि नैतिक निर्णय देना निश्चय ही एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो संवेगात्मक अभिव्यक्ति की निबों द्धिक प्रक्रिया से भिन्न होती है। हम देख चुके हैं कि नैतिक निर्णयों द्वारा स्वयं अपना अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करना बौद्धिक कार्य है जिसका उचित तकों पर आधारित होना आवश्यक है। जब तुम नैतिक निर्णय देते हैं, तो हमसे यह मांग की जा सकती है कि हम अपने इन निर्णयों की पुष्टि के लिए उचित कारण या तर्क प्रस्तुत करें। यदि हम इस मांग को अनुचित मा अनावश्यक मान कर इसकी पूति नहीं करते तो हमारे निर्णयों को बास्तव में 'नैतिक निर्णय' नहीं कहा जा सकता। यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि हेयर के मतानुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने बाले तों का उद्देश्य स्वयं इन निर्णयों को ही उचित सिद्ध करना होता है, अन्य व्यक्तियों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना नहीं। इस सम्बन्ध में वे स्टीवैन्सन के मत को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं जिनके अनुसार दैतिक निर्णयों के पक्ष में दिए जाने वाले तकों का मुख्य उद्देश्य इन निर्णयों को इवित सिद्ध करने के स्थान पर अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करना ही होता है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन की इस मान्यता के कारण नैतिक विषेप मुख्यतः नियों द्धिक हो जाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार नियों द्धिक विधियों द्वारा हम दूसरों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को परिवर्तित अथवा प्रभावित कर सकते हैं। संवेगबाद की इसी समस्या को ध्यान में रखते हुए हेयर नैतिक निर्णयों तथा उनके लिए प्रस्तुत किए जाने वाले तों में मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध हे स्थान पर ताकिक सम्बन्ध स्वीकार करते

हैं। इस प्रकार उन्होंने नैतिक निर्णयों के अर्थ की भांति इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के विषय में भी स्टीर्वन्सन के मत का खण्डन किया है।

हेयर का विचार है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्को का मुख्य आधार सार्वलोकिकता का नियम है। नैतिक निर्णयों के अनिवार्यतः सार्वलौकिक होने के कारण ही हम इन निर्णयों के सम्बन्ध में बौद्धिक तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। किसी कयन के तर्कसंगत होने के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें कोई तार्किक असंगति न हो। हम ऊपर देख चुके हैं कि नैतिक नियंवों में ताकिक दृष्टि से संगति बनाए रखने के लिए सार्वलौकिकता के नियम का पालन करना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय देते समय इस नियम का उल्लंघन करता है तो उसके निर्णय में अनिवार्यतः ताकिक असंगति उपम्त हो जाती है जिसके फलस्वरूप वह निर्णय ताकिक दृष्टि से दोषपूर्ण तथा बौद्धिक हो जाता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि अनेक व्यक्ति पक्षपात, पूर्वाग्रह पृणा अथवा शत्रुता के कारण पूर्णतः समान गुणों वाले व्यक्तियों या कर्मों के सम्वन्ध में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देते हैं। वे कोई उचित कारण बताए बिना केवल अपने पूर्वाग्रहों से प्रेरित होकर एक व्यक्ति के कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित और समान परिस्थितियों में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किए गए उसी कर्म की नैतिक दृष्टि से अनुचित कहते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों के पक्षपातपूर्ण तथा सार्वलौकिकता के नियम के विरुद्ध निर्णयों को तर्कसंगत नैतिक निर्णय नहीं माना जा सकता। इन व्यक्तियों को तार्किक दृष्टि से इस बात के लिए राष्य किया जा सकता है कि वे सार्वलौकिकता के नियम के अनुसार अपने नैतिक निर्णयों में आबश्यक संशोधन अथवा परिवर्तन करें। यदि वे ऐसा नहीं करते ही निश्चय ही उन्हें 'विवेकशील व्यक्ति' नहीं कहा जा सकता। इससे स्पष्ट है कि ईयर के विचार में सार्वलौकिकता का नियम ही नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत निर्णय बनाता है।

नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत सिद्ध करने की दृष्टि से सार्वलौकिकता के इस नियम की महत्त्व को स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "यदि कोई मनुष्य बन्य व्यक्तियों के कामों के विषय में स्वीकारात्मक नैतिक निर्णय देने के लिए तैयार है किन्तु स्वयं अपने कर्मों के सम्बन्ध में वह ऐसा नहीं करता तो हम उसदे पूछ सकते हैं कि वह किस सिद्धांत के आधार पर इन भिन्न–भिन्न मामलों में मेद करता है। यह सार्वलौकिकता की मांग का विशेष परिणाम है। उसे वा तो कोई ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत करना चाहिए जिसके आधार पर वह समान प्रतीत होने वाले मामलों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देता है अथवा उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि वह जो निर्णय दे रहा है वे नैतिक निर्णय नहीं है। परन्तु यदि वह यह स्वीकार करता है तो उसकी स्थिति ऐसे व्यक्ति की स्थिति के समान हो जाती है जो कोई भी नैतिक निर्णय नहीं देता। यदि हम यह देखते है कि कोई मनुष्य समान परिस्थितियों में अपने विषय में जो निर्णय देता है के दूसरों के विषय में दिए गए उसके निर्णयों से पूर्णतः भिन्न हैं तो हम उसे ताहिक दृष्टि से इस बात के लिए बाध्य कर सकते हैं कि या तो वह इन दोनों प्रकार के निर्णयों में से एक प्रकार के निर्णयों को अस्वीकार कर दे अथवा परिस्थितियों में अन्तर बताए। "24 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हेयर के मतानुसार सार्वलौकिस्ता का नियम ही नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत निर्णय सिद्ध करने का मूल आधार है। यह नियम हमें बताता है कि नैतिक निर्णयों के लिए जो तर्क दिए जाते हैं उनका सार्वलौकिक होना अनिवार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जो तर्क मेरे किसी कर्म को उचित या अनुचित सिद्ध करता है वही तर्क समान परिस्थितियों में किसी भी अन्य व्यक्ति के उसी प्रकार के कर्म को भी अनिवार्यतः उचित अथवा अनुचित सिद्ध करता है। प्रत्येक नैतिक निर्णय के समर्थन में दिए जाने वाले वास्तविक तर्क में यह सार्वलौकिकता अनिवार्यतः निहित रहती है। इस प्रकार हेयर नैतिक निर्णयों के

अर्थ के साथ–साथ उनके प्रमाणीकरण की दृष्टि से भी सार्वलौकिकता के नियम को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी यह मान्यता कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत अध्याय के अन्तिम खण्ड में विस्तार से विचार करेंगे ।

हेयर का कथन है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले सकों के लिए सार्वलौकिकता के अतिरिक्त अन्य तीन तत्त्वों का भी बहुत महत्व है। ये तीन तत्त्व हैं– (1) तथ्य, (2) दूसरों की इच्छाएं अथवा उनके हित और (3) निर्णयकर्ता की कल्पना। जब हम अपने किसी मैतिक निर्णय के समर्थन में कोई तर्क देते हैं तो हमारे लिए इन तीनों तत्त्वों की ओर उचित ध्यान देगा बावश्यक हो जाता है। सर्वप्रथम हमें उन विशेष तथ्यों पर विचार करना बाहिए जो उस समस्या से सम्बन्धित है जिसके विषय में हम नैतिक निर्णय देते है। इस समस्या से सम्बद्ध सभी आवश्यक तथ्यों पर ध्यान दिए बिना हम इसके सम्बन्ध में अपने नैतिक निर्णय की पुष्टि नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि किसी नैतिक निर्णय के समर्थन में दिया गया हमारा ऐसा प्रत्येक तर्क अप्रासंगिक तथा प्रभावहीन हो जाता है जो इन सम्बद्ध तथ्यों की उपेक्षा करता है। इस दृष्टि से सभी सम्बद्ध तथ्यों पर विचार करना नैतिक तर्क की प्रभाव– शोलता के लिए अनिवार्य है।

हेयर का मत है कि संबद्ध तथ्यों के साथ–साथ हमें उन सभी व्यक्तियों की इच्छाजों तथा उनके हितों का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए जो हमारे नैतिक निर्णयों द्वारा प्रभावित होते हैं। हमारे नैतिक निर्णयों के लिए मनुष्य की इच्छाओं तया बावश्यकताओं का विशेष महत्त्व है, क्योंकि ये निर्णय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप ने इन इच्छाओं और आवश्यकताओं को अवश्य प्रभावित करते हैं। यदि दूसरों की इच्छाओं पर हमारे नैतिक निर्णयों का कोई प्रमाव न पड़ता तो हम ये निर्णय न

देठे, क्योंकि ऐसी स्थिति में हमारे लिए ये निर्णय देना निरर्षक होता । इसके अतिरिक्त दूसरों की इच्छाओं तथा आवश्यकताबों की उपेक्षा करके हम बपने नैतिक निर्णयों को कभी भी सार्वलौकिक नहीं बना सकते। यही कारण है कि हेयर नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले तों के लिए मानवीय इच्छाओं और आवश्यकताओं को विशेष महत्त्व देते हैं।

उपर्युक्त दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त नैतिक तों के लिए निर्णयकर्ता की सत्पना को भी हेयर आवश्यक तत्त्व मानते हैं। उनके मतानुसार सार्वलौकिक नैतिक निर्णय देने के लिए यह आवश्यक है कि निर्णय देने बाला व्यक्ति स्वयं अपने बाप को दूसरों के स्थान पर रखने की कल्पना कर सके। अपनी कल्पना द्वारा वह इस बात का अनुमान लगा सकता है कि दूसरों के हितों पर उसके नैतिक निर्णयों का क्या प्रभाव पड़ेगा। इसके कारण अन्य व्यक्तियों के संबंध में यह ऐसा कोई नैतिक निर्णय नहीं देगा जो बह स्वयं अपने संबंध में देना पसंद महीं करता। इस प्रकार कल्पना संबंधी यह तत्त्व नैतिक निर्णयों की सार्ब सौकिकता के लिए निश्चय ही बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। संक्षेप में हेयर के अनुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले तकों के लिए सार्वभौकिकता के अतिरिक्त सभी संबद्ध तथ्यों पर विचार करना, दूसरों की इच्छानों का ध्यान रखना तथा अपनी कल्पना द्वारा स्वयं अपने आप को दूसरों के स्थान पर रण कर संपूर्ण स्थिति को समझना —— ये छीनों तरण बहुत आवश्यक है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सभी तत्वों के साथ–साथ हेयर ने नैतिक सकों के लिए उच्च मानवीय आदर्शों के महत्व को भी स्वीकार किया है। उनका कथन है कि नैतिक निर्णय देते समय हम केवल मानवीय हितों और इच्छाओं का ही ध्यान नहीं रखते, अपितु कुछ महान बादशों पर भी विचार करते हैं। यह सत्य है कि हम प्रायः उन कमों को नैतिक दृष्टि से

उचित मानते हैं जो मनुष्य के हित में सहायक होते हैं, किंतु हम सदा केवल इसी आधार पर कर्मों के औचित्य का निर्णय नहीं करते। इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कोई कर्म सभी संबद्ध पक्षों की इच्छाओं की पूति करने के कारण उनके लिए लाभदायक हो, किंतु वह किसी महान मानवीय आदर्श के विरुद्ध हो। ऐसे कर्म को निश्चय ही नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। अपनी इस मान्यता को हेयर ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि मान लीजिए एक रूपवती लड़की किसी क्लब में धनवान व्यापारियों के समक्ष निर्वसना होकर पर्याप्त धन कमा लेती है। अब इस प्रश्न पर विचार कीजिए कि क्या उसका यह कर्म नैतिक दृष्टि से उचित है। यह स्पष्ट है कि संबद्ध पक्षों की तृप्ति या इच्छा–पूति के आधार पर इस कर्म को अनुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे लड़की को धन और व्यापारियों को सुख मिलता है। फिर भी बहुत से व्यक्ति उसके इस कर्म को नैतिक दृष्टि से अनुचित और निदनीय मानेंगे, क्योंकि यह उस आदर्श के विरुद्ध है जिसके अनुसार नारी के शील अथवा सतीत्व को पवित्र माना जाता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि हम केवल लाभ अथवा उपयोगिता के आधार पर मानवीय कर्मों के औचित्य का निर्णय नहीं कर सकते। किसी कर्म के विषय में अपना नैतिक निर्णय देते समय हमें संबद्ध पक्षों के लिए उसकी उपयोगिता के साथ–साथ इस प्रश्न पर भी विचार करना पड़ता है कि वह किसी महान आदर्श के विरुद्ध तो नहीं है। इस प्रकार हेयर का मत है कि हम उपयोगिता और आदर्श इन दोनों के आधार पर कर्मों के संबंध में नैतिक निर्णय देते हैं। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "कम से कम दो प्रकार के ऐसे आधार हैं जिन्हें ध्यान में रखते हुए कोई मनुष्य यह कह सकता है कि अमुक कर्म करना ही सर्वोत्तम है। इनमें से एक का संबंध हितों से है और दूसरे का आदर्शों से। यद्यपि इन दोनों प्रकार के आधारों में

कुछ संबंध है, फिर भी इन्हें एक–दूसरे से पृथक रखना चाहिए। अपनी सामान्य भाषा में हम इन दोनों के लिए 'नैतिक' शब्द का प्रयोग करते हैं। "

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उपयोगिता तथा आदर्श में संघर्ष हो तो हमें इन दोनों में से किस का परित्याग करना चाहिए और किस को महत्त्व देना चाहिए । जहां तक मुझे ज्ञात है, हेयर ने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट तथा निश्चित उत्तर नहीं दिया। वे केवल इतना ही कहते हैं कि उपयोगिता और आदर्श ये दोनों ही कर्मों के औचित्य का निर्णय करने के लिए महत्त्वपूर्ण आधार हैं। उनका यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि हम इन दोनों के आधार पर अपने नैतिक निर्णयों को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयास आर०एम० हेयर की भांति पी०एच० नावलस्मिथ भी नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के संबंध में एक ऐसे अवर्णनात्मक सिद्धांत का समर्थन करते हैं जो संवेगबाद से भिन्न है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि वे परामर्शबाद के समर्थक हैं, फिर भी नैतिक निर्णयों के अर्थ तथा प्रमाणीकरण के विषय में उनके विचारों को ध्यान में रखते हुए यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि उनका सिद्धांत हेयर के परामर्शवाद से मूलतः भिन्न नहीं है। नावलस्मिथ ने अपने इस सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या 'ऐथिक्स' नामक अपनी पुस्तक में की है जो 1954 में प्रकाशित हुई थी। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं के साथ–साथ मानकीय नीतिशास्त्रः के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों तथा उसकी कुछ आधारभूत समस्याओं का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस दृष्टि से उनकी यह पुस्तक कानेंप, एयर, स्टीवैन्सन, हेयर आदि दार्शनिकों की कृतियों को अपेक्षा अधिक व्यापक है। परन्तु यहां हम अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं के विषय में ही उनके विचार प्रस्तुत करेंगे ।

नावल स्मिथ नीतिशास्त्र को 'सैद्धांतिक विज्ञान' न मानकर ऐसा 'व्यावहारिक विज्ञान' मानते हैं जिसका मुख्य उद्देश्य आचरण के संबंध में मनुष्य का मार्गदर्शन करना है। अपनी उपर्युक्त पुस्तक 'ऐथिक्स' के कवर पर इसका परिचय देते हुए वे कहते हैं कि "इसका उद्देश्य उन शब्दों तथा अवधारणाओं का अध्ययन करना है जिनका प्रयो। हम व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर देने, निर्णय देने, परामर्श एवं चेतावनी देने और आचरण का मूल्यांकन करने के लिए करते हैं।" इसी प्रकार उक्त पुस्तक के अंत में नीतिशास्त्र के स्वरूप के विषय में अपना यही निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि "नैतिक दर्शन एक व्यावहारिक विज्ञान है। इसका उद्देश्य इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना है कि मुझे स्या करना चाहिए' ? परन्तु इस प्रकार के प्रश्नों का कोई सामान्य उत्तर नहीं दिया जा सकता। मुझे क्या करना चाहिए?' और 'मुझे किन नैतिक नियमों को स्वीकार करना चाहिए?' इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक मनुष्य को स्वयं ही देना होगा।"27 यहां यह उल्लेखनीय है कि नीतिशास्त्र के स्वरूप तथा उद्देश्य के संबंध में नावलस्मिथ का उपर्युक्त मत हेयर के मत से भिन्न नहीं है। जैसा कि हम पिछले खंड में देख चुके हैं, हेयर भी यह मानते हैं कि नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के इस व्यावहारिक प्रश्न का उत्तर देना है कि 'मुझे क्या करना चाहिए।' इस प्रकार नीतिशास्त्र तथा नैतिक भाषा के मूल उद्देश्य के विषय में नावलस्मिथ और हेयर का मत लगभग समान ही है।

इसके अतिरिक्त हेयर तथा अन्य अनेक दार्शनिकों के इस मत को भी नावलस्मिथ स्वीकार करते हैं कि अधि–नीतिशास्त्र के अंतर्गत हम नैतिक भाषा का जो अध्ययन और विश्लेषण करते हैं वह मानवीय आचरण की दृष्टि से तटस्थ होता है। इस प्रकार के अध्ययन तथा विश्लेषण का मनुष्य के आचरण पर प्रत्यक्षतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता । परन्तु, जैसा कि हम पिछले अध्यायों में बता

चुके हैं, नैतिक भाषा का अध्ययन और विश्लेषण मानकीय नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं तथा उसके सिद्धांतों को समझने में हमारे लिए बहुत सहायक सिद्ध होता है। इस दृष्टि से अधि–नीतिशास्त्र के अध्ययन के महत्त्व का उल्लेख करते हुए नावत स्मिथ कहते हैं कि "भाषा के प्रयोगों के अध्ययन से इस संबंध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते कि हमें क्या करना चाहिए, परन्तु इस प्रकार का शाध्ययन नैतिक समस्याओं के समाधान में अनेक प्रकार से सहायक हो सकता है और बौद्धिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्त्व है। उदाहरणार्थ यह हमारे लिए उस भाषा की जटिलता, व्यापकता एवं शुद्धता को स्पष्ट कर सकता है जिसका हम सभी दार्शनिक तथा सामान्य व्यक्ति– समान रूप से इस क्षेत्र में प्रयोग करते हैं। "28 इस प्रकार एयर, स्टीवैम्सन तथा हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह मानते हैं कि आचरण की दृष्टि से तटस्थ होते हुए भी अधि–नीतिशास्त्र समुष्य को नैतिक समस्याओं को समझने और उनके समाधान में अप्रत्यक्ष रूप से बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि नावलस्मिथ नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं प्रमाणी–करण के विषय में अवर्णनात्मक सिद्धांत को ही स्वीकार करते हैं। उनका विचार हैषि नैतिक भाषा तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक भाषा से भिन्न प्रकार की होती है, क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य किन्हीं तथ्यों का वर्णन मात्र करना नहीं, अपितु शाचरण के संबंध में मनुष्य का मार्गदर्शन करना ही होता है। इस दृष्टि से नैतिक भाषा का मनुष्य के आचरण के साथ अनिवार्य संबंध है और मुख्यतः यही तथ्य नीतिशास्त्र को 'व्यावहारिक विज्ञान' बनाता है तथा उसे सभी सैद्धांतिक विज्ञानों से पृथरु करता है। नैतिक भाषा के स्वरूप के विषय में अपनी इसी रामना को स्पष्ट करते हुए नावलस्मिथ कहते हैं कि "जिन मूल क्रियाओं के निए नैतिक भाषा का प्रयोग किया जाता है वे हैं चुनना तथा चुनने के संबंध में तिरों को परामर्श देना।

परम्परागत रूप से नैतिक दर्शन को सदा व्यावहारिक सिवान ही माना जाता रहा है। इसे 'विज्ञान' कहा जाता है, क्योंकि यह ज्ञान– गति के उद्देश्य से व्यवस्थित अध्ययन करता है; इसे 'व्यावहारिक' कहा जाता क्योंकि इसका उद्देश्य व्यावहारिक ज्ञान है जो हमें बताता है कि हमें क्या ५१ करना चाहिए। 29 नावलस्मिथ यह मानते हैं कि नैतिक भाषा के उक्त सर्वनात्मक स्वरूप की जान लेने से हमें अपने व्यावहारिक जीवन में नैतिक विनाओं को समझने और उनको समाधान करने में अवश्य सहायता मिलती है। हमारी भाषा में कुछ ऐसे वक्त हैं जिनका नैतिक प्रश्नों तथा समस्याकों में है। अशुभ, उचित', 'अनुचित', कर्त्तव्य 'मुल', 'दुःख', 'इच्छा', 'संकल्प', 'अंतश्चेतना', 'स्वैच्छिक', 'अनुमोदन', 'पश्चाताप', 'अपराधबोध' आदि शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नावल स्मिथ का कथन है कि जो व्यक्ति नैतिक समस्याओं से संबद्ध इन शब्दों का ठीक–ठीक अर्थ नहीं जानते वे वास्तव में नीतिशास्त्र से कुछ नहीं सीख सकते। 20 उनके इस कथन से यह स्पष्ट है कि वे हमारे व्यावहारिक जीवन में नैतिक समस्याओं के संतोषप्रद समाधान के लिए नैतिक भाषा के स्वरूप के समुचित ज्ञान को विशेष महत्त्व देते हैं।

अवर्णनात्मक सिद्धांत के समर्थक होने के कारण नावलस्मिथ भी एयर, स्टीवैन्सन तथा हेयर की भांति अंतःप्रज्ञावाद और प्रकृतिबाद इन दोनों वर्णनात्मक सिद्धांतों का खंडन करते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों के विरुद्ध उन्होंने जो आपत्तियाँ उठाई हैं वे हेयर द्वारा इन सिद्धान्तों के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों से भिन्न नहीं हैं। उदाहरणार्थ अंतःप्रज्ञावाद के विरुद्ध नावलस्मिथ की प्रथम आपत्ति यह है कि यह सिद्धान्त नैतिक भाषा तथा मानवीय आचरण के पारस्परिक सम्बन्ध की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता, क्योंकि यह इन दोनों में एक अलंघ्य खाई उत्पन्न कर देता है। सामान्यतः हम यह मानते हैं कि "अमुक कर्म मेरे लिए उचित

है" और "मुझे अमुक कर्म करना चाहिए" इन दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु अंतःप्रज्ञावाद के अनुसार "अमुक फर्म उचित है" का अर्थ यह है कि उस कर्म में 'औचित्य' नामक विशेष निर्प्राकृतिक गुण है जिसका बोष हमें प्रत्यक्षतः अंतःप्रशा द्वारा ही होता है। इसका अर्थ यही है कि "अमुक कर्म उचित है" यह बाक्य एक तथ्यात्मक कथन है जिससे हम कभी भी यह नैतिक निर्णय निगमित नहीं कर सकते कि "हमें बह कर्म करना चाहिए।" इस प्रकार प्रकृतिवाद की भांति अंतःप्रज्ञावाद भी नैतिक निर्णयों को केवल तथ्यात्मक कथन मान लेने के कारण इन निर्णयों तथा मानवीय आचरण में अलंध्य खाई उत्पन्न कर देता है जिसके फलस्वरूप वह इन दोनों के सम्बन्ध की समुचित व्याख्या करने में सफल नहीं हो पाता।

अंतःप्रज्ञावाद के विरुद्ध नावलस्मिथ की दूसरी आपत्ति यह है कि मह सिद्धान्त एक ही कर्म के विषय में दो परस्पर विरोधी नैतिक निर्णय देने वाले व्यक्तियों में संघर्ष को समाप्त करने के लिए हमें कोई संतोषप्रव उपाय नहीं बताता। इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति अपनी अंतःप्रज्ञा के आधार पर उस कर्म को उचित कहता है तथा दूसरा व्यक्ति अपनी अंतःप्रशा के आधार पर उसे अनुचित कहता है और इस सिद्धान्त के अनुसार अंतःप्रज्ञा के अतिरिक्त उचित–अनुचित सम्बन्धी नैतिक ज्ञान का अन्य कोई आधार नहीं है। नावलस्मिथ का कथन है कि यदि अंत. प्रज्ञावाद को स्वीकार कर लिया जाए तो इस प्रकार के मतभेद को समाप्त करने के लिए दूसरों की निदा अथवा शारीरिक शक्ति का प्रयोग करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता। "इस सम्बन्ध में आप चाहे कितने ही आश्वस्त हों कि आपका मत उचित है, फिर भी मैं आपकी अंतःप्रज्ञा के औचित्य को अस्वीकार कर सकता हूं। यदि मैं आपसे असहमत हूं तो आपको मुझ पर मिथ्यावादिता अथवा नैतिक दृष्टिहीनता का आरोप

लगाना पड़ेगा । परन्तु यह बात नितांत अनुचित है, क्योंकि हम उन लोगों की सत्यवादिता को भी प्रायः अवश्य स्वीकार करते हैं जिनके नैतिक विचार हमारे विचारों से भिन्न हैं। 31 अंतः प्रज्ञाबाद के विरुद्ध नावलस्मिथ ने तर जो दो आपत्तियां उठाई हैं उन पर हम चौथे अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं, अतः यहां इन आपत्तियों की अधिक विस्तृत विवेचना न करते हुए इतना कह देना ही पर्याप्त है कि इस सिद्धान्त के विरुद्ध उनकी ये दोनों बापत्तियां उचित एवं युक्तिसंगत हैं।

अंतःप्रज्ञाबाद की भांति प्रकृतिवाद का भी नावलस्मिथ ने खंडन किया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध भी उनकी मुख्य आपत्ति वही है जो हेयर ने उठाई है और जिस पर हम पिछले खंड में विचार कर चुके हैं। हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह मानते हैं कि नैतिक शब्दों का मुख्य कार्य मूल्यांकन अथवा मार्गदर्शन करना ही है, बतः तथ्यात्मक शब्दों के आधार पर इन शब्दों की परिभाषा नहीं की जा सकती। यदि हम नैतिक शब्दों और तथ्यात्मक शब्दों को समानार्थक मान लेते है तो हम नेतिक शब्दों के प्रयोग द्वारा मूल्यांकन तथा मार्गदर्शन सम्बन्धी यह कार्य संपन्न नहीं कर सकते। हेयर के समान ही नावलस्मिय भी यह स्वीकार करते हैं कि जब हम किसी वस्तु को शुभ कहते हैं तो हम उस वस्तु में विद्यमान कुछ गुणों के कारण ही उसे शुभ कहते हैं और यह अनुभव तथा निरीक्षण द्वारा आशना जा सकता है कि उस वस्तु में वे गुण हैं या नहीं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस बस्तु को शुभ कहना उसके उन गुणों का वर्णन मात्र करने के समान ही है। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु को शुभ कहना उसके विषय में मूल्यात्मक निर्णय देना है, जबकि उसके गुणों का वर्णन करना उसके सम्बन्ध में केवल कुछ तथ्य प्रस्तुत करना है और ये दोनों प्रक्रियाएँ एक–दूसरे से बहुत भिन्न है। इसी कारण नावलस्मिथ यह कहते हैं कि "अमुक बस्तु शुभ है" इस मूल्या–

त्मक निर्णय का अर्थ हुम उन विशेष गुणों को जाने बिना भी समझ सकते हैं जो उस बस्तु को शुम बनाते हैं अथवा जिनके कारण हम उसे शुम कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि "अमुक बस्तु शुभ है" और "अमुक बस्तु में क, ख, ग नामक गुण हैं" ये दोनों कथन कभी भी समानार्थक नहीं हो सकते। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि नायलस्मिथ भी मुख्यतः उसी तर्क के आधार पर प्रकृति–बाद का खंडन करते हैं जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध हेयर ने प्रस्तुत किया है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि बंतःप्रज्ञावाद तथा प्रकृतिवाद के साथ–साथ संवेगवाद को भी नाक्लस्मिथ ने अस्वीकार किया है। हेयर की भाँति वे भी यह मानते हैं कि नैतिक निर्णय भावनाओं या संवेगों की अभिव्यक्तियां मात्र न होकर बास्तव में बौद्धिक कथन हैं जिनके समर्थन में तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। नावलस्मिथ का कथन है कि सामान्यतः हम नैतिक निर्णयों को सत्य अथवा मिथ्या कहते हैं और हम यह भी स्वीकार करते हैं कि ये निर्णय देते ममय हम भूल कर सकते हैं। हम कभी–कभी यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने गलत नैतिक निर्णय दिया है और अपने इस कथन के लिए हम तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। नावलस्मिथ के मतानुसार इन सभी तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि नैनिक निर्णय हमारी संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं मात्र नहीं हैं। संवेगबाद के विरुद्ध अपनी इसी आपत्ति को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है– "यह एक तथ्य है कि नैतिक मामलों के विषय में हम केवल संवेग तथा व्यक्तिगत रुचि की ही बात नहीं करते, अपितु हम सत्य एवं मिथ्या, विचार तथा ज्ञान, सही और गलत की भी बात करते हैं और यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी व्याख्या अवश्य की जानी चाहिए। कभी–कभी यह कहा जाता है कि नैतिक वाक्यों का कार्य प्रवर्तक' अथवा 'संवेगात्मक' है और र उनका प्रयोग संवेगों या अभिवृत्तियों को जागृत करने बगवा लोगों से कुछ करवाने के लिए किया जाता है। प्रभावित करना तथा मनाना ऐसी क्रियाएं हैं जिन्हें हम शब्दों

द्वारा या शब्दों के बिना भी कर सकते हैं और नैतिक भाषा को समझने के लिए इन्हें आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है। संवेगात्मक सिद्धान्त नैतिक भाषा की गलत व्याख्या करता है।" यह समभला कठिन नहीं है कि संवेगवाद के विरुद्ध नावलस्मिथ की उपर्युक्त आपत्ति लगभग वही है जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध हेयर ने उठाई है और जिस पर हम पिछले खंड में विचार कर चुके हैं। हेयर की भांति उन्होंने भी मुख्यतः इमी बापत्ति के जाधार पर संबैजवाद का खंडन किया है।

प्र—तिबाद, अंतःप्रज्ञावाद तथा संवेगवाद इन तीनों सिद्धान्तों के विषय में नावतस्मिथ के उपर्युक्त विचारों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे नैतिक निर्णयों को न तो वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक कथन मानते हैं और न संवेगात्मक अभि–व्यस्तियां। ऐसी स्थिति में यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उनके अनुसार इन निर्णयों का वास्तविक स्वरूप क्या है। संभवतः यह कहना बनुचित न होगा कि अपनी पुस्तक 'ऐथिक्स' में नावलस्मिथ ने मुख्यतः इसी प्रश्न का विस्तारपूर्वक उत्तर देने का प्रयास किया है। उनका मत है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक कथनों तथा संवेगात्मक अभिव्यक्तियों दोनों से निश्चय ही भिन्न हैं, किन्तु नैतिक निर्णयों में इन दोनों के कुछ तत्त्व अवश्य विद्यमान रहते हैं। तथ्यात्मक कथनों की भांति नैतिक निर्णयों के विषय में भी हम वस्तुपरक भाषा का प्रयोग करते हैं और इन निर्णयों को सत्य अथवा मिथ्या कहते हैं। यह तथ्य नैतिक निर्णयों को संवेगात्मक वाक्यों से पृथक करता है। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, वे निर्णय तथ्यात्मक कथनों की भांति वर्णनात्मक भी नहीं है, क्योंकि ये किन्हीं तथ्यों का वर्णन मात्र न करके मनुष्य के आचरण का मूल्यांकन तथा मार्गदर्शन करते हैं। इस प्रकार नावलस्मिथ का विचार है कि नैतिक निर्णय वास्तव में तम्यात्मक कथनों तथा संवेगात्मक अभिव्यक्तियों का मिश्रित रूप है, किन्तु वे निर्णय इन दोनों

से अवश्य ही भिन्न हैं। हम आगे देखेंगे कि उन्होंने अपनी इसी मान्यता के बाबार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप की व्याख्या की हैजो हेवर द्वारा की गई इन निर्णयों की व्याख्या से अधिक भिन्न नहीं है।

हेबर की भांति नावलस्मिथ भो मुख्यतः शब्दार्य विषयक उपयोग सिद्धान्त के आधार पर ही नैतिक निर्णयों तथा शब्दों के अर्थ की व्याख्या करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि किसी शब्द का ठीक–ठीक वर्ष समझने के लिए यह जानना बावश्यक है कि किसी विशेष प्रसंग में उस शब्द का उपयोग किस प्रकार किया बाता है। इस सम्वन्ध में स्टीवेन्सन तथा हेयर की भांति नावलस्मिथ ने भी सब्दार्य सम्बन्धी निर्देशात्मक सिद्धान्त को बस्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध उनका कथन है कि सभी शब्द– विशेषतः विशेषण हमें किन्हीं गुणों का बोध नहीं कराते। हमारी भाषा में बहुत–से शब्द ऐसे हैं जो बास्तव में बस्वों के गुणों का वर्णन नहीं करते। स्पष्ट है कि ऐसे शब्दों के अर्थ की व्याख्या निर्देशात्मक सिद्धान्त द्वारा नहीं की जा सकती। यही कारण है कि नावलस्थिय से इस सिद्धान्त की दो बाधारभूत मान्यताबों को बस्वीकार किया है। इसकी स्वर मान्यता यह है कि सभी विशेषण गुणों के नाम है और उनका कार्य अनिवार्यतः कुछ गुणों का वर्णन करना ही है। इस सिद्धान्त की दूसरी मान्यता – जो प्रथम मान्यता के साथ अनिवार्यतः संबद्ध है– यह है कि "कोई व्यक्ति किसी शब्द का क्या अर्थ समझता है" यह पूछने के स्थान पर हम यह पूछ सकते हैं कि "किसी शब्द का अर्थ क्या है।" निर्देशात्मक सिद्धान्त की प्रथम मान्यता के विषय में नावलस्मिथ ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या सभी विशेषण गुणबोधक हैं। इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हुए वे कहते हैं– "यह कहना कि शुभत्व एक गुण है हमें इस विवादास्पद कथन को स्वीकार करने के लिए बाध्य करना है कि 'शुभ' का प्रयोग भी उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार 'नीला', 'तीव्र' तथा 'गोल'

का ।" वस्तुतः नावलस्मिथ के विचार में 'शुभ', 'उचित' आदि मूल्यात्मक शब्द किन्हीं विशेष प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुणों का वर्णन नहीं करते, अतः इन शब्दों को वर्णनात्मक शब्दों की भांति गुणबोधक मानकर इनके अर्थ की व्याख्या नहीं की जा सकती। इसी कारण वे निर्देशात्मक सिद्धान्त की प्रथम मान्यता को अस्वीकार करते हैं। इस सिद्धान्त की दूसरी मान्यता भी मूलतः प्रथम मान्यता पर ही आधारित है, अतः इसे भी नावलस्मिथ उचित नहीं मानते। उनका विचार है कि यह मान्यता भाषा के उपयोग की उपेक्षा करती है। इसी आधार पर निर्देशात्मक सिद्धांत की दूसरी मान्यता को अस्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि 'किसी शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के स्थान पर मैं दो प्रश्न प्रस्तुत करना चाहूंगा– 'किस कार्य के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है?' और 'किन परिस्थितियों में उस कार्य के लिए इस शब्द का प्रयोग करना उचित है?' "36 इस प्रकार नावलस्मिथ यह मानते हैं कि प्रसंगानुसार प्रत्येक शब्द के उपयोग द्वारा ही उसका ठीक–ठीक अर्थ निश्चित किया जा सकता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि नावलस्मिथ के विचार में कोई भी शब्द सभी प्रसंगों में केवल एक ही कार्य नहीं करता। हमारी भाषा में अधिकतर शब्द ऐसे ही हैं जो विभिन्न प्रसंगों में भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी शब्द का सभी प्रसंगों में एक ही निश्चित अर्थ बताना न तो संभव है और न उचित । प्रत्येक शब्द का अर्थ किसी विशेष प्रसंग में उसके उपयोग को ध्यान में रखकर ही निश्चित किया जा सकता है। भाषा–विश्लेषण करने वाले दार्शनिक का कार्य प्रसंगानुसार कथनों के उपयोग के आधार पर उनका अर्थ स्पष्ट करना है। अपनी इसी मान्यता के कारण नावलस्मिथ ने नैतिक निर्णयों के अर्थ की

व्याख्या करने के लिए भी उपयोग–सिद्धांत को ही स्वीकार किया है। उनका मत परामर्शबाद है कि ये निर्णय सभी प्रसंगों में एक ही प्रकार का कार्य

नहीं करते, अतः इनका कोई एक अर्थ नहीं हो सकता । वस्तुतः ये निर्णय बहु–उद्देश्यीय होते हैं, क्योंकि विभिन्न प्रसंगों में ये भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। इसी उपयोग–सिद्धांत के आधार पर नैतिक निर्णयों के व्यापक अर्थ की व्याख्या करते हुए नावलस्मिथ रुहते हैं कि "सर्वाधिक प्रचलित व्यावहारिक शब्दों का कोई एक ही उपयोग नहीं होता। उनके बहुत से उपयोग होते हैं और किसी भी अवसर पर एक से अधिक कायों के लिए उनका प्रयोग किया जा सकता है। जिन शब्दों के साथ नीति– शास्त्रियों का विशेष संबंध है और जिन्हें सामान्यतः 'मूल्यात्मक शब्द' कहा जाता है वे बहुत–सी भिन्न–भिन्न भूमिकाएं निभाते हैं। उनका प्रयोग वैयक्तिक रुचियों एवं प्राथमिकताओं को व्यक्त करने, निर्णयों तथा पसंद को व्यक्त करने, आलोचना करने, मूल्यांकन करने, परामर्श देने, भर्त्सना करने, चेतावनी देने, मनाने तथा रोकने, प्रशंसा करने, प्रोत्साहित करने, निदा करने, नियमों को घोषित करने तथा उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करने और निस्संदेह जमा उद्देश्यों के लिए भी किया जाता है। ये क्रियाएं नैतिक भाषा के जटिल ढांचे का निर्माण करती है और हमारी समस्या इनमें संबंध खोजना है तथा यह समभाना है कि एक ही शब्द का प्रयोग इन सब भिन्न–भिन्न क्रियाओं के लिए किस प्रकार किया जा सकता है। कोई मनुष्य किसी विशेष समय पर किती विशेष मूल्यात्मक शब्द का प्रयोग सिम अर्थ में कर रहा है यह इस बात की परीक्षा करके ही मालूम किया जा सकता है कि वह किसी विशेष प्रसंग में उसके द्वारा क्या कहता है।"37 गावलस्मिथ के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार नैतिक भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है और इसका प्रयोग विभिन्न प्रसगों में भिन्न–भिन्न उद्देश्यों के लिए किया जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं होगा कि नैतिक भाषा वर्णनात्मक, संवेगात्मक या आदेशात्मक है अथवा वह सभी प्रसंगों में कोई एक ही कार्य संपन्न करती है। नैतिक भाषा के संबंध में

नावलस्मिथ की इस मान्यता के कारण कुछ दार्शनिकों ने उनके सिद्धांत को 'बहुक्रियावाद' की संज्ञा दी है। 8 नैतिक भाषा के अर्थ और स्वरूप के विषय में नावलस्मिय का यह अशुक्रियावाद कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है इस प्रश्न पर हम अगले खंड में विचार करेंगे।

स्टीर्बन्सन तथा हेयर की भांति नावलस्मिथ ने भी 'शुभ' या 'अच्छा', अषित', 'कर्तव्य', 'बाहिए' आदि प्रमुख नैतिक शब्दों के अर्थ का विस्तृत विवे–चन किया है। हेयर के समान ही वे भी उपयोग–सिद्धांत के आधार पर ही इन नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या करते हैं। 'शुभ' अथवा 'अच्छा' शब्द के संबंध में नावलस्मिथ का कथन है कि इस शब्द का कोई एक ही अर्थ नहीं है, क्योंकि विभिन्न प्रसंगों में वा एक ही प्रसंग में इसका प्रयोग एक से अधिक अर्थों में किया जाता है। सर्वप्रथम हम चुनने की क्रिया के संदर्भ में 'शुभ' शब्द का प्रयोग करते हैं। जब हम अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को चुनते हैं अथवा बुनना चाहते हैं तो हम अनिवार्यतः उसे शुभ कहते हैं। हमारे लिए यह कहना निश्चय ही बहुत विचित्र होगा कि "हम अमुक वस्तु को चुनना चाहते हैं, किन्तु यह वस्तु शुभ या अच्छी नहीं है"। इसका कारण यह है कि हम सामान्यतः उसी वस्तु को चुनते हैं जिसे हम अच्छी मानते हैं। इस प्रकार नावलस्मिथ के विचार में चुनने की क्रिया के साथ 'शुभ' का अनिवार्य संबंध है। इसके अतिरिक्त दूसरों को परामर्श देने की क्रिया के साथ भी वे 'शुभ' का अनिवार्य संबंध स्वीकार करते है। जब हम किसी को कोई कर्म करने का परामर्श देते हैं तो हम निश्चय ही उस कर्म को शुभ या अच्छा मानते हैं। यदि हम किसी व्यक्ति से यह कहते हैं कि "तुम्हें अमुक कर्म करना चाहिए, कितु वह कर्म शुभ नहीं है" तो सामान्यतः हमारे इस कथन को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। इससे यही सिद्ध होता है कि परामर्श देने की क्रिया के साथ भी 'शुभ' का अनिवार्य संबंध है।

वस्तुतः नावलस्मिय यह मानते हैं कि जब हम किसी वस्तु के विषय में 'शुभ' या 'अच्छी' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम उसके प्रति अनिवार्यतः अपना अनु– मोदन अभिव्यक्त करते हैं और हमारा यह अनुमोदन चुनने तथा परामर्श देने की क्रियाओं के साथ अवश्य संबद्ध रहता है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर 'शुभ' के अर्थ की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "किसी वस्तु को शुभ कहना एक प्रकार से उसके पक्ष में मत देना है; उसका समर्थन करना है; दूसरों को यह बताना है कि मेरा मत क्या है? परन्तु यह इसके अतिरिक्त कुछ और भी है। इसका अर्थ यह है कि मैंने जो मत दिया है उसके लिए मेरे पास कारण हैं। चुनने के संदर्भ में 'शुभ' का प्रयोग करने के लिए जो कारण दिये जाते हैं वे परामर्श के संदर्भ में भी समान रूप से लागू होते हैं। यह अच्छा है, किंतु मैं तुम्हें इसे करने का परामर्श नहीं देता' यह कहना उसी प्रकार अयुक्तिसंगत है जिस प्रकार यह कहना कि 'यह सर्वोत्तम कर्म है, किंतु क्या मैं इसे करूं? 39 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नावलस्मिथ वक्ता के अनुमोदन की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त चुमने तथा परामर्श देने की क्रियाओं के साथ भी 'शुभ' को अनिवार्यतः संबद्ध मानते हैं।

हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह स्वीकार करते हैं कि 'शुभ' का मुख्य अर्थ मूल्यात्मक या प्रशंसात्मक तथा उसका गौण अर्थ वर्णनात्मक होता है। 'ईमानदार', 'साहसी', 'उदार' आदि सद्‌गुण सम्बन्धी शब्दों के समान ही 'शुभ' का प्रयोग भी हम मुख्यतः प्रशंसात्मक अर्थ में करते हैं। परन्तु नावलस्मिथ के अनुसार 'शुभ' तथा अन्य सद्‌गुण संबंधी शब्दों के प्रशंसात्मक अर्थ में एक महत्व– पूर्ण अंतर होता है। अब हम अन्य सद्‌गुण सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग करते हैं तो इन शब्दों के अर्थ में ही हमारी प्रशंसा का कारण भी स्पष्टतः विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ जब हम किसी मनुष्य को 'साहसी' या 'उदार' कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो दूसरा व्यक्ति तुरन्त यह जान लेता है कि हम उस मनुष्य के विस

इकार के आचरण के कारण उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि इन सद्‌गुण सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग मनुष्य के किसी एक प्रकार के प्रशंस– वीय आवरण के लिए ही किया जाता है, अतः इनका वर्णनात्मक अर्थ स्पष्ट और निश्चित होता है। परन्तु 'शुभ' के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब हम किसी वस्तु को शुभ कहते हैं तो इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि हम उस वस्तु के किस गुण अथवा किन गुणों के कारण उसकी प्रशंसा कर रहे हैं, थोंकि 'शुभ' शब्द का वर्णनात्मक अर्थ प्रसंगानुसार परिवर्तित होते रहने के कारण बहुत ही अस्पष्ट तथा अनिश्चित होता है। यदि मैं यह कहता हूं कि "अमुक बस्तु शुभ है" तो मेरे इस कथन से दूसरा व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि मैं उस वस्तु को शुभ क्यों कह रहा हूं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे उस बन्तु के उन गुणों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करना होगा जिनके कारण मैं उसे शुभ कहता हूं। इस दृ ष्टि से 'शुभ' शब्द अन्य सद्‌गुण संबंधी शब्दों से भिन्न प्रहार का है।

परन्तु हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह मानते है कि प्रशंसात्मक अर्थ के साथ–साथ प्रत्येक प्रसंग में 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ भी अवश्य होता है। जब हम पिसी बस्तु को शुभ कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो हमारी यह प्रशंसा अकारण नहीं होती। हम इस प्रश्न को उचित मानते हैं और इसका उत्तर देने के लिए भी तैयार रहते हैं कि उस वस्तु के किन गुणों के कारण हम उसे शुभ कहते हैं। बस्तु के इन गुणों में ही 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ विद्यमान रहता है। गुन' के इस वर्णनात्मक अर्थ की व्याख्या नावलस्मिथ ने इस प्रकार की है– "जब हम किसी बस्तु को शुभ कहते हैं तो हम सदैब उसके किसी गुण के कारण ही उसे शुभ कहते हैं और इस प्रश्न का उत्तर अनुभव द्वारा दिया जा सकता है कि उसमें यह गुण है या नहीं। अच्छे चाकू' का अर्थ यह है कि उसमें वे गुण है जो अपना कार्य भली–भांति करने के लिए चाकू में अवश्य होने चाहिएं। "५० 'शुभ' के संबंध

में 'आक्सफोर्ड शब्दकोश' की परिभाषा को स्वीकर करते हुए नावलस्मिथ कहते हैं कि 'शुभ' शब्द वस्तु के जिन गुणों की ओर संकेत करता है वे या तो अपने आप में प्रशंसनीय होते हैं अथवा वे किसी विशेष उद्देश्य की पूति के लिए आवश्यक होते हैं। इस प्रकार 'शुभ' के प्रशंसात्मक अर्थ तथा वर्ण– नात्मक अर्थ के स्वरूप और महत्त्व के विषय में नावलस्मिथ का मत हेयर के मत के समान ही है।

नावलस्मिथ हेयर के इस मत का भी समर्थन करते हैं कि नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' का अर्थ निर्नेतिक प्रसंगों में इसके अर्थ से मूलतः भिन्न नहीं होता। नावलस्मिथ के गतानुसार दोनों प्रसंगों में 'शुभ' शब्द बक्ता के अनुमोदन को अवश्य अभिव्यक्त करता है। परन्तु हेवर की भांति उनका कथन है कि नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' के साथ चुनने और परामर्श देने की क्रियाएं अनिवार्यतः संबद्ध रहती हैं। इसी कारण यह कहना बहुत ही अयुक्तिसंगत प्रतीत होता है कि "अमुक कर्म नैतिक दृष्टि से शुभ है, किंतु मैं उसे नहीं करूंगा अथवा आप उसे न कीजिए।" नावलस्मिथ यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी गार्ग के प्रति अनुमोदन का अनुभव किए बिना हम उसे शुभ नहीं कह सकते। 41 हम ऊपर देख चुके हैं कि किसी भी वस्तु को शुभ या अच्छी कहने का अर्थ यह है कि हम उसकी प्रशंसा करते हैं– अर्थात् उसके प्रति हम अपना अनुमोदन अभिव्यक्त करते हैं। स्पष्ट है कि इस दृष्टि से नैतिक तथा निर्नेतिक प्रसंगों में 'शुभ' के अर्थ में कोई आधारभूत अंतर नहीं है। हेयर के समान ही नॉवलस्मिथ का भी मत है कि जब हम नैतिक निर्णयों में 'शुभ' का प्रयोग करते हैं तो इन निर्णयों का सार्वलौकिक होना अनिवार्य है। यदि कोई व्यक्ति किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से शुभ कहता है तो वह समान परिस्थितियों में उसी प्रकार के सभी कमों को शुभ कहने के लिए ताकिक दृष्टि से अपने आप को प्रतिबद्ध करता है। शुभ के अर्थ के विषय में नावलस्मिय का यह मत निश्चय ही उचित है, किंतु, जैसा कि हेयर ने

सविस्तार स्पष्ट किया है, इस शब्द के अर्थ की उपर्युक्त विशेषता निर्देतिक प्रसंगों में भी समान रूप से पाई जाती है। ऐसी स्थिति में बक्ता के अनुमोदन की अभिव्यक्ति के समान ही सार्वलौकिकता के आधार पर भी नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' के अर्थ को निर्देतिक प्रसंगों में उसके अर्थ से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि नैतिक तथा निर्देतिक प्रसंगों में 'शुभ' के अर्थ की आधारभूत समानता के संबंध में भी दावलस्पिथ का हेयर से कोई विशेष मतभेद नहीं है।

शुम' की भांति 'उचित', 'चाहिए' तथा 'कर्तव्य' के अयं के विषय में भी रावलस्मिथ ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनका मत है कि 'शुभ' के समान ही ये तीनों शब्द भी अनिवार्यतः बक्ता के अनुमोदन को अभिव्यक्त करते हैं। इस हम किसी कर्म के संबंध में 'उचित', 'बाहिए' और 'कर्तव्य' इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम अवश्य ही उस कर्म के प्रति अपना अनुमोदन व्यक्त करते है। इस दृष्टि से इन शब्दों का अर्थ 'शुभ' के अर्थ के समान ही है। परन्तु रावतस्मिथ का कथन है कि 'उचित', 'चाहिए' तथा 'कर्तव्य' का प्रयोग मुख्यतः किसी को कुछ करने का परामर्श देने के लिए ही किया जाता है, अतः परामर्श का यह तत्त्व इन तीनों शब्दों के अर्थ की प्रमुख विशेषता है। इस समान विशेषता के होते हुए भी 'उचित' और 'चाहिए' के अर्थ में कुछ अन्तर अवश्य है। इस बत्तर को स्पष्ट करते हुए नावलस्मिथ कहते हैं कि 'चाहिए' का प्रयोग वक्ता के निर्णयों तथा आदेशों को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है, जबकि 'उचित' का प्रयोग मुख्यतः इन निर्णयों और आदेशों का समर्थन करने के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'शुभ' तथा 'उचित' के अर्थ में भी पर्याप्त बंतर है। 'उचित' शब्द का प्रयोग हम प्रायः 'नियम के अनुरूप होने' के अर्थ में करते हैं, किंतु 'शुभ' के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन दोनों शब्दों के वर्ष में इस अन्तर को भी नावलस्मिथ ने

स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उनका कथन है कि उचित' शब्द का प्रयोग प्रायः उस प्रसंग में किया जाता है जिसके साथ नियमों अथवा कानूनों का संबंध होता है और ऐसे प्रसंगों में संयतः इसका अर्थ होता है 'नियम या कानून के अनुरूप होना'। " हम देख दुहे हैं कि रॉस तथा हेयर ने भी 'उचित' के अर्थ की ऐसी ही व्याख्या की है। राजु नावलस्मिथ का विचार है कि 'उचित' के साथ उन नियमों अथवा कानूनों के प्रति वक्ता का अनुमोदन अनिवार्यतः संबद्ध रहता है जिनके अनुतार वह कर्म करता है। इसी कारण वे 'शुभ' की भांति 'उचित' को भी मुख्यतः अनुमोद– नात्मक शब्द ही मानते हैं।

'बाहिए' के अर्थ के संबंध में नावलस्मिथ का कथन है कि इस शब्द का प्रयोग मुस्यतः किसी को कुछ करने का परामर्श देने के लिए ही किया जाता है।

यही कारण है कि जिस बाक्य में हम 'चाहिए' शब्द का प्रयोग करते हैं बह हमें आजा अथवा आदेश के समान ही प्रतीत होता है। नावलस्मिथ यह तो स्वोकार करते हैं कि आज्ञाओं तथा जिन वाक्यों में 'चाहिए' शब्द का प्रयोग किया जाता है उनमें कुछ समानता अवश्य है, कितु उनका मत है कि इन दोनों को समानार्थकः मान लेना हमारी बहुत बड़ी मूल होगी। वस्तुतः जिन वाक्यों में हम 'चाहिए' शब्द का प्रयोग करते हैं वे आदेशों अथवा आज्ञाओं से पर्याप्त सीमा तक भिन्न होते हैं। इन दोनों में जो आधारभूत अंतर है उसे नावलस्मिथ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है। जब कोई व्यक्ति आज्ञा या आदेश देता है तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह इसके समर्थन में उचित कारण अथवा तर्क प्रस्तुत करें। इसके विपरीत जब कोई व्यक्ति किसी से यह कहता है कि "तुम्हें अमुक कर्म करना चाहिए" तो हम उससे यह अनुरोध करना आवश्यक समझते हैं कि वह अपने इस कथन के लिए उचित कारण बताए। इससे स्पष्ट है कि उन कथनों या निर्णयों को आज्ञाओं अथवा आदेशों के समान नहीं माना जा सकता जिनमें हम 'चाहिए' शब्द का

प्रयोग करते हैं। नावलस्मिथ के मतानुसार इन दोनों को समानार्थक मानना उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार "अमुक वस्तु शुभ है" और "मैं अमुक बस्तु को पसंद करता हूं" इन दोनों कथनों को समानार्थक मानना। इस प्रकार ये निर्णय आदेशों से भिन्न प्रकार के होते हैं, अतः आदेशों अथवा अज्ञात्रों के आधार पर इनका अर्थ स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए नावलस्मिथ ने उस धर्मशास्त्रीय सिद्धांत को अस्वीकार किया है जो ईश्वरादेशों के आधार पर नैतिक निर्णयों की परिभाषा करता है। 45 यहां यह उल्लेखनीय है कि स्टीवैन्सन, ऐडवस, हेयर आदि अन्य दार्शनिकों ने भी नैतिक निर्णयों तथा आदेशों अथवा आज्ञाओं में मुख्यतः यही अंतर बताया है।

हम देख चुके हैं कि नावलस्मिथ के विचार में 'उचित' और 'चाहिए' की भांति 'कर्तव्य' शब्द का प्रयोग भी किसी को कुछ करने का परामर्श देने के लिए हो किया जाता है। परंतु उनका मत है कि 'कर्तव्य' का अर्थ 'उचित' तथा 'चाहिए' के अर्थ से कुछ भिन्न है। मूर की भांति वे भी यह मानते हैं कि 'कर्तव्य' में बाध्यता का तत्त्व अनिवार्यतः निहित रहता है और यही तत्त्व इस शब्द के अयं को 'उचित' तथा 'चाहिए' के बर्थ से पृथक करता है। जब मैं यह कहता हूं कि "अमुक कर्म करना मेरा कर्तव्य है" तो सामान्यतः इसका अर्थ यही होता है कि "इच्छा न होते हुए भी वह कर्म करने के लिए मैं बाध्य हूं। स्पष्ट है कि जिस कर्म को हम अपना कर्तव्य मानते हैं उसके संबंध में हमारी स्वतंत्रता अनिवार्यतः जीभित हो जाती है। हम सामान्यतः अपनी इच्छा से वह कर्म नहीं करते, किंतु उसे करने के लिए हमें बाध्य होना पड़ता है। नावलस्मिथ के शब्दों में, "मेरे कर्तव्य बे हैं जिन्हें करने के लिए मैं बाध्य हूं और यह संयोग की बात नहीं है कि नैतिक नियमों तथा देश के कानूनों का पालन करवाने के लिए दंड की व्यवस्था की बाती है।"२७ इसके अतिरिक्त नावलस्मिथ मूर के इस मत का भी समर्थन करते है कि

प्रायः ऐसे कर्मों को ही व्यक्ति के कर्तव्य माना जाता है जो उसके अपने हित के लिए नहीं, अपितु दूसरों के हित के लिए आवश्यक होते हैं। परंतु नावन– स्मिथ के अनुसार केवल इसी तथ्य के आधार पर 'कर्तव्य' की परिभाषा नहीं की जा सकती। हम अनेक कारणों से प्रेरित होकर अपने कर्तव्य का पालन करते हैं जिनमें अवांछनीय परिणामों का भय भी सम्मिलित है। अनेक बार हम कर्तव्य बेठना–अर्थात् कर्तव्य के लिए ही कर्तव्य का पालन करने की इच्छा से प्रेरित होकर भी अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

नावलस्मिय का कथन है कि कानूनी तथा नैतिक कर्तव्यों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। कुछ नैतिक कर्तव्यों को कानूनी कर्तव्यों के रूप में स्वीकार कर लिया बाता है और कुछ कानून ऐसे होते हैं जो अनैतिक आचरण को कानूनी अपराध घोषित करते हैं। इसके अतिरिक्त अपने देश के कानूनों का पालन न करना भी सामान्यतः नैतिक दृष्टि से अपराध माना जाता है। नैतिक कर्तब्य और देश के कानून दोनों ही मनुष्य को विशेष प्रकार का आचरण करने या न करने का आदेश देते हैं। दोनों का उल्लंघन करना सामान्य परिस्थितियों में अनुचित माना जाता है बौर इसके लिए मनुष्य को दंड दिया जाता है, किंतु इन दोनों के उल्लंघन के निए दंड के रूप भिन्न–भिन्न होते हैं। कानूनी कर्तव्य की भांति नैतिक कर्तव्य भी मनुष्य की स्वतंत्रता को सीमित करता है। इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए नावल स्मिथ कहते हैं कि "मैं जिस लड़की से विवाह करना चाहता हूँ उससे विवाह करने के लिए मैं स्वतंत्र नहीं हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि इनसे मेरी माता का दिल टूट जाएगा और उसके प्रति मैं अपने नैतिक कर्तव्य से बाध्य हैं। नैतिक कर्तब्य ऐसा कर्तव्य है जो मुझे वह कर्म करने के लिए बाध्य करता है जिसे मैं उस कर्तव्य के अभाव में न करता। नैतिक कर्तव्य की पूति करने के लिए मनुष्य स्वेच्छया कर्म तो करता है, किंतु वह स्वतंत्रतापूर्वक इस कर्म का चुनाव रहीं

करता। जो विशेषता नैतिक कर्तव्यों को अन्य सभी कर्तव्यों से पूचक करती है वह यह है कि नैतिक कर्तव्य बात्मारोपित होते हैं।

जब नावलस्मिथ नैतिक कर्तव्यों को 'आत्मारोपित कर्तव्य' कहते हैं तो इससे उनका तात्पर्य यह है कि मनुष्य स्वयं ही इन कर्तव्यों को अपने ऊपर आगे. पित करता है। ईश्वर, समाज, कानून आदि कोई भी बाह्य वाक्ति उसे इन कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं करती। इस दृष्टि से नैतिक रर्तब्य अन्य सभी कर्तव्यों से भिन्न प्रकार के हैं। परंतु फिर भी नावलस्मिथ के मतानु. सार मनुष्य अन्य कर्तव्यों की भांति नैतिक कर्तव्यों का पालन भी अपनी नैसगिक इच्छा से प्रेरित होकर अनायास ही नहीं करता। इसके लिए वह एक विशेष प्रकार की बाध्यता का अनुभव करता है जो उसकी स्वाभाविक इच्छाओं को नियंत्रित करती है। अपनी इसी मान्यता को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए नावन– स्मिथ कहते हैं कि "यदि लोग सत्य बोलने के लिए कभी भी अनिच्छुक न होते तो हम सत्य बोलने को कर्तव्य के रूप में स्वीकार न करते। यदि हम केवस ऐसे कर्मों को करने का वादा करते जिन्हें करने से हमें आनंद मिलता है तो वचन का पालन करना कर्तव्य न माना जाता। 48 इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि नावलस्मिथ के विचार में अन्य कर्तव्यों की भांति नैतिक कर्तव्यों में भी बाध्यता का तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। वस्तुतः कर्तव्य की यही अनिवार्य विशेषता उसे 'शुभ', 'उचित', 'चाहिए' आदि अन्य सभी नैतिक शब्दों से पृथक करनी है।

प्रमुख नैतिक शब्दों के अर्थ के अतिरिक्त 'नैतिक नियमों' के अर्थ के विषय में भी नावलस्मिथ ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका मत है कि जिन नियमों के आधार पर मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में सदैव कर्म करने का निर्णय करता है उन्हें ही 'नैतिक नियम' कहा जा सकता है। ये नियम मनुष्य की विशेष अनुमोदनात्मक अभिवृत्तियां हैं जो उसके आचरण को निर्धारित करती हैं।

नावलस्मिथ ने नैतिक नियमों की तीन मुख्य विशेषताएं बताई हैं जो उनके अनुसार इन नियमों में अनिवार्यतः विद्यमान रहती हैं। (1) नैतिक नियमों का मनुष्य के जीवन में सर्वप्रमुख स्थान होता है, अतः बह किसी प्रकार के भय अथवा प्रलोभन के कारण इनका परित्याग करने के लिए उद्यत नहीं होता। यही नहीं, वह अपने नैतिक नियमों के लिए अपनी किसी भी बहुमूल्य वस्तु का परित्याग कर सकता है। वह सदैव इन नियमों के अनुरूप आचरण करता है और किसी नैतिक नियम का उल्लंघन तभी करता है जब उस नियम की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण नैतिक नियम के लिए ऐसा करना अनिवार्य हो जाए। हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह मानते हैं कि मनुष्य के आचरण से ही हम यह जान सकते हैं

हि वह वास्तव में किन नैतिक नियमों को स्वीकार करता है। इस प्रकार इन दोनों हातांत्रिकों के अनुसार नैतिक नियमों का मनुष्य के आचरण के साथ अनिवार्य संबंध है।

¼2) नैतिक नियमों की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यदि मनुष्य इम नियनों के विरुद्ध आचरण करता है तो उसके मन में अपराध बोष तया वावाताप की भावनाएं अवश्य उत्पन्न होती हैं। यही कारण है कि वह इन दिवमों के उल्लंघन को साधारण बात न मान कर बहुत गंभीर दोष के रूप में स्वीकार करता है।

¼3) सार्वलौकिकता नैतिक नियमों की तीसरी प्रमुख विशेषता है। किसी भी नियम को 'नैतिक नियम' तब तक नहीं माना जा सकता जब तक मनुष्य समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों पर उसे लागू करने के लिए उद्यत नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि समान परिस्थितियों में किसी नैतिक नियम का कोई अपवाद नहीं हो सकता ।०० स्पष्ट है कि नावलस्मिथ के अनुसार सार्वलौकिकता

के अभाव में हम किसी नियम को 'नैतिक नियम' नहीं कह सकते। जैसाकि हम पिछले खंड में देख चुके हैं, हेयर ने भी सार्वलौकिकता को नैतिक नियमों के लिए अनिवार्य माना है। बस्तुतः सार्वलौकिकता केवल नैतिक नियमों की ही नहीं, अपितु सभी प्रकार के नियमों की अनिवार्य विशेषता है, क्योंकि 'नियम' उसे ही बहा जा सकता है जो समान परिस्थितियों में सभी पर समान रूप से लागू हो सके। परंतु अन्य दो विशेषताएं केवल नैतिक नियमों में ही पाई जाती है और संभवतः रह कहना अनुचित न होगा कि ये दो विशेषताएं ही इन नियमों को अन्य सभी शहर के नियमों से पृथक करती हैं। इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रहते हुए, हम यह कह सकते हैं कि नावलस्मिथ ने नैतिक नियमों के अर्थ का जो विश्लेषण किया है वह निश्चय ही उचित एवं युक्तिसंगत है।करते हैं। परन्तु जब उपयोगिता तथा आदर्श में संघर्ष होता है और मनुष्य इन दोनों में से किसी एक के अनुसार ही आचरण कर सकता है तो उसे बहुत कठिन समस्या का सामना करना पड़ता है। इस समस्या का समाधान करने के लिए कुछ दार्शनिक केवल उपयोगिता को और कुछ अन्य दार्शनिक केवल आदर्श को ही मानवीय कमों के औचित्य का आधार स्वीकार करते हैं। हेयर के उपर्युक्त विचारों में यह स्पष्ट है कि वे इन दोनों प्रकार के दार्शनिकों के मत को एकांगी मानते हैं। परन्तु वे इस कठिन समस्या का कोई संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके कि आदर्श तथा उपयोगिता में संघर्ष होने पर मनुष्य को इन दोनों में से रिस के अनुसार आचरण करना चाहिए। वस्तुतः मानव–स्वभाव की जटिलता और परिस्थितियों की विविधता को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि इस कठिन समस्या का कोई सर्वमान्य एवं पूर्णतः संतोषजनक समाधान प्रस्तुत करना संभव प्रतीत नहीं होता ।

5.3.4 मूल्यांकन

अथवा किसी अन्य कारण से प्रेरित हो कर दो समान कर्मों या व्यक्तियों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देते हैं तो हम स्पष्ट रूप से सार्वलौकिकता के उपर्युक्त तार्किक नियम का उल्लंघन करते हैं। ऐसा करने से हमारे नैतिक निर्णयों में वैसी ही ताकिक असंगति आ जाती है जैसी एक ही वस्तु के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी वर्णनात्मक कथनों यथा, "वह वस्तु लाल है" और "वह बस्तु लाल नहीं है" में पाई जाती है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि सार्वलौकिकता के नियम के विषय में हेयर के उपर्युक्त मत पर कान्ट के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ग्राउंडवर्क ऑफ़ दि मैटाफ़िजिक ऑफ मॉरल्ज' में कान्ट ने अन्य नैतिक नियमों के साथ–साथ सार्वभौमिकता के नियम को भी अनिवार्य नियम के रूप में स्वीकार किया है। इस नियम की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि मैं कोई कर्म करना चाहता हूं तो मुझे अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या अन्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें– अर्थात् क्या वह कर्म करना सार्वभौमिक नियम हो जाना चाहिए। वे ऐसे प्रत्येक कर्म को अनैतिक मानते हैं जो सार्व– भौनिकता के इस नियम के विरुद्ध है– अर्थात् जिसे करते समय व्यक्तिइस नियम का उल्लंघन करता है। हेयर मूलतः कान्ट के इसी नियम का समर्थन करते हैं इस सम्बन्ध में अपने विचारों पर कान्ट के प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है– "यह पूछना कि क्या इन परिस्थितियों में मुझे 'क' नामक कर्म करना चाहिए (एक छोटे–से, किन्तु महत्त्वपूर्ण, संशोधन के साथ कान्ट की भाषा का प्रयोग करते हुए) यह पूछना है कि क्या मैं यह इच्छा करता हूं कि ऐसी परिस्थितियों में 'क' नामक कर्म करना सार्वभौमिक नियम बन जाना चाहिए। इसी प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि उन परिस्थितियों में 'क' नामक कर्म करने के प्रति मैं किस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाना चाहूंगा। "21 इस प्रकार यह

स्पष्ट है कि सार्वलौकिकता के नियम का प्रतिपादन करते हुए हेयर कान्ट के विचारों से प्रभावित अवश्य

परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि हेपर के सार्वलौकिकता के नियम तथा काम्ट के सार्वभौमिकता के नियम में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में ये दोनों नियम पूर्णतः समान प्रतीत होते हुए भी एक– दूसरे से कुछ सीमा तक भिन्न हैं। कान्ट का नियम 'नैतिक नियम' है जिसके अनुसार हमें ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिए जिसे हम सार्वभौमिक नहीं बना सकते – अर्थात् जिसके सम्बन्ध में हम यह इच्छा नहीं करते कि अन्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें। यह नियम हमें पक्षपात अथवा किसी अन्य व्यक्तिगत कारण से प्रेरित होकर कोई भी कर्म न करने का नैतिक आदेश देता है। परन्तु हेयर का सार्वलौकिकता का नियम 'नैतिक नियम' न होकर वस्तुतः 'व्यकिक नियम' है। इस नियम के अनुसार सार्वलौकिकता का तत्त्व नैतिक शब्दों के अर्थ में ही अनिवार्यतः निहित रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि सार्वलौकिकता के तत्त्व को स्वीकार किए बिना हम वर्णनात्मक शब्दों की भांति किसी भी नैतिक शब्द का सुसंगत एवं सार्थक प्रयोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार हम समान रंग बाली दो वस्तुओं में से एक को लाल और दूसरी को काली नहीं कह सक्ते ठीक उसी प्रकार हम समान गुणों वाले दो व्यक्तियों में से एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा नहीं कह सकते। हम देख चुके हैं कि इस दृष्टि से नैतिक शब्दों का अर्थ वर्णनात्मक शब्दों के समान ही है। वस्तुतः अपनी उपर्युक्त मान्यता के कारण ही हेयर ने अपने सार्वलौकिकता के नियम को 'तार्किक नियम' कहा है जिसका उल्लंघन करने से हमारे कथनों में अनिवार्यतः ताकिक असंगति उत्पन्न हो जाती है। यह नियम हमें कोई नैतिक आदेश नहीं देता, अपितु हमसे यह मांग करता है कि अपने कथनों की सार्थकता के लिए हमें इनमें तार्किक संगति अवश्य बनाए रखनी चाहिए। इस

दृष्टि से हेयर का सार्वलौकिकता का नियम कान्ट के सार्व– भौमिकता के नियम से निश्चय ही भिन्न है। परन्तु इन दोनों नियमों में आधार– भूत समानता यह है कि ये दोनों ही हमारे ऐसे प्रत्येक कर्म को अनुचित मानते हैं जिसके विषय में हम यह इच्छा नहीं करते कि समान परिस्थितियों में अम्य सभी व्यक्ति भी वह कर्म करें। वास्तव में इसी समानता के कारण कुछ दार्शनिकों ने हेयर के सार्वलौकिकता के नियम को भी कान्ट के सार्वभौमिकता के नियम के समान ही 'नैतिक नियम' मान लेने की भूल की है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, हेयर अपने इस नियम को 'नैतिक नियम' न मान कर 'ताकिक नियम' ही मानते हैं और इसी कारण उन्होंने इसे कान्ट के नियम से भिन्न नाम दिया है।

अपनी दूसरी पुस्तक 'फीडम ऍंड रीजन' में हेयर 'ने तार्किक नियम' के रूप में ही सार्वलौकिकता के नियम की विस्तृत व्याख्या की है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि "मैतिक निर्णय उसी प्रकार सार्वलौकिक होते हैं जिस प्रकार वर्णनात्मक निर्णय अर्थात् नैतिक कथनों तथा वर्णनात्मक कथनों दोनों का ही वर्णनात्मक अर्थ होता है; परन्तु जो सार्वभौमिक नियम नैतिक निर्णयों के इस वर्णनात्मक अर्थ को निर्धारित करते हैं वे केवल अर्थ सम्बन्धी नियम ही नहीं होते, अपितु महत्त्वपूर्ण नैतिक सिद्धांत होते हैं ताकिक सिद्धांत' से मेरा तात्पर्य शब्दों के अर्थ सम्बन्धी सिद्धांत से है। मैं यह मानता रहा हूं कि 'चाहिए' शब्द तथा अन्य नैतिक शब्दों का अर्थ इस प्रकार का होता है कि जो व्यक्ति उनका प्रयोग करता है वह इसके द्वारा अपने आपको सार्वभौमिक नियम का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध करता है। यही सार्वलौकिकता का सिद्धांत है।'''

सार्वलौकिकता के नियम का उल्लंघन करना ताकिक दोष है, नैतिक दोष नहीं। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'मुझे अमुक कर्म करना चाहिए, किन्तु

अन्य किसी भी व्यक्ति को समान परिस्थितियों में वह कर्म नहीं करना चाहिए' तो मेरे सिद्धांत के अनुसार वह 'चाहिए' शब्द का दुरुपयोग कर रहा है; बह अप्रत्यक्षतः स्वयं अपना ही विरोध कर रहा है। सार्वलौकिकता का सिद्धांत हमे उन कर्मों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देने से रोकता है जिन्हें हम पूर्णतः समान मानते हैं। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि ऐसा करना ताकिक दृष्टि से दो असंगत निर्णय देना है। "22 हेवर द्वारा की गई सार्वलौकिकता के नियन की उपर्युक्त व्याख्या से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे इसे 'तातिक नियम' के रूप में ही स्वीकार करते हैं, अतः उनका यह नियम कान्ट के 'नैतिक नियम' से निश्चय ही भिन्न है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि अपने इस सार्वलौकिकता के ताकिक नियम के आधार पर ही हेयर नैतिक निर्णयों तथा आज्ञाओं में अन्तर स्पष्ट करते हैं। हम देख चुके हैं कि हेयर के मतानुसार प्रत्येक नैतिक निर्णय में परामर्श या आदेश अनिवार्यतः निहित रहता है जो इसे वर्णनात्मक कथनों से पृथक करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे नैतिक निर्णयों तथा आज्ञाओं अथवा आदेशों में कोई अन्तर नहीं मानते। वस्तुतः हेयर स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि सार्वलौकिकता का नियम नैतिक निर्णयों को आदेशों या आज्ञाओं है पुषस करता है। जब हम किसी व्यक्ति को कोई आदेश देते हैं तो हमारे लिए यह अनिवार्य नहीं है कि हम उसके समर्थन में सार्वलौकिकता के नियम पर आधारित कोई उचित कारण या तर्क प्रस्तुत करें। इस दृष्टि से हमारा श्रादेत पूर्णतः व्यक्तिगत हो सकता है जिसका सार्वलौकिक होना अनिवार्य नहीं है। परन्तु नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ये निर्णय अनिवार्यतः सार्वलौकिक होते हैं। हम देख चुके हैं कि हेयर के विचार में अब कोई

व्यक्ति नैतिक निर्णय देता है तो उसके लिए इस निर्णय को सार्वलौकिक निर्णय के रूप में स्वीकार करना अर्थात् इसे तमान परिस्थितियों में अन्य

सभी व्यक्तियों पर लागू करने के लिए उद्यत होना–ताकिक वृष्टि से अनिवार्य है। उससे यह मांग करना पूर्णतः उचित होगा कि वह अपने नैतिक निर्णय के समर्थन में वस्तुनिष्ठ तर्क प्रस्तुत करे और ऐसा तर्क सार्वलौकिकता के नियम पर ही आधारित हो सकता है। नैतिक निर्णयों की यह अनिवार्य विशेषता उन्हें आज्ञाओं अथवा आदेशों से पृथक करती है। मुख्यतः इसी आधार पर नैतिक निर्णयों तथा आदेशों में अन्तर स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "सार्वलौकिकता की दृष्टि से 'चाहिए सम्बन्धी निर्णयों' को सामान्य आदेशों से पृथक करना और भी आवश्यक है। साधारण आदेशों के लिए तर्क या कारण प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है, यद्यपि सामान्यतः ऐसे आदेशों के समर्थन में तर्क अवश्य दिए जाते हैं; परन्तु यदि 'चाहिए सम्बन्धी निर्णयों' के समर्थन में कारणों या तकों की मांग को अनावश्यक अथवा निरर्थक समझा जाता है तो अवश्य ही इन निर्णयों का दुरुपयोग किया जा रहा है। "23 इस प्रकार हेयर का मत है कि नैतिक निर्णय सार्वलौकिकता सम्बन्धी अपनी अनिवार्य विशेषता के कारण आज्ञाओं अथवा आदेशों से निश्चय ही भिन्न होते हैं।

अभी तक हमने मुख्यतः नैतिक शब्दों तथा नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप के विषय में हेयर के मत का विवेचन किया है। अब संक्षेप में इस महत्व–पूर्ण प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि उनके अनुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तों का स्वरूप, उद्देश्य तथा आधार क्या है। हम पहले ही इस तथ्य का उल्लेख कर चुके हैं कि हेयर नैतिक निर्णयों को मुख्यतः बौद्धिक निर्णय मानते हैं, भावनात्मक या संवेगात्मक कथन नहीं। उनका मत है कि नैतिक निर्णय देना निश्चय ही एक बौद्धिक प्रक्रिया है जो संवेगात्मक अभिव्यक्ति की निबों

द्धिक प्रक्रिया से भिन्न होती है। हम देख चुके हैं कि नैतिक निर्णयों द्वारा स्वयं अपना अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करना बौद्धिक कार्य है जिसका उचित तकों पर आधारित होना आवश्यक है। जब तुम नैतिक निर्णय देते हैं, तो हमसे यह मांग की जा सकती है कि हम अपने इन निर्णयों की पुष्टि के लिए उचित कारण या तर्क प्रस्तुत करें। यदि हम इस मांग को अनुचित मा अनावश्यक मान कर इसकी पूति नहीं करते तो हमारे निर्णयों को बास्तव में 'नैतिक निर्णय' नहीं कहा जा सकता। यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि हेयर के मतानुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने बाले तों का उद्देश्य स्वयं इन निर्णयों को ही उचित सिद्ध करना होता है, अन्य व्यक्तियों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना नहीं। इस सम्बन्ध में वे स्टीवैन्सन के मत को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं जिनके अनुसार दैतिक निर्णयों के पक्ष में दिए जाने वाले तकों का मुख्य उद्देश्य इन निर्णयों को इवित सिद्ध करने के स्थान पर अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करना ही होता है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि स्टीवैन्सन की इस मान्यता के कारण नैतिक विषेप मुख्यतः नियों द्धिक हो जाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार नियों द्धिक विधियों द्वारा हम दूसरों की भावनाओं या अभिवृत्तियों को परिवर्तित अथवा प्रभावित कर सकते हैं। संवेगबाद की इसी समस्या को ध्यान में रखते हुए हेयर नैतिक निर्णयों तथा उनके लिए प्रस्तुत किए जाने वाले तों में मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध हे स्थान पर ताकिक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उन्होंने नैतिक निर्णयों के अर्थ की भांति इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के विषय में भी स्टीर्वन्सन के मत का खण्डन किया है।

हेयर का विचार है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्को का मुख्य आधार सार्वलोकिकता का नियम है। नैतिक निर्णयों के अनिवार्यतः सार्वलौकिक होने के कारण ही हम इन निर्णयों के सम्बन्ध में बौद्धिक तर्क प्रस्तुत

कर सकते हैं। किसी कयन के तर्कसंगत होने के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें कोई तार्किक असंगति न हो। हम ऊपर देख चुके हैं कि नैतिक नियंवों में ताकिक दृष्टि से संगति बनाए रखने के लिए सार्वलौकिकता के नियम का पालन करना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति नैतिक निर्णय देते समय इस नियम का उल्लंघन करता है तो उसके निर्णय में अनिवार्यतः ताकिक असंगति उपम्त हो जाती है जिसके फलस्वरूप वह निर्णय ताकिक दृष्टि से दोषपूर्ण तथा बौद्धिक हो जाता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि अनेक व्यक्ति पक्षपात, पूर्वाग्रह पृणा अथवा शत्रुता के कारण पूर्णतः समान गुणों वाले व्यक्तियों या कर्मों के सम्वन्ध में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देते हैं। वे कोई उचित कारण बताए बिना केवल अपने पूर्वाग्रहों से प्रेरित होकर एक व्यक्ति के कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित और समान परिस्थितियों में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किए गए उसी कर्म की नैतिक दृष्टि से अनुचित कहते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों के पक्षपातपूर्ण तथा सार्वलौकिकता के नियम के विरुद्ध निर्णयों को तर्कसंगत नैतिक निर्णय नहीं माना जा सकता। इन व्यक्तियों को तार्किक दृष्टि से इस बात के लिए राष्य किया जा सकता है कि वे सार्वलौकिकता के नियम के अनुसार अपने नैतिक निर्णयों में आबश्यक संशोधन अथवा परिवर्तन करें। यदि वे ऐसा नहीं करते ही निश्चय ही उन्हें 'विवेकशील व्यक्ति' नहीं कहा जा सकता। इससे स्पष्ट है कि ईयर के विचार में सार्वलौकिकता का नियम ही नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत निर्णय बनाता है।

नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत सिद्ध करने की दृष्टि से सार्वलौकिकता के इस नियम की महत्त्व को स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "यदि कोई मनुष्य बन्य व्यक्तियों के कामों के विषय में स्वीकारात्मक नैतिक निर्णय देने के लिए तैयार है किन्तु स्वयं अपने कर्मों के सम्बन्ध में वह ऐसा नहीं करता तो हम उसदे पूछ सकते हैं कि वह किस सिद्धांत के आधार पर इन भिन्न–भिन्न मामलों में मेद

करता है। यह सार्वलौकिकता की मांग का विशेष परिणाम है। उसे वा तो कोई ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत करना चाहिए जिसके आधार पर वह समान प्रतीत होने वाले मामलों के विषय में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देता है अथवा उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि वह जो निर्णय दे रहा है वे नैतिक निर्णय नहीं है। परन्तु यदि वह यह स्वीकार करता है तो उसकी स्थिति ऐसे व्यक्ति की स्थिति के समान हो जाती है जो कोई भी नैतिक निर्णय नहीं देता। यदि हम यह देखते है कि कोई मनुष्य समान परिस्थितियों में अपने विषय में जो निर्णय देता है के दूसरों के विषय में दिए गए उसके निर्णयों से पूर्णतः भिन्न हैं तो हम उसे ताहिक दृष्टि से इस बात के लिए बाध्य कर सकते हैं कि या तो वह इन दोनों प्रकार के निर्णयों में से एक प्रकार के निर्णयों को अस्वीकार कर दे अथवा परिस्थितियों में अन्तर बताए। "24 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हेयर के मतानुसार सार्वलौकिस्ता का नियम ही नैतिक निर्णयों को तर्कसंगत निर्णय सिद्ध करने का मूल आधार है। यह नियम हमें बताता है कि नैतिक निर्णयों के लिए जो तर्क दिए जाते हैं उनका सार्वलौकिक होना अनिवार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जो तर्क मेरे किसी कर्म को उचित या अनुचित सिद्ध करता है वही तर्क समान परिस्थितियों में किसी भी अन्य व्यक्ति के उसी प्रकार के कर्म को भी अनिवार्यतः उचित अथवा अनुचित सिद्ध करता है। प्रत्येक नैतिक निर्णय के समर्थन में दिए जाने वाले वास्तविक तर्क में यह सार्वलौकिकता अनिवार्यतः निहित रहती है। इस प्रकार हेयर नैतिक निर्णयों के अर्थ के साथ–साथ उनके प्रमाणीकरण की दृष्टि से भी सार्वलौकिकता के नियम को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी यह मान्यता कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत अध्याय के अन्तिम खण्ड में विस्तार से विचार करेंगे ।

हेयर का कथन है कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले सकों के लिए सार्वलौकिकता के अतिरिक्त अन्य तीन तत्त्वों का भी बहुत महत्व है। ये तीन तत्त्व हैं– (1) तथ्य, (2) दूसरों की इच्छाएं अथवा उनके हित और (3) निर्णयकर्ता की कल्पना। जब हम अपने किसी मैतिक निर्णय के समर्थन में कोई तर्क देते हैं तो हमारे लिए इन तीनों तत्त्वों की ओर उचित ध्यान देगा बावश्यक हो जाता है। सर्वप्रथम हमें उन विशेष तथ्यों पर विचार करना बाहिए जो उस समस्या से सम्बन्धित है जिसके विषय में हम नैतिक निर्णय देते है। इस समस्या से सम्बद्ध सभी आवश्यक तथ्यों पर ध्यान दिए बिना हम इसके सम्बन्ध में अपने नैतिक निर्णय की पुष्टि नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि किसी नैतिक निर्णय के समर्थन में दिया गया हमारा ऐसा प्रत्येक तर्क अप्रासंगिक तथा प्रभावहीन हो जाता है जो इन सम्बद्ध तथ्यों की उपेक्षा करता है। इस दृष्टि से सभी सम्बद्ध तथ्यों पर विचार करना नैतिक तर्क की प्रभाव– शोलता के लिए अनिवार्य है।

हेयर का मत है कि संबद्ध तथ्यों के साथ–साथ हमें उन सभी व्यक्तियों की इच्छाजों तथा उनके हितों का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए जो हमारे नैतिक निर्णयों द्वारा प्रभावित होते हैं। हमारे नैतिक निर्णयों के लिए मनुष्य की इच्छाओं तया बावश्यकताओं का विशेष महत्त्व है, क्योंकि ये निर्णय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप ने इन इच्छाओं और आवश्यकताओं को अवश्य प्रभावित करते हैं। यदि दूसरों की इच्छाओं पर हमारे नैतिक निर्णयों का कोई प्रमाव न पड़ता तो हम ये निर्णय न देठे, क्योंकि ऐसी स्थिति में हमारे लिए ये निर्णय देना निरर्षक होता । इसके अतिरिक्त दूसरों की इच्छाओं तथा आवश्यकताबों की उपेक्षा करके हम बपने नैतिक निर्णयों को कभी भी सार्वलौकिक नहीं बना सकते। यही कारण है कि हेयर नैतिक

निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले तों के लिए मानवीय इच्छाओं और आवश्यकताओं को विशेष महत्त्व देते हैं।

उपर्युक्त दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त नैतिक तों के लिए निर्णयकर्ता की सत्पना को भी हेयर आवश्यक तत्त्व मानते हैं। उनके मतानुसार सार्वलौकिक नैतिक निर्णय देने के लिए यह आवश्यक है कि निर्णय देने बाला व्यक्ति स्वयं अपने बाप को दूसरों के स्थान पर रखने की कल्पना कर सके। अपनी कल्पना द्वारा वह इस बात का अनुमान लगा सकता है कि दूसरों के हितों पर उसके नैतिक निर्णयों का क्या प्रभाव पड़ेगा। इसके कारण अन्य व्यक्तियों के संबंध में यह ऐसा कोई नैतिक निर्णय नहीं देगा जो बह स्वयं अपने संबंध में देना पसंद महीं करता। इस प्रकार कल्पना संबंधी यह तत्त्व नैतिक निर्णयों की सार्ब सौकिकता के लिए निश्चय ही बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। संक्षेप में हेयर के अनुसार नैतिक निर्णयों के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले तकों के लिए सार्वभौकिकता के अतिरिक्त सभी संबद्ध तथ्यों पर विचार करना, दूसरों की इच्छानों का ध्यान रखना तथा अपनी कल्पना द्वारा स्वयं अपने आप को दूसरों के स्थान पर रण कर संपूर्ण स्थिति को समझना —— ये छीनों तरण बहुत आवश्यक है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सभी तत्वों के साथ–साथ हेयर ने नैतिक सकों के लिए उच्च मानवीय आदर्शों के महत्व को भी स्वीकार किया है। उनका कथन है कि नैतिक निर्णय देते समय हम केवल मानवीय हितों और इच्छाओं का ही ध्यान नहीं रखते, अपितु कुछ महान बादशों पर भी विचार करते हैं। यह सत्य है कि हम प्रायः उन कमों को नैतिक दृष्टि से उचित मानते हैं जो मनुष्य के हित में सहायक होते हैं, किंतु हम सदा केवल इसी आधार पर कर्मों के औचित्य का निर्णय नहीं करते। इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कोई कर्म सभी संबद्ध पक्षों की इच्छाओं की पूति करने

के कारण उनके लिए लाभदायक हो, किंतु वह किसी महान मानवीय आदर्श के विरुद्ध हो। ऐसे कर्म को निश्चय ही नैतिक दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। अपनी इस मान्यता को हेयर ने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि मान लीजिए एक रूपवती लड़की किसी क्लब में धनवान व्यापारियों के समक्ष निर्वसना होकर पर्याप्त धन कमा लेती है। अब इस प्रश्न पर विचार कीजिए कि क्या उसका यह कर्म नैतिक दृष्टि से उचित है। यह स्पष्ट है कि संबद्ध पक्षों की तृप्ति या इच्छा–पूति के आधार पर इस कर्म को अनुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे लड़की को धन और व्यापारियों को सुख मिलता है। फिर भी बहुत से व्यक्ति उसके इस कर्म को नैतिक दृष्टि से अनुचित और निदनीय मानेंगे, क्योंकि यह उस आदर्श के विरुद्ध है जिसके अनुसार नारी के शील अथवा सतीत्व को पवित्र माना जाता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि हम केवल लाभ अथवा उपयोगिता के आधार पर मानवीय कर्मों के औचित्य का निर्णय नहीं कर सकते। किसी कर्म के विषय में अपना नैतिक निर्णय देते समय हमें संबद्ध पक्षों के लिए उसकी उपयोगिता के साथ–साथ इस प्रश्न पर भी विचार करना पड़ता है कि वह किसी महान आदर्श के विरुद्ध तो नहीं है। इस प्रकार हेयर का मत है कि हम उपयोगिता और आदर्श इन दोनों के आधार पर कर्मों के संबंध में नैतिक निर्णय देते हैं। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "कम से कम दो प्रकार के ऐसे आधार हैं जिन्हें ध्यान में रखते हुए कोई मनुष्य यह कह सकता है कि अमुक कर्म करना ही सर्वोत्तम है। इनमें से एक का संबंध हितों से है और दूसरे का आदर्शों से। यद्यपि इन दोनों प्रकार के आधारों में कुछ संबंध है, फिर भी इन्हें एक–दूसरे से पृथक रखना चाहिए। अपनी सामान्य भाषा में हम इन दोनों के लिए 'नैतिक' शब्द का प्रयोग करते हैं। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उपयोगिता तथा आदर्श में संघर्ष हो तो हमें इन

दोनों में से किस का परित्याग करना चाहिए और किस को महत्त्व देना चाहिए । जहां तक मुझे ज्ञात है, हेयर ने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट तथा निश्चित उत्तर नहीं दिया। वे केवल इतना ही कहते हैं कि उपयोगिता और आदर्श ये दोनों ही कर्मों के औचित्य का निर्णय करने के लिए महत्त्वपूर्ण आधार हैं। उनका यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि हम इन दोनों के आधार पर अपने नैतिक निर्णयों को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयास आर०एम० हेयर की भांति पी०एच० नावलस्मिथ भी नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के संबंध में एक ऐसे अवर्णनात्मक सिद्धांत का समर्थन करते हैं जो संवेगबाद से भिन्न है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि वे परामर्शबाद के समर्थक हैं, फिर भी नैतिक निर्णयों के अर्थ तथा प्रमाणीकरण के विषय में उनके विचारों को ध्यान में रखते हुए यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि उनका सिद्धांत हेयर के परामर्शवाद से मूलतः भिन्न नहीं है। नावलस्मिथ ने अपने इस सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या 'ऐथिक्स' नामक अपनी पुस्तक में की है जो 1954 में प्रकाशित हुई थी। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं के साथ–साथ मानकीय नीतिशास्त्रः के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों तथा उसकी कुछ आधारभूत समस्याओं का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस दृष्टि से उनकी यह पुस्तक कानेंप, एयर, स्टीवैन्सन, हेयर आदि दार्शनिकों की कृतियों को अपेक्षा अधिक व्यापक है। परन्तु यहां हम अधि–नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं के विषय में ही उनके विचार प्रस्तुत करेंगे ।

नावल स्मिथ नीतिशास्त्र को 'सैद्धांतिक विज्ञान' न मानकर ऐसा 'व्यावहारिक विज्ञान' मानते हैं जिसका मुख्य उद्देश्य आचरण के संबंध में मनुष्य का मार्गदर्शन करना है। अपनी उपर्युक्त पुस्तक 'ऐथिक्स' के कवर पर इसका परिचय देते हुए वे कहते हैं कि "इसका उद्देश्य उन शब्दों तथा अवधारणाओं का अध्ययन

करना है जिनका प्रयो। हम व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर देने, निर्णय देने, परामर्श एवं चेतावनी देने और आचरण का मूल्यांकन करने के लिए करते हैं।" इसी प्रकार उक्त पुस्तक के अंत में नीतिशास्त्र के स्वरूप के विषय में अपना यही निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि "नैतिक दर्शन एक व्यावहारिक विज्ञान है। इसका उद्देश्य इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना है कि मुझे स्या करना चाहिए' ? परन्तु इस प्रकार के प्रश्नों का कोई सामान्य उत्तर नहीं दिया जा सकता। मुझे क्या करना चाहिए?' और 'मुझे किन नैतिक नियमों को स्वीकार करना चाहिए?' इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक मनुष्य को स्वयं ही देना होगा।"27 यहां यह उल्लेखनीय है कि नीतिशास्त्र के स्वरूप तथा उद्देश्य के संबंध में नावलस्मिथ का उपर्युक्त मत हेयर के मत से भिन्न नहीं है। जैसा कि हम पिछले खंड में देख चुके हैं, हेयर भी यह मानते हैं कि नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के इस व्यावहारिक प्रश्न का उत्तर देना है कि 'मुझे क्या करना चाहिए।' इस प्रकार नीतिशास्त्र तथा नैतिक भाषा के मूल उद्देश्य के विषय में नावलस्मिथ और हेयर का मत लगभग समान ही है।

इसके अतिरिक्त हेयर तथा अन्य अनेक दार्शनिकों के इस मत को भी नावलस्मिथ स्वीकार करते हैं कि अधि–नीतिशास्त्र के अंतर्गत हम नैतिक भाषा का जो अध्ययन और विश्लेषण करते हैं वह मानवीय आचरण की दृष्टि से तटस्थ होता है। इस प्रकार के अध्ययन तथा विश्लेषण का मनुष्य के आचरण पर प्रत्यक्षतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता । परन्तु, जैसा कि हम पिछले अध्यायों में बता चुके हैं, नैतिक भाषा का अध्ययन और विश्लेषण मानकीय नीतिशास्त्र की मूल समस्याओं तथा उसके सिद्धांतों को समझने में हमारे लिए बहुत सहायक सिद्ध होता है। इस दृष्टि से अधि–नीतिशास्त्र के अध्ययन के महत्त्व का उल्लेख करते हुए नावत स्मिथ कहते हैं कि "भाषा के प्रयोगों के अध्ययन से इस संबंध में कोई

निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते कि हमें क्या करना चाहिए, परन्तु इस प्रकार का शाध्ययन नैतिक समस्याओं के समाधान में अनेक प्रकार से सहायक हो सकता है और बौद्धिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्त्व है। उदाहरणार्थ यह हमारे लिए उस भाषा की जटिलता, व्यापकता एवं शुद्धता को स्पष्ट कर सकता है जिसका हम सभी दार्शनिक तथा सामान्य व्यक्ति– समान रूप से इस क्षेत्र में प्रयोग करते हैं। "28 इस प्रकार एयर, स्टीवैम्सन तथा हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह मानते हैं कि आचरण की दृष्टि से तटस्थ होते हुए भी अधि–नीतिशास्त्र समुष्य को नैतिक समस्याओं को समझने और उनके समाधान में अप्रत्यक्ष रूप से बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि नावलस्मिथ नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं प्रमाणी– करण के विषय में अवर्णनात्मक सिद्धांत को ही स्वीकार करते हैं। उनका विचार हैषि नैतिक भाषा तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक भाषा से भिन्न प्रकार की होती है, क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य किन्हीं तथ्यों का वर्णन मात्र करना नहीं, अपितु शाचरण के संबंध में मनुष्य का मार्गदर्शन करना ही होता है। इस दृष्टि से नैतिक भाषा का मनुष्य के आचरण के साथ अनिवार्य संबंध है और मुख्यतः यही तथ्य नीतिशास्त्र को 'व्यावहारिक विज्ञान' बनाता है तथा उसे सभी सैद्धांतिक विज्ञानों से पृथरु करता है। नैतिक भाषा के स्वरूप के विषय में अपनी इसी रामना को स्पष्ट करते हुए नावलस्मिथ कहते हैं कि "जिन मूल क्रियाओं के निए नैतिक भाषा का प्रयोग किया जाता है वे हैं चुनना तथा चुनने के संबंध में तिरों को परामर्श देना। परम्परागत रूप से नैतिक दर्शन को सदा व्यावहारिक सिवान ही माना जाता रहा है। इसे 'विज्ञान' कहा जाता है, क्योंकि यह ज्ञान– गति के उद्देश्य से व्यवस्थित अध्ययन करता है; इसे 'व्यावहारिक' कहा जाता क्योंकि इसका उद्देश्य व्यावहारिक

ज्ञान है जो हमें बताता है कि हमें क्या ५१ करना चाहिए। 29 नावलस्मिथ यह मानते हैं कि नैतिक भाषा के उक्त सर्वनात्मक स्वरूप की जान लेने से हमें अपने व्यावहारिक जीवन में नैतिक विनाओं को समझने और उनको समाधान करने में अवश्य सहायता मिलती है। हमारी भाषा में कुछ ऐसे वक्त हैं जिनका नैतिक प्रश्नों तथा समस्याकों में है। अशुभ, उचित', 'अनुचित', कर्त्तव्य, 'मुल', 'दुःख', 'इच्छा', 'संकल्प', 'अंतश्चेतना', 'स्वैच्छिक', 'अनुमोदन', 'पश्चाताप', 'अपराधबोध' आदि शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नावल स्मिथ का कथन है कि जो व्यक्ति नैतिक समस्याओं से संबद्ध इन शब्दों का ठीक–ठीक अर्थ नहीं जानते वे वास्तव में नीतिशास्त्र से कुछ नहीं सीख सकते। 20 उनके इस कथन से यह स्पष्ट है कि वे हमारे व्यावहारिक जीवन में नैतिक समस्याओं के संतोषप्रद समाधान के लिए नैतिक भाषा के स्वरूप के समुचित ज्ञान को विशेष महत्त्व देते हैं।

अवर्णनात्मक सिद्धांत के समर्थक होने के कारण नावलस्मिथ भी एयर, स्टीवैन्सन तथा हेयर की भांति अंतःप्रज्ञावाद और प्रकृतिबाद इन दोनों वर्णनात्मक सिद्धांतों का खंडन करते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों के विरुद्ध उन्होंने जो आपत्तियाँ उठाई हैं वे हेयर द्वारा इन सिद्धान्तों के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों से भिन्न नहीं हैं। उदाहरणार्थ अंतःप्रज्ञावाद के विरुद्ध नावलस्मिथ की प्रथम आपत्ति यह है कि यह सिद्धान्त नैतिक भाषा तथा मानवीय आचरण के पारस्परिक सम्बन्ध की संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता, क्योंकि यह इन दोनों में एक अलंघ्य खाई उत्पन्न कर देता है। सामान्यतः हम यह मानते हैं कि "अमुक कर्म मेरे लिए उचित है" और "मुझे अमुक कर्म करना चाहिए" इन दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु अंतःप्रज्ञावाद के अनुसार "अमुक फर्म उचित है" का अर्थ यह है कि उस कर्म में 'औचित्य' नामक विशेष निर्प्राकृतिक गुण है जिसका बोष हमें प्रत्यक्षतः

अंतःप्रशा द्वारा ही होता है। इसका अर्थ यही है कि "अमुक कर्म उचित है" यह बाक्य एक तथ्यात्मक कथन है जिससे हम कभी भी यह नैतिक निर्णय निगमित नहीं कर सकते कि "हमें बह कर्म करना चाहिए।" इस प्रकार प्रकृतिवाद की भांति अंतःप्रज्ञावाद भी नैतिक निर्णयों को केवल तथ्यात्मक कथन मान लेने के कारण इन निर्णयों तथा मानवीय आचरण में अलंध्य खाई उत्पन्न कर देता है जिसके फलस्वरूप वह इन दोनों के सम्बन्ध की समुचित व्याख्या करने में सफल नहीं हो पाता।

अंतःप्रज्ञावाद के विरुद्ध नावलस्मिथ की दूसरी आपत्ति यह है कि मह सिद्धान्त एक ही कर्म के विषय में दो परस्पर विरोधी नैतिक निर्णय देने वाले व्यक्तियों में संघर्ष को समाप्त करने के लिए हमें कोई संतोषप्रव उपाय नहीं बताता। इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति अपनी अंतःप्रज्ञा के आधार पर उस कर्म को उचित कहता है तथा दूसरा व्यक्ति अपनी अंतःप्रशा के आधार पर उसे अनुचित कहता है और इस सिद्धान्त के अनुसार अंतःप्रज्ञा के अतिरिक्त उचित–अनुचित सम्बन्धी नैतिक ज्ञान का अन्य कोई आधार नहीं है। नावलस्मिथ का कथन है कि यदि अंत. प्रज्ञावाद को स्वीकार कर लिया जाए तो इस प्रकार के मतभेद को समाप्त करने के लिए दूसरों की निदा अथवा शारीरिक शक्ति का प्रयोग करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता। "इस सम्बन्ध में आप चाहे कितने ही आश्वस्त हों कि आपका मत उचित है, फिर भी मैं आपकी अंतःप्रज्ञा के औचित्य को अस्वीकार कर सकता हूं। यदि मैं आपसे असहमत हूं तो आपको मुझ पर मिथ्यावादिता अथवा नैतिक दृष्टिहीनता का आरोप लगाना पड़ेगा । परन्तु यह बात नितांत अनुचित है, क्योंकि हम उन लोगों की सत्यवादिता को भी प्रायः अवश्य स्वीकार करते हैं जिनके नैतिक विचार हमारे विचारों से भिन्न हैं। 31 अंतः प्रज्ञाबाद के विरुद्ध नावलस्मिथ ने तर जो दो

आपत्तियां उठाई हैं उन पर हम चौथे अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं, अतः यहां इन आपत्तियों की अधिक विस्तृत विवेचना न करते हुए इतना कह देना ही पर्याप्त है कि इस सिद्धान्त के विरुद्ध उनकी ये दोनों बापत्तियां उचित एवं युक्तिसंगत हैं।

अंतःप्रज्ञाबाद की भांति प्रकृतिवाद का भी नावलस्मिथ ने खंडन किया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध भी उनकी मुख्य आपत्ति वही है जो हेयर ने उठाई है और जिस पर हम पिछले खंड में विचार कर चुके हैं। हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह मानते हैं कि नैतिक शब्दों का मुख्य कार्य मूल्यांकन अथवा मार्गदर्शन करना ही है, बतः तथ्यात्मक शब्दों के आधार पर इन शब्दों की परिभाषा नहीं की जा सकती। यदि हम नैतिक शब्दों और तथ्यात्मक शब्दों को समानार्थक मान लेते है तो हम नेतिक शब्दों के प्रयोग द्वारा मूल्यांकन तथा मार्गदर्शन सम्बन्धी यह कार्य संपन्न नहीं कर सकते। हेयर के समान ही नावलस्मिय भी यह स्वीकार करते हैं कि जब हम किसी वस्तु को शुभ कहते हैं तो हम उस वस्तु में विद्यमान कुछ गुणों के कारण ही उसे शुभ कहते हैं और यह अनुभव तथा निरीक्षण द्वारा आशना जा सकता है कि उस वस्तु में वे गुण हैं या नहीं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस बस्तु को शुभ कहना उसके उन गुणों का वर्णन मात्र करने के समान ही है। इसका कारण यह है कि किसी वस्तु को शुभ कहना उसके विषय में मूल्यात्मक निर्णय देना है, जबकि उसके गुणों का वर्णन करना उसके सम्बन्ध में केवल कुछ तथ्य प्रस्तुत करना है और ये दोनों प्रक्रियाएँ एक–दूसरे से बहुत भिन्न है। इसी कारण नावलस्मिथ यह कहते हैं कि "अमुक बस्तु शुभ है" इस मूल्या–त्मक निर्णय का अर्थ हुम उन विशेष गुणों को जाने बिना भी समझ सकते हैं जो उस बस्तु को शुम बनाते हैं अथवा जिनके कारण हम उसे शुम कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि "अमुक बस्तु शुभ है" और "अमुक बस्तु में क, ख, ग नामक गुण

हैं" ये दोनों कथन कभी भी समानार्थक नहीं हो सकते। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि नायलस्मिथ भी मुख्यतः उसी तर्क के आधार पर प्रकृति–बाद का खंडन करते हैं जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध हेयर ने प्रस्तुत किया है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि बंतःप्रज्ञावाद तथा प्रकृतिवाद के साथ–साथ संवेगवाद को भी नाक्लस्मिथ ने अस्वीकार किया है। हेयर की भाँति वे भी यह मानते हैं कि नैतिक निर्णय भावनाओं या संवेगों की अभिव्यक्तियां मात्र न होकर बास्तव में बौद्धिक कथन हैं जिनके समर्थन में तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। नावलस्मिथ का कथन है कि सामान्यतः हम नैतिक निर्णयों को सत्य अथवा मिथ्या कहते हैं और हम यह भी स्वीकार करते हैं कि ये निर्णय देते ममय हम भूल कर सकते हैं। हम कभी–कभी यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने गलत नैतिक निर्णय दिया है और अपने इस कथन के लिए हम तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। नावलस्मिथ के मतानुसार इन सभी तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि नैनिक निर्णय हमारी संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं मात्र नहीं हैं। संवेगबाद के विरुद्ध अपनी इसी आपत्ति को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है– "यह एक तथ्य है कि नैतिक मामलों के विषय में हम केवल संवेग तथा व्यक्तिगत रुचि की ही बात नहीं करते, अपितु हम सत्य एवं मिथ्या, विचार तथा ज्ञान, सही और गलत की भी बात करते हैं और यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी व्याख्या अवश्य की जानी चाहिए। कभी–कभी यह कहा जाता है कि नैतिक वाक्यों का कार्य प्रवर्तक' अथवा 'संवेगात्मक' है और र उनका प्रयोग संवेगों या अभिवृत्तियों को जागृत करने बगवा लोगों से कुछ करवाने के लिए किया जाता है। प्रभावित करना तथा मनाना ऐसी क्रियाएं हैं जिन्हें हम शब्दों द्वारा या शब्दों के बिना भी कर सकते हैं और नैतिक भाषा को समझने के लिए इन्हें आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है। संवेगात्मक सिद्धान्त नैतिक भाषा की गलत व्याख्या करता है।" यह समभला कठिन नहीं है कि संवेगवाद के विरुद्ध

नावलस्मिथ की उपर्युक्त आपत्ति लगभग वही है जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध हेयर ने उठाई है और जिस पर हम पिछले खंड में विचार कर चुके हैं। हेयर की भांति उन्होंने भी मुख्यतः इमी बापत्ति के जाधार पर संबैजवाद का खंडन किया है।

प्र—तिबाद, अंतःप्रज्ञावाद तथा संवेगवाद इन तीनों सिद्धान्तों के विषय में नावतस्मिथ के उपर्युक्त विचारों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि वे नैतिक निर्णयों को न तो वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक कथन मानते हैं और न संवेगात्मक अभि–व्यस्तियां। ऐसी स्थिति में यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उनके अनुसार इन निर्णयों का वास्तविक स्वरूप क्या है। संभवतः यह कहना बनुचित न होगा कि अपनी पुस्तक 'ऐथिक्स' में नावलस्मिथ ने मुख्यतः इसी प्रश्न का विस्तारपूर्वक उत्तर देने का प्रयास किया है। उनका मत है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक कथनों तथा संवेगात्मक अभिव्यक्तियों दोनों से निश्चय ही भिन्न हैं, किन्तु नैतिक निर्णयों में इन दोनों के कुछ तत्त्व अवश्य विद्यमान रहते हैं। तथ्यात्मक कथनों की भांति नैतिक निर्णयों के विषय में भी हम वस्तुपरक भाषा का प्रयोग करते हैं और इन निर्णयों को सत्य अथवा मिथ्या कहते हैं। यह तथ्य नैतिक निर्णयों को संवेगात्मक वाक्यों से पृथक करता है। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, वे निर्णय तथ्यात्मक कथनों की भांति वर्णनात्मक भी नहीं है, क्योंकि ये किन्हीं तथ्यों का वर्णन मात्र न करके मनुष्य के आचरण का मूल्यांकन तथा मार्गदर्शन करते हैं। इस प्रकार नावलस्मिथ का विचार है कि नैतिक निर्णय वास्तव में तम्यात्मक कथनों तथा संवेगात्मक अभिव्यक्तियों का मिश्रित रूप है, किन्तु वे निर्णय इन दोनों से अवश्य ही भिन्न हैं। हम आगे देखेंगे कि उन्होंने अपनी इसी मान्यता के बाबार पर नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप की व्याख्या की हैजो हेवर द्वारा की गई इन निर्णयों की व्याख्या से अधिक भिन्न नहीं है।

हेबर की भांति नावलस्मिथ भो मुख्यतः शब्दार्य विषयक उपयोग सिद्धान्त के आधार पर ही नैतिक निर्णयों तथा शब्दों के अर्थ की व्याख्या करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि किसी शब्द का ठीक–ठीक वर्ष समझने के लिए यह जानना बावश्यक है कि किसी विशेष प्रसंग में उस शब्द का उपयोग किस प्रकार किया बाता है। इस सम्वन्ध में स्टीवेन्सन तथा हेयर की भांति नावलस्मिथ ने भी सब्दार्य सम्बन्धी निर्देशात्मक सिद्धान्त को बस्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध उनका कथन है कि सभी शब्द– विशेषतः विशेषण हमें किन्हीं गुणों का बोध नहीं कराते। हमारी भाषा में बहुत–से शब्द ऐसे हैं जो बास्तव में बस्वों के गुणों का वर्णन नहीं करते। स्पष्ट है कि ऐसे शब्दों के अर्थ की व्याख्या निर्देशात्मक सिद्धान्त द्वारा नहीं की जा सकती। यही कारण है कि नावलस्थिय से इस सिद्धान्त की दो बाधारभूत मान्यताबों को बस्वीकार किया है। इसकी स्वर मान्यता यह है कि सभी विशेषण गुणों के नाम है और उनका कार्य अनिवार्यतः कुछ गुणों का वर्णन करना ही है। इस सिद्धान्त की दूसरी मान्यता – जो प्रथम मान्यता के साथ अनिवार्यतः संबद्ध है– यह है कि "कोई व्यक्ति किसी शब्द का क्या अर्थ समझता है" यह पूछने के स्थान पर हम यह पूछ सकते हैं कि "किसी शब्द का अर्थ क्या है।" निर्देशात्मक सिद्धान्त की प्रथम मान्यता के विषय में नावलस्मिथ ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या सभी विशेषण गुणबोधक हैं। इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हुए वे कहते हैं– "यह कहना कि शुभत्व एक गुण है हमें इस विवादास्पद कथन को स्वीकार करने के लिए बाध्य करना है कि 'शुभ' का प्रयोग भी उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार 'नीला', 'तीव्र' तथा 'गोल' का ।" वस्तुतः नावलस्मिथ के विचार में 'शुभ', 'उचित' आदि मूल्यात्मक शब्द किन्हीं विशेष प्राकृतिक या निर्प्राकृतिक गुणों का वर्णन नहीं करते, अतः इन शब्दों को वर्णनात्मक शब्दों की भांति गुणबोधक मानकर इनके अर्थ की व्याख्या नहीं की

जा सकती। इसी कारण वे निर्देशात्मक सिद्धान्त की प्रथम मान्यता को अस्वीकार करते हैं। इस सिद्धान्त की दूसरी मान्यता भी मूलतः प्रथम मान्यता पर ही आधारित है, अतः इसे भी नावलस्मिथ उचित नहीं मानते। उनका विचार है कि यह मान्यता भाषा के उपयोग की उपेक्षा करती है। इसी आधार पर निर्देशात्मक सिद्धांत की दूसरी मान्यता को अस्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि 'किसी शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के स्थान पर मैं दो प्रश्न प्रस्तुत करना चाहूंगा– 'किस कार्य के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है?' और 'किन परिस्थितियों में उस कार्य के लिए इस शब्द का प्रयोग करना उचित है?' "36 इस प्रकार नावलस्मिथ यह मानते हैं कि प्रसंगानुसार प्रत्येक शब्द के उपयोग द्वारा ही उसका ठीक–ठीक अर्थ निश्चित किया जा सकता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि नावलस्मिथ के विचार में कोई भी शब्द सभी प्रसंगों में केवल एक ही कार्य नहीं करता। हमारी भाषा में अधिकतर शब्द ऐसे ही हैं जो विभिन्न प्रसंगों में भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी शब्द का सभी प्रसंगों में एक ही निश्चित अर्थ बताना न तो संभव है और न उचित । प्रत्येक शब्द का अर्थ किसी विशेष प्रसंग में उसके उपयोग को ध्यान में रखकर ही निश्चित किया जा सकता है। भाषा–विश्लेषण करने वाले दार्शनिक का कार्य प्रसंगानुसार कथनों के उपयोग के आधार पर उनका अर्थ स्पष्ट करना है। अपनी इसी मान्यता के कारण नावलस्मिथ ने नैतिक निर्णयों के अर्थ की

व्याख्या करने के लिए भी उपयोग–सिद्धांत को ही स्वीकार किया है। उनका मत है कि ये निर्णय सभी प्रसंगों में एक ही प्रकार का कार्य नहीं करते, अतः इनका कोई एक अर्थ नहीं हो सकता । वस्तुतः ये निर्णय बहु–उद्देश्यीय होते हैं, क्योंकि विभिन्न प्रसंगों में ये भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। इसी उपयोग–सिद्धांत के आधार पर नैतिक निर्णयों के व्यापक अर्थ की व्याख्या करते

हुए नावलस्मिथ रुहते हैं कि "सर्वाधिक प्रचलित व्यावहारिक शब्दों का कोई एक ही उपयोग नहीं होता। उनके बहुत से उपयोग होते हैं और किसी भी अवसर पर एक से अधिक कार्यों के लिए उनका प्रयोग किया जा सकता है। जिन शब्दों के साथ नीति– शास्त्रियों का विशेष संबंध है और जिन्हें सामान्यतः 'मूल्यात्मक शब्द' कहा जाता है वे बहुत–सी भिन्न–भिन्न भूमिकाएं निभाते हैं। उनका प्रयोग वैयक्तिक रुचियों एवं प्राथमिकताओं को व्यक्त करने, निर्णयों तथा पसंद को व्यक्त करने, आलोचना करने, मूल्यांकन करने, परामर्श देने, भर्त्सना करने, चेतावनी देने, मनाने तथा रोकने, प्रशंसा करने, प्रोत्साहित करने, निदा करने, नियमों को घोषित करने तथा उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करने और निस्संदेह जमा उद्देश्यों के लिए भी किया जाता है। ये क्रियाएं नैतिक भाषा के जटिल ढांचे का निर्माण करती है और हमारी समस्या इनमें संबंध खोजना है तथा यह समभाना है कि एक ही शब्द का प्रयोग इन सब भिन्न–भिन्न क्रियाओं के लिए किस प्रकार किया जा सकता है। कोई मनुष्य किसी विशेष समय पर किती विशेष मूल्यात्मक शब्द का प्रयोग सिम अर्थ में कर रहा है यह इस बात की परीक्षा करके ही मालूम किया जा सकता है कि वह किसी विशेष प्रसंग में उसके द्वारा क्या कहता है।"37 गावलस्मिथ के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार नैतिक भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है और इसका प्रयोग विभिन्न प्रसगों में भिन्न–भिन्न उद्देश्यों के लिए किया जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं होगा कि नैतिक भाषा वर्णनात्मक, संवेगात्मक या आदेशात्मक है अथवा वह सभी प्रसंगों में कोई एक ही कार्य संपन्न करती है। नैतिक भाषा के संबंध में नावलस्मिथ की इस मान्यता के कारण कुछ दार्शनिकों ने उनके सिद्धांत को 'बहुक्रियावाद' की संज्ञा दी है। 8 नैतिक भाषा के अर्थ और स्वरूप के विषय में नावलस्मिय का यह अशुक्रियावाद कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है इस प्रश्न पर हम अगले खंड में विचार करेंगे।

स्टीर्बन्सन तथा हेयर की भांति नावलस्मिथ ने भी 'शुभ' या 'अच्छा', अषित', 'कर्तव्य', 'बाहिए' आदि प्रमुख नैतिक शब्दों के अर्थ का विस्तृत विवे–चन किया है। हेयर के समान ही वे भी उपयोग–सिद्धांत के आधार पर ही इन नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या करते हैं। 'शुभ' अथवा 'अच्छा' शब्द के संबंध में नावलस्मिथ का कथन है कि इस शब्द का कोई एक ही अर्थ नहीं है, क्योंकि विभिन्न प्रसंगों में वा एक ही प्रसंग में इसका प्रयोग एक से अधिक अर्थों में किया जाता है। सर्वप्रथम हम चुनने की क्रिया के संदर्भ में 'शुभ' शब्द का प्रयोग करते हैं। जब हम अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को चुनते हैं अथवा बुनना चाहते हैं तो हम अनिवार्यतः उसे शुभ कहते हैं। हमारे लिए यह कहना निश्चय ही बहुत विचित्र होगा कि "हम अमुक वस्तु को चुनना चाहते हैं, किन्तु यह वस्तु शुभ या अच्छी नहीं है"। इसका कारण यह है कि हम सामान्यतः उसी वस्तु को चुनते हैं जिसे हम अच्छी मानते हैं। इस प्रकार नावलस्मिथ के विचार में चुनने की क्रिया के साथ 'शुभ' का अनिवार्य संबंध है। इसके अतिरिक्त दूसरों को परामर्श देने की क्रिया के साथ भी वे 'शुभ' का अनिवार्य संबंध स्वीकार करते है। जब हम किसी को कोई कर्म करने का परामर्श देते हैं तो हम निश्चय ही उस कर्म को शुभ या अच्छा मानते हैं। यदि हम किसी व्यक्ति से यह कहते हैं कि "तुम्हें अमुक कर्म करना चाहिए, कितु वह कर्म शुभ नहीं है" तो सामान्यतः हमारे इस कथन को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। इससे यही सिद्ध होता है कि परामर्श देने की क्रिया के साथ भी 'शुभ' का अनिवार्य संबंध है।

वस्तुतः नावलस्मिय यह मानते हैं कि जब हम किसी वस्तु के विषय में 'शुभ' या 'अच्छी' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम उसके प्रति अनिवार्यतः अपना अनु– मोदन अभिव्यक्त करते हैं और हमारा यह अनुमोदन चुनने तथा परामर्श देने की क्रियाओं के साथ अवश्य संबद्ध रहता है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर

'शुभ' के अर्थ की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "किसी वस्तु को शुभ कहना एक प्रकार से उसके पक्ष में मत देना है; उसका समर्थन करना है; दूसरों को यह बताना है कि मेरा मत क्या है? परन्तु यह इसके अतिरिक्त कुछ और भी है। इसका अर्थ यह है कि मैंने जो मत दिया है उसके लिए मेरे पास कारण हैं। चुनने के संदर्भ में 'शुभ' का प्रयोग करने के लिए जो कारण दिये जाते हैं वे परामर्श के संदर्भ में भी समान रूप से लागू होते हैं। यह अच्छा है, किंतु मैं तुम्हें इसे करने का परामर्श नहीं देता' यह कहना उसी प्रकार अयुक्तिसंगत है जिस प्रकार यह कहना कि 'यह सर्वोत्तम कर्म है, किंतु क्या मैं इसे करूं? 39 इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नावलस्मिथ वक्ता के अनुमोदन की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त चुमने तथा परामर्श देने की क्रियाओं के साथ भी 'शुभ' को अनिवार्यतः संबद्ध मानते हैं।

हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह स्वीकार करते हैं कि 'शुभ' का मुख्य अर्थ मूल्यात्मक या प्रशंसात्मक तथा उसका गौण अर्थ वर्णनात्मक होता है। 'ईमानदार', 'साहसी', 'उदार' आदि सद्‌गुण सम्बन्धी शब्दों के समान ही 'शुभ' का प्रयोग भी हम मुख्यतः प्रशंसात्मक अर्थ में करते हैं। परन्तु नावलस्मिथ के अनुसार 'शुभ' तथा अन्य सद्‌गुण संबंधी शब्दों के प्रशंसात्मक अर्थ में एक महत्व– पूर्ण अंतर होता है। अब हम अन्य सद्‌गुण सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग करते हैं तो इन शब्दों के अर्थ में ही हमारी प्रशंसा का कारण भी स्पष्टतः विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ जब हम किसी मनुष्य को 'साहसी' या 'उदार' कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो दूसरा व्यक्ति तुरन्त यह जान लेता है कि हम उस मनुष्य के विस इकार के आचरण के कारण उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि इन सद्‌गुण सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग मनुष्य के किसी एक प्रकार के प्रशंस– वीय आवरण के लिए ही किया जाता है, अतः इनका वर्णनात्मक अर्थ स्पष्ट और निश्चित होता है। परन्तु 'शुभ' के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब हम

किसी वस्तु को शुभ कहते हैं तो इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि हम उस वस्तु के किस गुण अथवा किन गुणों के कारण उसकी प्रशंसा कर रहे हैं, थोंकि 'शुभ' शब्द का वर्णनात्मक अर्थ प्रसंगानुसार परिवर्तित होते रहने के कारण बहुत ही अस्पष्ट तथा अनिश्चित होता है। यदि मैं यह कहता हूं कि "अमुक बस्तु शुभ है" तो मेरे इस कथन से दूसरा व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि मैं उस वस्तु को शुभ क्यों कह रहा हूं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे उस बन्तु के उन गुणों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करना होगा जिनके कारण मैं उसे शुभ कहता हूं। इस दृ ष्टि से 'शुभ' शब्द अन्य सद्गुण संबंधी शब्दों से भिन्न प्रहार का है।

परन्तु हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह मानते है कि प्रशंसात्मक अर्थ के साथ–साथ प्रत्येक प्रसंग में 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ भी अवश्य होता है। जब हम पिसी बस्तु को शुभ कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो हमारी यह प्रशंसा अकारण नहीं होती। हम इस प्रश्न को उचित मानते हैं और इसका उत्तर देने के लिए भी तैयार रहते हैं कि उस वस्तु के किन गुणों के कारण हम उसे शुभ कहते हैं। बस्तु के इन गुणों में ही 'शुभ' का वर्णनात्मक अर्थ विद्यमान रहता है। गुन' के इस वर्णनात्मक अर्थ की व्याख्या नावलस्मिथ ने इस प्रकार की है– "जब हम किसी बस्तु को शुभ कहते हैं तो हम सदैब उसके किसी गुण के कारण ही उसे शुभ कहते हैं और इस प्रश्न का उत्तर अनुभव द्वारा दिया जा सकता है कि उसमें यह गुण है या नहीं। अच्छे चाकू' का अर्थ यह है कि उसमें वे गुण है जो अपना कार्य भली–भांति करने के लिए चाकू में अवश्य होने चाहिएं। "५० 'शुभ' के संबंध में 'आक्सफोर्ड शब्दकोश' की परिभाषा को स्वीकर करते हुए नावलस्मिथ कहते हैं कि 'शुभ' शब्द वस्तु के जिन गुणों की ओर संकेत करता है वे या तो अपने आप में प्रशंसनीय होते हैं अथवा वे किसी विशेष उद्देश्य की पूति के लिए आवश्यक

होते हैं। इस प्रकार 'शुभ' के प्रशंसात्मक अर्थ तथा वर्ण– नात्मक अर्थ के स्वरूप और महत्त्व के विषय में नावलस्मिथ का मत हेयर के मत के समान ही है।

नावलस्मिथ हेयर के इस मत का भी समर्थन करते हैं कि नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' का अर्थ निर्नेतिक प्रसंगों में इसके अर्थ से मूलतः भिन्न नहीं होता। नावलस्मिथ के गतानुसार दोनों प्रसंगों में 'शुभ' शब्द बक्ता के अनुमोदन को अवश्य अभिव्यक्त करता है। परन्तु हेवर की भांति उनका कथन है कि नैतिक प्रसंगों में 'शुभ' के साथ चुनने और परामर्श देने की क्रियाएं अनिवार्यतः संबद्ध रहती हैं। इसी कारण यह कहना बहुत ही अयुक्तिसंगत प्रतीत होता है कि "अमुक कर्म नैतिक दृष्टि से शुभ है, किंतु मैं उसे नहीं करूंगा अथवा आप उसे न कीजिए।" नावलस्मिथ यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी गार्ग के प्रति अनुमोदन का अनुभव किए बिना हम उसे शुभ नहीं कह सकते। 41 हम ऊपर देख चुके हैं कि किसी भी वस्तु को शुभ या अच्छी कहने का अर्थ यह है कि हम उसकी प्रशंसा करते हैं– अर्थात् उसके प्रति हम अपना अनुमोदन अभिव्यक्त करते हैं। स्पष्ट है कि इस दृष्टि से नैतिक तथा निर्नेतिक प्रसंगों में 'शुभ' के अर्थ में कोई आधारभूत अंतर नहीं है। हेयर के समान ही नॉवलस्मिथ का भी मत है कि जब हम नैतिक निर्णयों में 'शुभ' का प्रयोग करते हैं तो इन निर्णयों का सार्वलौकिक होना अनिवार्य है। यदि कोई व्यक्ति किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से शुभ कहता है तो वह समान परिस्थितियों में उसी प्रकार के सभी कमों को शुभ कहने के लिए ताकिक दृष्टि से अपने आप को प्रतिबद्ध करता है। शुभ के अर्थ के विषय में नावलस्मिय का यह मत निश्चय ही उचित है, किंतु, जैसा कि हेयर ने सविस्तार स्पष्ट किया है, इस शब्द के अर्थ की उपर्युक्त विशेषता निर्देतिक प्रसंगों में भी समान रूप से पाई जाती है। ऐसी स्थिति में बक्ता के अनुमोदन की अभिव्यक्ति के समान ही सार्वलौकिकता के आधार पर भी नैतिक प्रसंगों में 'शुभ'

के अर्थ को निर्देतिक प्रसंगों में उसके अर्थ से पृथक् नहीं किया दरामर्शबाद जा सकता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि नैतिक तथा निर्देतिक प्रसंगों में 'शुभ' के अर्थ की आधारभूत समानता के संबंध में भी दावलस्पिथ का हेयर से कोई विशेष मतभेद नहीं है।

शुम' की भांति 'उचित', 'चाहिए' तथा 'कर्तव्य' के अयं के विषय में भी रावलस्मिथ ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनका मत है कि 'शुभ' के समान ही ये तीनों शब्द भी अनिवार्यतः बक्ता के अनुमोदन को अभिव्यक्त करते हैं। इस हम किसी कर्म के संबंध में 'उचित', 'बाहिए' और 'कर्तव्य' इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम अवश्य ही उस कर्म के प्रति अपना अनुमोदन व्यक्त करते है। इस दृष्टि से इन शब्दों का अर्थ 'शुभ' के अर्थ के समान ही है। परन्तु रावतस्मिथ का कथन है कि 'उचित', 'चाहिए' तथा 'कर्तव्य' का प्रयोग मुख्यतः किसी को कुछ करने का परामर्श देने के लिए ही किया जाता है, अतः परामर्श का यह तत्त्व इन तीनों शब्दों के अर्थ की प्रमुख विशेषता है। इस समान विशेषता के होते हुए भी 'उचित' और 'चाहिए' के अर्थ में कुछ अन्तर अवश्य है। इस बत्तर को स्पष्ट करते हुए नावलस्मिथ कहते हैं कि 'चाहिए' का प्रयोग वक्ता के निर्णयों तथा आदेशों को अभिव्यक्त करने के लिए किया जाता है, जबकि 'उचित' का प्रयोग मुख्यतः इन निर्णयों और आदेशों का समर्थन करने के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'शुभ' तथा 'उचित' के अर्थ में भी पर्याप्त बंतर है। 'उचित' शब्द का प्रयोग हम प्रायः 'नियम के अनुरूप होने' के अर्थ में करते हैं, किंतु 'शुभ' के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन दोनों शब्दों के वर्ष में इस अन्तर को भी नावलस्मिथ ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उनका कथन है कि उचित' शब्द का प्रयोग प्रायः उस प्रसंग में किया जाता है जिसके साथ नियमों अथवा कानूनों का संबंध होता है और ऐसे प्रसंगों में संयतः इसका अर्थ होता है 'नियम या कानून के अनुरूप

होना'। " हम देख दुहे हैं कि रॉस तथा हेयर ने भी 'उचित' के अर्थ की ऐसी ही व्याख्या की है। राजु नावलस्मिथ का विचार है कि 'उचित' के साथ उन नियमों अथवा कानूनों के प्रति वक्ता का अनुमोदन अनिवार्यतः संबद्ध रहता है जिनके अनुतार वह कर्म करता है। इसी कारण वे 'शुभ' की भांति 'उचित' को भी मुख्यतः अनुमोद– नात्मक शब्द ही मानते हैं।

'बाहिए' के अर्थ के संबंध में नावलस्मिथ का कथन है कि इस शब्द का प्रयोग मुस्यतः किसी को कुछ करने का परामर्श देने के लिए ही किया जाता है।

यही कारण है कि जिस बाक्य में हम 'चाहिए' शब्द का प्रयोग करते हैं बह हमें आजा अथवा आदेश के समान ही प्रतीत होता है। नावलस्मिथ यह तो स्वोकार करते हैं कि आज्ञाओं तथा जिन वाक्यों में 'चाहिए' शब्द का प्रयोग किया जाता है उनमें कुछ समानता अवश्य है, कितु उनका मत है कि इन दोनों को समानार्थकः मान लेना हमारी बहुत बड़ी मूल होगी। वस्तुतः जिन वाक्यों में हम 'चाहिए' शब्द का प्रयोग करते हैं वे आदेशों अथवा आज्ञाओं से पर्याप्त सीमा तक भिन्न होते हैं। इन दोनों में जो आधारभूत अंतर है उसे नावलस्मिथ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है। जब कोई व्यक्ति आज्ञा या आदेश देता है तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह इसके समर्थन में उचित कारण अथवा तर्क प्रस्तुत करें। इसके विपरीत जब कोई व्यक्ति किसी से यह कहता है कि "तुम्हें अमुक कर्म करना चाहिए" तो हम उससे यह अनुरोध करना आवश्यक समझते हैं कि वह अपने इस कथन के लिए उचित कारण बताए। इससे स्पष्ट है कि उन कथनों या निर्णयों को आज्ञाओं अथवा आदेशों के समान नहीं माना जा सकता जिनमें हम 'चाहिए' शब्द का प्रयोग करते हैं। नावलस्मिथ के मतानुसार इन दोनों को समानार्थक मानना उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार "अमुक वस्तु शुभ है" और "मैं अमुक बस्तु को पसंद करता हूं" इन दोनों कथनों को समानार्थक मानना। इस प्रकार ये निर्णय आदेशों

से भिन्न प्रकार के होते हैं, अतः आदेशों अथवा अज्ञात्रों के आधार पर इनका अर्थ स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए नावलस्मिथ ने उस धर्मशास्त्रीय सिद्धांत को अस्वीकार किया है जो ईश्वरादेशों के आधार पर नैतिक निर्णयों की परिभाषा करता है। 45 यहां यह उल्लेखनीय है कि स्टीवैन्सन, ऐडवस, हेयर आदि अन्य दार्शनिकों ने भी नैतिक निर्णयों तथा आदेशों अथवा आज्ञाओं में मुख्यतः यही अंतर बताया है।

हम देख चुके हैं कि नावलस्मिथ के विचार में 'उचित' और 'चाहिए' की भांति 'कर्तव्य' शब्द का प्रयोग भी किसी को कुछ करने का परामर्श देने के लिए हो किया जाता है। परंतु उनका मत है कि 'कर्तव्य' का अर्थ 'उचित' तथा 'चाहिए' के अर्थ से कुछ भिन्न है। मूर की भांति वे भी यह मानते हैं कि 'कर्तव्य' में बाध्यता का तत्त्व अनिवार्यतः निहित रहता है और यही तत्त्व इस शब्द के अयं को 'उचित' तथा 'चाहिए' के बर्थ से पृथक करता है। जब मैं यह कहता हूं कि "अमुक कर्म करना मेरा कर्तव्य है" तो सामान्यतः इसका अर्थ यही होता है कि "इच्छा न होते हुए भी वह कर्म करने के लिए मैं बाध्य हूं। स्पष्ट है कि जिस कर्म को हम अपना कर्तव्य मानते हैं उसके संबंध में हमारी स्वतंत्रता अनिवार्यतः जीभित हो जाती है। हम सामान्यतः अपनी इच्छा से वह कर्म नहीं करते, किंतु उसे करने के लिए हमें बाध्य होना पड़ता है। नावलस्मिथ के शब्दों में, "मेरे कर्तव्य बे हैं जिन्हें करने के लिए मैं बाध्य हूं और यह संयोग की बात नहीं है कि नैतिक नियमों तथा देश के कानूनों का पालन करवाने के लिए दंड की व्यवस्था की बाती है।"२७ इसके अतिरिक्त नावलस्मिथ मूर के इस मत का भी समर्थन करते है कि प्रायः ऐसे कर्मों को ही व्यक्ति के कर्तव्य माना जाता है जो उसके अपने हित के लिए नहीं, अपितु दूसरों के हित के लिए आवश्यक होते हैं। परंतु नावन– स्मिथ के अनुसार केवल इसी तथ्य के आधार पर 'कर्तव्य' की परिभाषा नहीं की जा

सकती। हम अनेक कारणों से प्रेरित होकर अपने कर्तव्य का पालन करते हैं जिनमें अवांछनीय परिणामों का भय भी सम्मिलित है। अनेक बार हम कर्तव्य बेठना–अर्थात् कर्तव्य के लिए ही कर्तव्य का पालन करने की इच्छा से प्रेरित होकर भी अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

नावलस्मिय का कथन है कि कानूनी तथा नैतिक कर्तव्यों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। कुछ नैतिक कर्तव्यों को कानूनी कर्तव्यों के रूप में स्वीकार कर लिया बाता है और कुछ कानून ऐसे होते हैं जो अनैतिक आचरण को कानूनी अपराध घोषित करते हैं। इसके अतिरिक्त अपने देश के कानूनों का पालन न करना भी सामान्यतः नैतिक दृष्टि से अपराध माना जाता है। नैतिक कर्तब्य और देश के कानून दोनों ही मनुष्य को विशेष प्रकार का आचरण करने या न करने का आदेश देते हैं। दोनों का उल्लंघन करना सामान्य परिस्थितियों में अनुचित माना जाता है बौर इसके लिए मनुष्य को दंड दिया जाता है, किंतु इन दोनों के उल्लंघन के निए दंड के रूप भिन्न–भिन्न होते हैं। कानूनी कर्तव्य की भांति नैतिक कर्तव्य भी मनुष्य की स्वतंत्रता को सीमित करता है। इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए नावल स्मिथ कहते हैं कि "मैं जिस लड़की से विवाह करना चाहता हूँ उससे विवाह करने के लिए मैं स्वतंत्र नहीं हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि इनसे मेरी माता का दिल टूट जाएगा और उसके प्रति मैं अपने नैतिक कर्तव्य से बाध्य हैं। नैतिक कर्तब्य ऐसा कर्तव्य है जो मुझे वह कर्म करने के लिए बाध्य करता है जिसे मैं उस कर्तव्य के अभाव में न करता। नैतिक कर्तव्य की पूति करने के लिए मनुष्य स्वेच्छया कर्म तो करता है, किंतु वह स्वतंत्रतापूर्वक इस कर्म का चुनाव रहीं करता। जो विशेषता नैतिक कर्तव्यों को अन्य सभी कर्तव्यों से पूचक करती है वह यह है कि नैतिक कर्तव्य बात्मारोपित होते हैं।

जब नावलस्मिथ नैतिक कर्तव्यों को 'आत्मारोपित कर्तव्य' कहते हैं तो इससे उनका तात्पर्य यह है कि मनुष्य स्वयं ही इन कर्तव्यों को अपने ऊपर आगे. पित करता है। ईश्वर, समाज, कानून आदि कोई भी बाह्य वाक्ति उसे इन कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं करती। इस दृष्टि से नैतिक रर्तब्य अन्य सभी कर्तव्यों से भिन्न प्रकार के हैं। परंतु फिर भी नावलस्मिथ के मतानु. सार मनुष्य अन्य कर्तव्यों की भांति नैतिक कर्तव्यों का पालन भी अपनी नैसगिक इच्छा से प्रेरित होकर अनायास ही नहीं करता। इसके लिए वह एक विशेष प्रकार की बाध्यता का अनुभव करता है जो उसकी स्वाभाविक इच्छाओं को नियंत्रित करती है। अपनी इसी मान्यता को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए नावन– स्मिथ कहते हैं कि "यदि लोग सत्य बोलने के लिए कभी भी अनिच्छुक न होते तो हम सत्य बोलने को कर्तव्य के रूप में स्वीकार न करते। यदि हम केवस ऐसे कर्मों को करने का वादा करते जिन्हें करने से हमें आनंद मिलता है तो वचन का पालन करना कर्तव्य न माना जाता। 48 इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि नावलस्मिथ के विचार में अन्य कर्तव्यों की भांति नैतिक कर्तव्यों में भी बाध्यता का तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। वस्तुतः कर्तव्य की यही अनिवार्य विशेषता उसे 'शुभ', 'उचित', 'चाहिए' आदि अन्य सभी नैतिक शब्दों से पृथक करनी है।

प्रमुख नैतिक शब्दों के अर्थ के अतिरिक्त 'नैतिक नियमों' के अर्थ के विषय में भी नावलस्मिथ ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका मत है कि जिन नियमों के आधार पर मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में सदैव कर्म करने का निर्णय करता है उन्हें ही 'नैतिक नियम' कहा जा सकता है। ये नियम मनुष्य की विशेष अनुमोदनात्मक अभिवृत्तियां हैं जो उसके आचरण को निर्धारित करती हैं। नावलस्मिथ ने नैतिक नियमों की तीन मुख्य विशेषताएं बताई हैं जो उनके अनुसार इन नियमों में अनिवार्यतः विद्यमान रहती हैं। (1) नैतिक नियमों का मनुष्य के

जीवन में सर्वप्रमुख स्थान होता है, अतः बह किसी प्रकार के भय अथवा प्रलोभन के कारण इनका परित्याग करने के लिए उद्यत नहीं होता। यही नहीं, वह अपने नैतिक नियमों के लिए अपनी किसी भी बहुमूल्य वस्तु का परित्याग कर सकता है। वह सदैव इन नियमों के अनुरूप आचरण करता है और किसी नैतिक नियम का उल्लंघन तभी करता है जब उस नियम की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण नैतिक नियम के लिए ऐसा करना अनिवार्य हो जाए। हेयर की भांति नावलस्मिथ भी यह मानते हैं कि मनुष्य के आचरण से ही हम यह जान सकते हैं हि वह वास्तव में किन नैतिक नियमों को स्वीकार करता है। इस प्रकार इन दोनों हातांत्रिकों के अनुसार नैतिक नियमों का मनुष्य के आचरण के साथ अनिवार्य संबंध है।

¼2) नैतिक नियमों की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यदि मनुष्य इम नियनों के विरुद्ध आचरण करता है तो उसके मन में अपराध बोष तया वावाताप की भावनाएं अवश्य उत्पन्न होती हैं। यही कारण है कि वह इन दिवमों के उल्लंघन को साधारण बात न मान कर बहुत गंभीर दोष के रूप में स्वीकार करता है।

¼3) सार्वलौकिकता नैतिक नियमों की तीसरी प्रमुख विशेषता है। किसी भी नियम को 'नैतिक नियम' तब तक नहीं माना जा सकता जब तक मनुष्य समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों पर उसे लागू करने के लिए उद्यत नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि समान परिस्थितियों में किसी नैतिक नियम का कोई अपवाद नहीं हो सकता ।०० स्पष्ट है कि नावलस्मिथ के अनुसार सार्वलौकिकता के अभाव में हम किसी नियम को 'नैतिक नियम' नहीं कह सकते। जैसाकि हम पिछले खंड में देख चुके हैं, हेयर ने भी सार्वलौकिकता को नैतिक नियमों के लिए

अनिवार्य माना है। बस्तुतः सार्वलौकिकता केवल नैतिक नियमों की ही नहीं, अपितु सभी प्रकार के नियमों की अनिवार्य विशेषता है, क्योंकि 'नियम' उसे ही बहा जा सकता है जो समान परिस्थितियों में सभी पर समान रूप से लागू हो सके। परंतु अन्य दो विशेषताएं केवल नैतिक नियमों में ही पाई जाती है और संभवतः रह कहना अनुचित न होगा कि ये दो विशेषताएं ही इन नियमों को अन्य सभी शहर के नियमों से पृथक करती हैं। इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रहते हुए, हम यह कह सकते हैं कि नावलस्मिथ ने नैतिक नियमों के अर्थ का जो विश्लेषण किया है वह निश्चय ही उचित एवं युक्तिसंगत है।करते हैं। परन्तु जब उपयोगिता तथा आदर्श में संघर्ष होता है और मनुष्य इन दोनों में से किसी एक के अनुसार ही आचरण कर सकता है तो उसे बहुत कठिन सपिष्ठले खंडों में हमने परामर्शवाद की मुख्य आधारभूत मान्यताओं तथा इस सिद्धांत के दो प्रमुख प्रतिनिधियों– हेयर और नावलस्मिथ के मत का विस्तृत विदेचार किया है। अब अंत में इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि यह सिद्धांत नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण की कहां तक उचित एवं मुक्ति– संगत ब्याख्या कर पाता है। संभवतः यह कहना अनुचित न होगा कि परामर्शवाद उन सभी सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद है जिन पर हमने पिछले अध्यायों में विचार किया है। इसका कारण यह है कि इस सिद्धांत में नैतिक निर्णयों के वर्ण– नात्मक पक्ष तथा मूल्यात्मक पक्ष दोनों का समुचित महत्त्व और स्थान स्वीकार किया गया है। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धांत के दोनों समर्थक – हेयर तथा नावलस्मिथ – नैतिक निर्णयों के वर्णनात्मक अर्थ को पर्याप्त महत्त्व देते हैं और यह मानते हैं कि इसके अभाव में किसी भी कथन को 'नैतिक निर्णय' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। हम जब भी कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो इस निर्णय द्वारा हम निर्णीत वस्तु के कुछ विशेष गुणों की ओर अवश्य संकेत करते हैं जिनके आधार पर हमारे निर्णय को

उचित अथवा युक्तिसंगत सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परामर्शबाद में प्रकृतिबाद, निर्प्रकृतिवाद आदि वर्णनात्मक सिद्धांतों की एक मूल विशेषता – वर्णनात्मक तत्त्व को समुचित स्थान प्रदान किया गया है। परंतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, परामर्शवाद वर्णनात्मक सिद्धांत नहीं है, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार नैतिक निर्णयों के अर्थ की व्याख्या किसी प्रकार के तथ्यात्मका कथमों के आधार पर ही नहीं की जा सकती। अपनी इसी मान्यता के कारण इस सिद्धांत के समर्थकों ने प्रकृतिवाद तथा निर्प्रकृतिवाद दोनों वर्णनात्मक सिद्धांतों को अस्वी कार किया है। इन सिद्धांतों के विरुद्ध उनकी यह आपत्ति उचित ही प्रतीत होती है कि ये नैतिक निर्णयों को पूर्णतः तथ्यात्मक मान कर उनके मूल्यात्मकः तत्त्व की उपेक्षा करते हैं।

इसके अतिरिक्त हेयर तथा नावलस्मिथ का यह मत भी उचित है कि नैतिक निर्णयों का मनुष्य के आचरण के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है और ये निर्णय व्यावहारिक जीवन में उसका मार्गदर्शन करते हैं। हम देख चुके हैं कि मार्ग– दर्शन की इस क्रिया का संबंध विवेकशील मनुष्य के आचरण से है, अतः यह एक बौद्धिक क्रिया है जिसके लिए तर्क प्रस्तुत करना आवश्यक है। इस दृष्टि से नैतिक निर्णयों को बौद्धिक कथन मान कर हेयर और नावलस्मिथ ने संवेगवाद का जो खंडन किया है वह निश्चय ही उचित है। संवेगबाद के विरुद्ध इन दोनों दार्शनिकों का यह मत भी उचित है कि नैतिक निर्णय मुख्यतः संवेगात्मक नहीं होते– अर्थात् संवेगों या भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना इन निर्णयों का प्रमुख उद्देश्य नहीं होता । इस प्रकार वर्णनात्मक सिद्धांतों के साथ–साथ संवेगबाद के बिरुद्ध उन्होंने जो आपत्तियां उठाई हैं वे भी अवश्य ही युक्तिसंगत हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि हेयर और नावलस्मिथ ने संवेगवाद को पूर्णतः अस्वीकार किया है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वे संवेबबाद की इस आधारभूत

मान्यता को स्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णयों का मानवीय आचरण के साथ अनिवार्य संबंध है और इसी कारण ये निर्णय वर्णनात्मक कथनों से भिन्न होते हैं। इस प्रकार हेयर तथा नावलस्मिथ एक ओर तो नैतिक निर्णयों के मूल्यात्मक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हैं और दूसरी ओर वे इन निर्णयों के वर्णनात्मक पक्ष की भी उपेक्षा नहीं करते, अतः उनका सिद्धांत अभी तक वणित अन्य सभी सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक संतुलित एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

परंतु परामर्शबाद की प्रमुख विशेषताओं के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि यह सिद्धांत नैतिक निर्णयों के कर्ष एवं प्रमाणीकरण की पूर्णतः संतोषप्रद व्याख्या करता है और सभी दार्शनिक इसे पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। यद्यपि यह सिद्धांत प्रकृतिवाद, निर्प्रकृतिवाद तथा संवेगबाद की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद है, फिर भी अनेक दार्शनिकों ने इसके विरुद्ध कुष्ठ आपत्तियां उठाई हैं। इन दार्शनिकों में जी० जे० वारनॉक, ए० सी० मैकिन्टा वर, जो० सी० करनर, पी० टी० गीच, फिलिपा फुट और जे० आर० सर्ल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी दार्शनिक हेयर तथा नावलस्मिथ की इस बाधारभूत मान्यता को स्वीकार नहीं करते कि मूल्यात्मक निर्णय तथ्यात्मक स्थतों से अनिवार्यतः भिन्न होते हैं और इन दोनों में अलंघ्य ताकिक खाई है। उपर्युक्त दार्शनिकों में से अंतिम तीन दार्शनिकों के मत का विस्तृत विवेचन नौवें अध्याय में किया जाएगा, अतः यहां हम मुख्यतः उन्हीं आपत्तियों पर विचार करेंगे वो बारनॉक, मैकिन्टायर तथा करनर ने परामर्शवाद के विरुद्ध उठाई हैं।

जी० जे० वारनोंक ने अपनी पुस्तक "कटैम्प्रेरी मॉरल फ़िलॉसॉफ़ी" में हेयर के परामर्शबाद की तीव्र आलोचना की है। उनका मत है कि नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण दोनों की दृष्टि से यह सिद्धांत बहुत असंतोषप्रद है। हेयर

ने नैतिक निर्णयों के अर्थ की जो व्याख्या की है वह वारनॉक के विचार में नितांत एकांगी है। परामर्शवाद के विरुद्ध अपनी इस आपत्ति को स्पष्ट करते हुए वे बहते हैं कि हेयर सभी नैतिक निर्णयों को परामर्श अथवा मार्गदर्शन सम्बन्धी एक ही क्रिया तक सीमित कर देते हैं जो निश्चय ही उचित नहीं है। यह सत्य है कि कुछ प्रसंगों में नैतिक भाषा परामर्श देने अथवा मार्गदर्शन करने का कार्य करती है। उदाहरणार्थ जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि हमें क्या करना चाहिए अथवा जब हममे कोई व्यक्ति यह पूछता है कि उसे कौन–सा कर्म करना चाहिए या उसके लिए कौन–सी जीवन–पद्धति सर्वोत्तम होगी तो ऐसे प्रसंगों में हमारे नैतिक निर्णय अवश्य ही स्वयं हमारा अपना अथवा दूसरों का मार्गदर्शन करते हैं। इस प्रकार के प्रसंगों में इन निर्णयों को परामर्शात्मक या मार्गदर्शक माना जा सकता है। वारनॉक का कथन है कि केवल ऐसे ही प्रसंगों को ध्यान में देखकर हेयर ने नैतिक निर्णयों के वर्ष की व्याख्या की है। परन्तु वास्तव में नैतिक माथा केवल इन्हीं प्रसंगों तक सीमित नहीं है; उसका अर्थ कहीं अधिक व्यापक तथा विविधतापूर्ण है, क्योंकि नैतिक निर्णयों का प्रयोग विभिन्न प्रकार के प्रसंगों में किया जाता है। इन निर्णयों के अर्थ को एक ही प्रकार के प्रसंग में किसी एक उद्देश्य तक सीमित कर देना निश्चय ही उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है।

हेयर के परामर्शवाद के विरुद्ध अपनी उपर्युक्त आपत्ति को प्रस्तुत करते हुए बारनोंक ने लिखा है–"यह कैसे माना जा सकता है कि अपने अगणित विविध रूपों तथा प्रसंगों में नैतिक भाषा सदैव और अनिवार्यतः केवल एक ही भाषा सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करती है? सामान्य भाषा के संबंध में कोई भी व्यक्ति ऐसा कहने का विचार नहीं करेगा; परंतु नैतिक भाषा– अर्थात् वह भाषा जिसमें नैतिक शब्दों का प्रयोग होता है– इस दृष्टि से सामान्य भाषा की अपेक्षा कम व्यापक अथवा विविधार्थक नहीं है। कम से कम ऐसे दर्जनों कार्य हैं जो नैतिक शब्दों का

प्रयोग करने वाले व्यक्ति इन शब्दों द्वारा संपन्न करते हैं। "50 इन कार्यों में वारनॉक ने उपदेश देना, आग्रह करना, आदेश देना, निंदा करना, दुःख व्यक्त करना, निश्चय करना, अपना अपराध स्वीकार करना, उत्तरदायित्व लेना आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया है। परंतु उनकी इस आपत्ति के उत्तर में हेयर यह कह सकते हैं कि वे 'परामर्श' अथवा 'मार्गदर्शन' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में करते हैं, अतः उपर्युक्त तथा ऐसे ही अन्य सभी कार्य इसके अंतर्गत सम्मिलित हैं। वस्तुतः बारनॉक ने 'परामर्श' और 'मार्गदर्शन' का जो सीमित अर्थ स्वीकार किया है उस अर्थ में हेयर ने इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया। ऐसी स्थिति में उनके सिद्धांत के विरुद्ध बारनॉक की उपर्युक्त आपत्ति पूर्णतः उचित और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। संभवतः यही कारण है कि उन्होंने अपनी इस नापत्ति को एक अन्य रूप में प्रस्तुत किया है जिसका संबंध मनुष्य के आचरण से है।

वारनॉक का कथन है कि हेयर के परामर्शवाद की अपेक्षाकृत अधिक मुक्ति–संगत व्याख्या एक अन्य प्रकार से की जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि हेयर का सिद्धांत इस अर्थ में परामर्शात्मक है कि इसके अनुसार नैतिक शब्दों तथा मनुष्य के कर्मों में विशेष संबंध होता है। मनुष्य द्वारा किसी नैतिक निर्णय को वास्तव में स्वीकार करने का अर्थ यह है कि यह उचित अवसर पर अपनी सामर्थ्यानुसार उस निर्णय के अनुरूप अवश्य आचरण करेगा। यदि वह ऐसा नहीं करता तो इसका अर्थ यही है कि उसने वस्तुतः उस निर्णय को स्वीफार नहीं किया। व्यावहारिक जीबन में मनुष्य के कर्मों द्वारा ही हम निश्चित रूप से यह आम सकते हैं कि उसने किसी नैतिक निर्णय को सचमुच स्वीकार किया है या नहीं।

हम दूसरे अंक में देख चुके हैं कि इसी सर्च में हेयर लेतिक निर्भयों को परामर्शात्मक अथवा मारांयांक मानते हैं। बारनोंक भी यह स्वीकार करते हैं कि

नैतिक निर्णयों तथा मनुष्य के काचरण में बहुत श्रनिष्ठ संबंध है। परन्तु परामर्वा–बाद के विरुद्ध उन्नक्की आपत्ति यह है कि हेयर के अनुवार नेविस भाया तथा मानवीय आचरण में केवल एक ही प्रकार का संबंध है जिसे वे परावणं या मार्गदर्शन का संबंध कहते हैं। बारनोंक का विचार है कि हेयर का यह बत नितांत एकांगी है, क्योंकि यह नैतिक भाषा और मानवीय आबरण के संबंध को केवल एक ही पक्ष अथवा क्रिया तक सीमित कर देता है। नैतिक भाषा बहुत ही व्यापक है और जिन प्रसंगों में इसका प्रयोग किया जाता है वे भी विविध प्रकार के होखे है, अतः उसे परामर्श या मार्गदर्शन संबंधी एक ही क्रिया तक सीमित कर देना निश्चय ही उचित नहीं है। हेयर नैतिक भाषा को मुख्यतः परामर्शात्मक मानकर उसके क्षेत्र तथा उद्देश्य को बहुत ही सीमित कर देते हैं। वे स्पष्ट रूप से बहू कहते हैं कि प्रत्येक नैतिक निर्णय में कोई आदेश अवश्य निहित रहता है जिसका अर्थ यही है कि वह अनिवार्यतः परामर्शात्मक अथवा मार्गदर्शक होता है। वारनोंक का कथन है कि यदि हेयर के इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो नैविक निर्णय तथा आदेश या आज्ञा में कोई मूल भेद नहीं रह जाता। परंतु वास्तव में वे दोनों एक–दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। आज्ञाओं अथवा बादेशों का प्रयोग हम प्रायः एक ही प्रकार की स्थिति में एक ही उद्देश्य के लिए करते हैं, किंतु नैतिक निर्णयों का प्रयोग विविध प्रसंगों तथा परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के बहुत–से उद्देश्यों के लिए किया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों तथा मनुष्य के आचरण में वैसा सीमित संबंध नहीं है जैसा आदेशों और मनुष्य के वाचरण में होता है। आदेशों तथा मानवीय आचरण के संबंध की व्याख्या हम एक ही प्रकार से कर सकते हैं, किन्तु नैतिक भाषा और मानवीय आचरण के संबंध के विषय में ऐसा करना नितांत अनुचित होगा। 52 इस प्रकार वारनॉक के मतानुसार हेयर का

सिद्धांत एकांगी होने के कारण नैतिक निर्णयों के अर्थ की पूर्णतः संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाता ।

हेयर के सिद्धांत के विरुद्ध बारनॉक की उपर्युक्त आपत्ति उचित ही प्रतीत होती है, क्योंकि नैतिक भाषा को अनिवार्यतः परामर्शात्मक भाषा मानकर हेयर उसके क्षेत्र तथा उद्देश्य को सीमित कर देते हैं। संभवतः उनके सिद्धांत की इसी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए नावलस्सिय ने नैतिक भाषा को केबल परामर्थात्मक न मानकर बहु–पक्षीय अथवा बहु–उद्देश्यीय माना है। ग्रह सत्य है,

कि कुछ नैतिक निर्णय–विशेषतः वे निर्णय जिनमें 'उचित', 'चाहिए', 'कर्तव्य' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है– अवश्य ही परामर्शात्मक या मार्गदर्शक होते हैं, किन्तु सभी नैतिक निर्णयों को केवल परामर्श देने अथवा मार्गदर्शन करने की क्रिया तक ही सीमित मान लेना उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। हम देख चुके हैं कि हेयर उन नैतिक निर्णयों को भी अनिवार्यतः परामर्शात्मक मानते हैं जिनमें हम 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनका स्पष्ट और निश्चित मत है कि 'शुभ' शब्द अपने मुख्य प्रशंसात्मक अर्थ द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य ही हमारा मार्गदर्शन करता है। परंतु हेयर की इस मान्यता को पूर्णतः स्वीकार करना कुछ कठिन ही प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि अनेक प्रसंगों में हम 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग निर्णीत वस्तु की प्रशंसा करने के लिए ही करते हैं, किसी का मार्गदर्शन करने के लिए नहीं । उदाहरणार्थ यदि हम किसी मरणासन्न व्यक्ति से यह कहते हैं कि उसने अच्छा जीवन व्यतीत किया तो हम वास्तव में किसी का मार्गदर्शन न करके उस व्यक्ति की प्रशंसा ही करते हैं, क्योंकि हमारे लिए उसकी जीवन–पद्धति का अनुसरण करना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार निर्नेतिक प्रसंगों में भी हम 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग सदैव किसी का मार्गदर्शन करने के लिए नहीं करते। यदि हम यह कहते हैं कि कल

हमने जो भोजन किया वह बहुत अच्छा था तो अपने इस कथन द्वारा हम उस भोजन की प्रशंसा करते हैं, किसी व्यक्ति का मार्गदर्शन नहीं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सभी परिस्थितियों तथा प्रसंगों में 'शुभ' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग मार्गदर्शन करने के लिए नहीं किया जाता जैसा कि हेयर मानते हैं। अनेक प्रसंगों में हम इस शब्द का प्रयोग निर्णीत वस्तु के मूल्यांकन के लिए ही करते हैं जिसमें परामर्श या मार्गदर्शन का निहित होना अनिवार्य नहीं है।

कुछ दार्शनिकों ने हेयर के सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी की है कि नैतिक निर्णयों का परामर्शात्मक होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि यह सं. व है कि कोई व्यक्ति किन्हीं नैतिक निर्णयों को सचमुच स्वीकार करते हुए भी स्वयं उनके अनुसार आचरण न करे। ऐसा व्यक्ति जिन नैतिक निर्णयों अथवा नियमों का समर्थन करता है उन्हें वह अपने व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित नहीं करता, बतः यह स्पष्ट है कि उसके लिए ये निर्णय या नियम परामर्शात्मक अथवा मार्गदर्शक नहीं हो सकते । हेयर के सिद्धांत के विरुद्ध यही आपत्ति उठाते हुए ए० सी० मैकिन्टायर कहते हैं कि "एक मनुष्य किसी नैतिक निर्णय के संबंध में अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त कर सकता है, किंतु यह संभव है कि वह अपने कर्म के मार्गदर्शन के लिए इसका प्रयोग न करे।" यहां गहू उल्लेखनीय है कि अपनी इस आपत्ति में मैकिन्टायर मनुष्य की नैतिक दुर्बलता की ओर संकेत नहीं कर रहे है जिसके कारण वह चाहते हुए भी अपने नैतिक नियमों के अनुरूप आचरण नहीं कर पाता। हम देख चुके हैं कि हेयर ने नैतिक दुर्बलता संबंधी इस बापत्ति का विस्तारपूर्वक समुचित उत्तर दिया है और मंकिन्टायर भी यह स्वीकार करते हैरि इस आपत्ति के आधार पर उनके सिद्धांत का खंडन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः मैकिन्टायर के मतानुसार मनुष्य के लिए यह संभव है कि वह शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से समर्थ होते हुए भी उन नैतिक नियमों अथवा निर्णयों के अनुरूप आचरण न करे

जिन्हें वह सचमुच निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है। परन्तु उनकी यह मान्यता उचित एवं मुक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती, स्पोंकि मनुष्य द्वारा किसी नैतिक नियम को वास्तव में स्वीकार करने का अर्थ यही है कि वह उचित अवसर बाने पर अपनी सामर्थ्यानुसार उस नियम के बनुरूप आचरण करने का प्रयास अवश्य करेगा। यदि वह ऐसा नहीं करता तो सष्टतः इसका अर्थ यही है कि उसने उस नियम को सचमुच स्वीकार नहीं किया। जो व्यक्ति अपने नैतिक नियमों के अनुसार बाचरण न करके केवल उनका शाब्दिक समर्थन करता है उसे निश्चय ही निष्ठावान मनुष्य नहीं कहा जा सकता। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि हेयर के सिद्धान्त के विरुद्ध मंकिन्टायर को उपर्युक्त बापत्ति उचित नहीं है।

मंकिन्टायर के अतिरिक्त एक अन्य दार्शनिक जी०सी० करनर ने भी नैतिक निर्णयों के वयं की व्याख्या के सम्बन्ध में हेयर के सिद्धान्त के विरुद्ध एक विशेष बशपत्ति उठाई है जिस पर यहां विचार करना आवश्यक है। करनर का कथन है नैतिक निर्णयों के दो प्रकार के अयं स्वीकार करके हेयर ने बहुत बड़ी भूल की है। हम देख चुके हैं कि हेयर के अनुसार प्रत्येक नैतिक निर्णय के दो अर्थ होते हैं–मुख्य मूल्यात्मक अर्थ बऔर गौण वर्णनात्मक अर्थ। परन्तु करनर का रत है कि हेयर की यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि कोई भी कथन एक ही सार मूल्यात्मक तथा वर्णनात्मक ये दोनों कार्य नहीं कर सकता। इसका कारण सहै कि वे दोनों कार्य एक–दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं बऔर इम बोनों की परीक्षा करते की कसोटियां भी बिल्कुल अलग–अलग होती है। ऐसी स्थिति में मह रहना उचित नहीं होना कि नैतिक निर्णय ये दोनों भिन्न–भिन्न कार्य एक ही मात्र सम्पन्न करते हैं। हेबर के सिद्धान्त के मिबद्ध अपनी इसी मापत्ति को सविस्तार स्पष्ट करते हुए करनर ने लिखा है– "यह वादचर्य की बात है कि हेयर ने स्टीवेन्सन के इस आधारभूत विचार को स्वीकार कर लिया कि नैतिक निर्णयों के दो प्रकार के अर्थ

होते हैं। उनका दावा केवल यही है कि वर्णनात्मक अर्थ के अतिरिक्त दूसरा अर्थ प्रवर्तक या संवेगात्मक न होकर परामर्शात्मक अथवा मूल्यात्मक ही होता है। वर्णन करना और भावनाएं जागृत करना ऐसी क्रियाएं है जो एक कवन में एक ही साथ उचित ढंग से सम्पन्न की जा सकती है। परन्तु क्या यही बात वर्णन करने तथा परामर्श देने के विषय में भी बड़ी जा सकती है? यह स्पष्ट है कि वर्णन और मूल्यांकन के मानदण्ड भिन्न–भिन्न होते हैं। वर्णनात्मक तथा मूल्यात्मक कथनों में भाषा का विभाजन उसी प्रकार भ्रामक है जिस प्रकार प्रत्यक्षवादियों का यह विचार कि केवल सरवणा– पनीय वर्णनात्मक तथ्यपरक वाक्य ही वास्तव में सार्थक हैं। जिस बात की आव– श्यकता है वह है बधिक सूक्ष्म विश्लेषण। यदि कसौटियां केवल वर्णनात्मक अर्थ के लिए ही हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मूल्यात्मक बर्य के लिए किसी प्रकार की कसौटियां हो ही नहीं सक्ती। इसका अर्थ यही होगा कि हम अपने मूस्योत्मक कथनों के लिए कोई कारण नहीं दे सकते। वस्तुतः हेयर ने वर्णनात्मक अर्थ और कसौटियों को एक ही मानकर भूल की है। बात यह नहीं है कि मूल्यात्मक निर्णय वर्णन करने के अतिरिक्त कुछ और भी करते हैं। ऐसे निर्णय बर्णन करते ही नहीं, यद्यपि यह सत्य है कि नैतिक निर्णय देने और वर्णन करने दोनों के लिए कसौटियों का प्रयोग किया जाता है। केबल यही कहकर छोड़ देगा कि नैतिक निर्णयों के वर्णनात्मक और मूल्यात्मक ये दो प्रकार के बर्थ होते है स्पस्टतः असन्तोषप्रद होगा। यदि हम इस बात की व्याख्यां नहीं करते कि इन दोनों वर्षों में क्या तारिक सम्बन्ध है तो हम यह नहीं समझ सकेंगे कि नैतिक निर्णयों के लिए तर्क देना कैसे संभव है। नैतिक निर्णयों के दो प्रकार के वयों में भेद के कारण ऐसी लाई उत्पन्न हो गई है जिसे तकों द्वारा भरा नहीं जा सकता। इस प्रकार हेयर के विरुद्ध करतर की मुख्य धापत्ति यह है कि वे नैतिक निर्णयों

के दो विभिन्न प्रकार के बयों को स्वीकार करके इन निर्णयों के वर्थ और प्रमाणीकरण की दोष व्याख्या नहीं कर पाते।

परंतु हेयर के सिद्धांत के विरुद्ध करनर की उपर्युक्तव्यपत्ति वास्तव में उषित और कर्करुव प्रतीत नहीं होती। इसका कारण बह है कि उन्होंने मंहिता किर्णकों में वर्णन तथा मूत्रनक वर्ष के क्यात और इन दोनों वयों के संबंध के विषय में हेयर के मत की जो व्याख्या की है वह बनुचित एवं वरामर्शवाद भ्रामक है। हेयर यह अवश्य मानते हैं कि प्रत्येक नैतिक निर्णय के दो प्रकार के अर्थ होते हैं। उन्होंने स्वयं स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि ये दोनों कार्य भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं और इन दोनों में भेद करना बहुत आवश्यक है। परंतु उनका कथन है कि नैतिक निर्णय के अर्थ की समुचित व्याख्या करने के लिए इसमें विद्यमान मूल्यात्मक तथा वर्णनात्मक दोनों अर्थों के पारस्परिक विशेष संबंध और इन दोनों के महत्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। जब हम कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो हम अपने इस निर्णय द्वारा निर्णीत वस्तु कान तो केवल मूल्यांकन करते हैं और न केवल वर्णन । हमारे इस निर्णय में उस वस्तु के कुछ विशेष गुणों का वर्णन और इन गुणों के आधार पर उसका मूल्यांकन ये दोनों ही अनिवार्यतः सम्मिलित रहते हैं जिनकी हम अलग–अलग व्याख्या कर सकते हैं। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "अमुक व्यक्ति एक अच्छा मनुष्य है" तो हम उनकी उदारता, ईमानदारी, सत्यवादिता आदि कुछ विशेष गुणों की बोर संकेत करते हैं और इन्हीं गुणों के आधार पर उसकी प्रशंसा करते हैं। हेयर का विचार है कि इन दोनों तत्त्वों का समुचित विश्लेषण करके ही हम उपर्युक्त नैतिक निर्णय के अर्थ को भली–भांति स्पष्ट कर सकते हैं और अन्य सभी नैतिक निर्णयों के अर्थ के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। नैतिक निर्णयों के वर्ष की व्याख्या के संबंध में उनका यह मत उचित ही प्रतीत होता है। करनर की इस मान्यता का समर्थन

करना बहुत कठिन है कि नैतिक निर्णयों का वर्णनात्मक अर्थ होता ही नहीं। इसके अतिरिक्त हेयर के विरुद्ध उनका यह आरोप भी उचित नहीं है कि हेयर के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर हम नैतिक निर्णयों के लिए कोई तर्क प्रस्तुत नहीं कर सकते। हम देख चुके हैं कि हेपर के मतानुसार किसी नैतिक निर्णय का मूल्यात्मक अर्थ अंततः उसके वर्णनात्मक अर्थ पर ही निर्भर रहता है और इस दृ ष्टि से इन दोनों प्रकार के जर्षों में अनिवार्य ताकिक संबंध होता है। नैतिक निर्णय के वर्णनात्मक अर्थ के आधार पर ही हम इस निर्णय के समर्थन में तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। यह वर्णनात्मक अर्थ ही नैतिक निर्णय को सार्वलौकिक बनाता है जिसके आधार पर हम उसे उचित सिद्ध कर सकते हैं। मैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के विषय में हेयर के इस मत का विस्तृत वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे इन निर्णयों के लिए तों की संभावना तथा उनके महत्त्व को सिंहः स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में उत्तके सिद्धांत के विश्द्ध करनर का यह बारोप उचित नहीं है कि इसके अनुसार हम अपने नैतिक निर्णयों के लिए कोई वृर्थ नहीं दे सकते। 312

अभी तक हमने मुख्यतः परामर्शात्मकता की वृष्टि से ही नैतिक निर्णयों के अर्थ के विषय में हेयर के मत के विरुद्ध कुछ आलोचकों की आपत्तियों पर विचार किया है। परंतु इन निर्णयों के अर्थ की दूसरी विशेषता अर्थात सार्वलौकिकता के संबंध में भी उनके सिद्धांत के विरुद्ध अनेक दार्शनिकों ने कुछ आपत्तियां उठाई हैं जिनकी यहां विवेचना करना आवश्यक है। उदाहरणार्य मैकिन्टायर हेयर की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते कि सभी नैतिक निर्णय अनिवार्यतः सार्वलौकिक होते हैं। उनका कथन है कि कुछ नैतिक निर्णय अवश्य ही सार्वलौकिक होते हैं, किंतु सभी नैतिक निर्णयों को सार्वलौकिक मान लेना उचित नहीं है। हेयर द्वारा सभी नैतिक निर्णयों को सार्वलौकिक मानने का मुख्य कारण यह है कि वे नैतिक

नियमों को विशेष महत्त्व देते है और इन नियमों तथा नैतिक निर्णयों में कोई मूल भेद स्वीकार नहीं करते। निश्चय ही सभी नियम– चाहे वे नैतिक हों या निनैतिक– अनिवार्यतः सार्वलौकिक होते हैं, किंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि सभी नैतिक निर्णयों का सार्वलौकिक होना भी अनिवार्य है। वस्तुतः मैकिन्टायर के विचार में जो नैतिक निर्णय नैतिक नियमों को अभिव्यक्त नहीं करते उनका सार्वलौकिक होना आवश्यक नहीं है। ऐसे अनेक नैतिक निर्णयों के उदाहरण दिए जा सकते हैं जिन्हें वक्ता स्वयं सार्वलौकिक मानने के लिए उद्यत नहीं होता। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि "मुझे युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए", किंतु इसके साथ ही वह यह भी कह सकता है कि "जो व्यक्ति युद्ध में भाग लेते हैं उनकी आलोचना या निन्दा करना मेरे लिए उचित नहीं होगा।" ऐसा व्यक्ति यह मान सकता है कि उसे दूसरों को युद्ध में भाग लेने से रोकने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसी स्थितियों में यह स्वयं एक नैतिक समस्या हो जाती है कि वह केवल अपने लिए निर्णय करे अथवा अन्य व्यक्तियों के संबंध में भी नैतिक निर्णय दे। 54 इस प्रकार मैकिन्टायर हेयर के इस मत को अस्वीकार करते हैं कि सभी नैतिक निर्णय अनिवार्यतः सार्बलौकिक होते हैं।

परंतु हेमर के सिद्धांत के विरुद्ध मैकिन्टायर की उपर्युक्त आपत्ति उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि सार्वलौकिकता नैतिक निर्णयों की जमिवार्य विशेषता है। यदि कोई व्यक्ति अपने किसी कथन को सार्वलौकिक मानने के लिए उच्चत नहीं होता तो उसके इस कथन को 'व्यक्तिगत निर्णय' ही कहा जा सकता है, 'नैतिक निर्णय' नहीं। हेयर का यह मत उचित है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय परामर्शबाद

समान परिस्थितियों में सभी समान व्यक्तियों पर अवश्य लागू होता है और उसकी यही सार्बलौकिकता उसे व्यक्तिगत निर्णयों से पृथक करती है। मैकिन्टायर ने जो उदाहरण दिया है उसे अनुचित सिद्ध करने के लिए हेयर निम्नलिखित तर्क

दे सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने संबंध में यह नैतिक निर्णय देता है कि उसे युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए तो वह तार्किक दृष्टि से यह स्वीकार करने के लिए प्रतिबद्ध है कि समान परिस्थितियों में उस जैसे अन्प व्यक्ति को युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए। यदि वह यह स्वीकार नहीं करता तो उसके निर्णय को वास्तव में 'नैतिक निर्णय' की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि समान परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न नैतिक निर्णय देना ताकिक व्याघात है। मैकिन्टायर के मत के विरुद्ध हेयर का यह तर्क उचित और युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त आपत्ति के अतिरिक्त मैकिन्टायर ने हेयर के सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई है कि उनका सार्वलौकिकता का नियम वास्तव में 'तार्किक नियम' न होकर 'नैतिक नियम' ही है। हम विस्तार से यह बता चुके हैं कि हेयर सार्वलौकिकता के नियम को 'ताकिक नियम' मानते हैं, क्योंकि उनके अनु– सार प्रत्येक नैतिक शब्द के अर्थ में ही सार्वलौकिकता का तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। परंतु मैकिन्टायर का कथन है कि "संगति से संबंधित मांग वस्तुतः नैतिक आवश्यकता है, ताकिक आवश्यकता नहीं। हम नैतिक असंगति के लिए मनुष्य को शायद दोषी मानते हैं, किंतु जो कुछ बह कहता है उसे हम निरर्थक नहीं मानते। यह 'नैतिकता' के अर्थ का अंश नहीं है कि नैतिक निर्णय सार्वलौकिक होते हैं, परंतु उदारवादी लोग 'नैतिकता' शब्द का प्रयोग इस प्रहार करते हैं कि इसे इस शब्द के अर्थ का अंश बना दिया जाता है।"55 नैकिस्टायर का विचार है कि हेयर ने बास्तव में अपनी उदारवादी नैतिक मान्यता को ही नैतिक निर्णयों की तार्किक आवश्यकता मान लिया है जो उचित नहीं है। परंतु हेयर के विरुद्ध उनके इस आरोप का समर्थन करना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि हेयर स्वयं नैतिक निर्णयों से संबंधित अपने विश्लेषण हो पूर्णतः तटस्थ मानते हैं। उनका उद्देश्य उसी रूप में नैतिक शब्दों तथा निर्णयों का अर्थ

स्पष्ट करना है जिस रूप में हम इनका प्रयोग करते हैं। वस्तुतः इसी तथ्य को ध्यान में रखते हमें हेयर के सिद्धांत की परीक्षा करनी शाहिए, उनकी नैतिक मान्यताओं के आधार पर नहीं। वार्शनिक के रूप में हमारे लिए इस प्रश्न का कोई महत्व नहीं है कि हेयर की नैतिक मान्यताएं क्या हैं; हमें जिस प्रश्न पर विचार करना है वह केवल यही है कि उन्होंने नैतिक शब्दों तथा निर्णयों के अर्थ का जो विश्लेषण किया है वह उचित और तर्कसंगत है या नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर उनका यह मत उचित प्रतीत होता है कि नैतिक निर्णय अनिवार्यतः सार्वलौकिक होते हैं और सार्वलौकिकता का नियम वास्तव में 'तार्किक नियम' है।

नैतिक निर्णयों के अर्थ की भांति इन निर्णयों के प्रमाणीकरण के संबंध में भी हेयर के सिद्धांत की कुछ दार्शनिकों ने तीव्र आलोचना की है। इन दार्श निकों में जी० जे० वारनॉक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वारनांक का कथन है कि संवेगवाद की भांति हेयर के सिद्धांत में भी नैतिक निर्णयों को उचित या अनुचित सिद्ध करने के लिए वास्तविक तकों का कोई विशेष स्थान नहीं है। यह सत्य है कि स्टीवैन्सन के विपरीत हेयर नैतिक निर्णयों के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले तकों को केवल 'मनोवैज्ञानिक तर्क' नहीं मानते। वे इन निर्णयों तथा इनके समर्थन में दिये जाने वाले तर्कों में ताकिक संबंध स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से उनका सिद्धांत स्टीवैन्सन के सिद्धांत की अपेक्षा निश्चय ही अधिक संतोषप्रद है। परंतु वारनॉक का मत है कि हेयर के सिद्धांत के अनुसार केवल सार्वलौकिकता के तत्त्व के आधार पर ही नैतिक निर्णयों के समर्थन में तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसी कारण हेयर सार्वलौकिकता के इस तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि नैतिक निर्णय देने वाले व्यक्ति के लिए सार्वलौकिकता के नियम को स्वीकार करना अनिवार्य है– अर्थात् वह अपने इस निर्णय को समान परिस्थितियों में स्वयं अपने ऊपर तथा अन्य सभी व्यक्तियों पर लागू करने के लिए

तार्किक दृष्टि से प्रतिबद्ध है। इसी आधार पर बह अपने नैतिक निर्णय को उचित सिद्ध कर सकता है। यदि वह सार्वलौकिकता के इस नियम को स्वीकार नहीं करता तो उसके नैतिक निर्णय को भी उचित नहीं माना जा सकता । नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के लिए स्वयं वारनॉक भी इस नियम के महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि अनेक व्यक्ति इस नियम के विरुद्ध आचरण करते हुए समान परिस्थितियों में भिन्न– भिन्न नैतिक निर्णय देने की भूल करते हैं जिसके कारण उनके इन निर्णयों को तार्किक दृष्टि से निश्चय ही उचित नहीं माना जा सकता ।

परंतु बारनॉक का विचार है कि सार्वलौकिकता का यह नियम किसी नैतिक निर्णय को उचित सिद्ध करने के लिए एकमात्र पर्याप्त आधार नहीं हो सकता जैसा कि हेबर मानते हैं। यह नियम हमें केबल इतना ही बता सकता है कि किसी व्यक्ति के नैतिक निर्णय में वस्तुतः संगति विद्यमान है या नहीं। दूसरे धाब्दों में, इस नियम की सहायता से हम केवल यही जान सकते हैं कि कौन–सा नैतिक निर्णय सुसंगत है और कौन–सा असंगत। सार्वलौकिकता का नियम हमें इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं बताता। वह हमें यह नहीं बताता कि कोई इंतिक निर्णय वास्तव में उचित है या अनुचित। सार्वलौकिकता के नियम के विरुद्ध अपनी इसी आपत्ति को स्पष्ट करते हुए बारनॉक कहते हैं कि "मैं जो नैतिक निर्णय देता हूं उस पर सार्वलौकिकता की दृष्टि से विचार करना यह प्रश्न उठाना नहीं है कि क्या मेरा यह निर्णय उचित है, अपितु केवल यही प्रश्न उठाना है कि क्या यह बही निर्णय है अथवा उन निर्णयों के समान है जो मैं इसी प्रकार के अन्य मामलों के संबंध में देता हूं या दूंगा। 50 इस प्रकार वारनोंक के अनुसार सार्वलौकिकता के नियम का क्षेत्र बहुत सीमित है। इसी कारण वे यह मानते है कि केवल इस

नियम के आधार पर नैतिक निर्णयों को उचित या अनुचित सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

वस्तुतः सार्वलौकिकता के नियम के विरुद्ध बारनांक की मूल आपत्ति यह है कि इस नियम के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने किसी भी नैतिक निर्णय का तर्कसंगत रूप से समर्थन कर सकता है। हम देख चुके हैं कि यह नियम नैतिक निर्णयों के लिए केवल संगति को ही आवश्यक मानता है। बारनोंक के मतानुसार इसका अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति अपने नैतिक निर्णय में संगति बनाए रखता है अर्थात् वह समान परिस्थितियों में सवा बही निर्णय देता है अथवा देने के लिए तैयार होता है तो हम उसके इस निर्णय के विरुद्ध तार्किक दृष्टि से कोई आपत्ति नहीं कर सकते– फिर चाहे उसका यह निर्णय कितना ही अनु– चित एवं आपत्तिजनक क्यों न हो। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि "काले व्यक्तियों के साथ केवल उनके रंग के आधार पर भेदभाव किया जाना चाहिए" बऔर यदि वह अपने इस निर्णय को सभी काले व्यक्तियों पर जिनमें वह स्वयं भी सम्मिलित है– समान रूप से लागू करने के लिए उच्चत होता है तो सार्वचौकिकता के नियम के अनुसार हुन उसके इस निर्णय की अनुचित नहीं कह मस्ते। इसका कारण यह है कि उसके उक्त निर्णय में कोई तार्किक असंगति विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि "बोरी करने हाने प्रत्येक व्यक्ति के हाथ काट दिये जाने चाहिएं" और यदि वह समान परि स्थितियों में इस निर्णय को स्वयं अपने पर तया नन्य सभी व्यक्तियों पर लागू करने के लिए अपने आपको ताकिक दृष्टि से प्रतिबद्ध मानता है तो सार्वलौकिकता के नियम को ध्यान में रखते हुए हमें उसके इस निर्णय को उचित मानना पड़ेगा। सष्टतः इसका अर्थ यही है कि इस नियम के आधार पर मनुष्य अपने किसी भी

नैतिक निर्णय को ताकिक दृष्टि से उचित सिद्ध कर सकता है। वारनॉक के शब्दों में : "मेरे सभी प्रतिमान तथा नियम आपको अत्यंत आपत्तिजनक प्रतीत हो सकते है; परंतु यदि मैं उन्हें प्रत्येक मामले में संगतिपूर्वक लागू करता हूँ तो इस प्रकार के तर्क के आधार पर उनकी आलोचना बिल्कुल नहीं की जा सकती। यह कहना सरल है कि व्यावहारिक जीवन में सिद्धांततः किसी भी नैतिक निर्णय को – चाहे वह कितना ही आपत्तिजनक क्यों न हो– संगतिपूर्वक सार्वलौकिक बनाया जा सकता है और इस प्रकार उक्त नियम पर आधारित तर्क द्वारा उमे अनुचित सिद्ध नहीं किया जा सकता। "57 मुख्यतः इसी कारण वारनॉक यह मानते हैं कि सार्वलौकिकता का नियम नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिये जाने बाले तों का संतोषप्रद आधार नहीं हो सकता ।

हेयर के सिद्धांत के विरुद्ध वारनॉक ने ऊपर जो आपत्ति उठाई है उसका उत्तर स्वयं हेयर ने अपनी दूसरी पुस्तक– 'फीडम ऐंड रीजन' के अन्त में देने का प्रयास किया है। वे यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के लिए तार्किक दृष्टि से किसी भी नैतिक निर्णय को सार्वलौकिक बनाना संभव है। परन्तु उनका कथन है कि कोई भी 'विवेकशील' व्यक्ति सामान्य परिस्थितियों में स्वयं अपनी इच्छात्रों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा डालने और अपने हितों को हानि पहुंचाने के लिए उद्यत नहीं होगा। ऐसी स्थिति में वह ऐसे किसी नैतिक निर्णय अयवा नियम को स्वीकार नहीं करना चाहेगा जो सार्वलौकिक हो जाने पर स्वयं उसके अपने हितों के विरुद्ध हो। विवेकशील होने के कारण वह केवल ऐसे नियमों या निर्णयों का ही समर्थन करना चाहेगा जो सार्वलौकिक बना दिए जाने पर स्वयं उसकी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूति में सहायक हों। यदि कोई व्यक्ति ऐसा नहीं करता तो हेयर उसे 'विवेकशील मनुष्य' न मानकर 'हठधर्मी' की संज्ञा देते हैं। संभवतः वे यह भी कहना चाहेंगे कि सामान्य परि स्थितियों में स्वयं अपने हितों के

विरुद्ध किसी निर्णय या नियम को स्वीकार करके उसे सार्वलौकिक बनाने वाले ऐसे 'हठधर्मी' व्यक्तियों की संख्या संसार में लगभग नगण्य है। अधिकतर व्यक्ति ऐसे ही हैं जो उस नैतिक नियम अथवा निर्णय को सार्वलौकिक नहीं बनाना चाहेंगे जो उनके अपने हितों के विरुद्ध है और उनकी अपनी मूल आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूति में बाधक सिद्ध होता है। ऐसे विवेकशील व्यक्ति दूसरों की इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की ओर भी अवश्य ही उचित ध्यान देंगे 58 इस प्रकार हेयर के मतानुसार हमारे व्यावहारिक जीवन में इस बात की संभावना बहुत कम है कि सामान्य परिस्थितियों में कोई विवेकशील व्यक्ति स्वयं अपने हितों के विरुद्ध किसी मैतिक निर्णय या नियम को सार्वलौकिक निर्णय अथवा नियम के रूप में स्वीकार करे।

परन्तु वारनॉक को हेयर का उपर्युक्त उत्तर संतोषप्रद प्रतीत नहीं होता। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि कोई भी विवेकशील व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की पूति में बाधा डालना और अपने हितों को हानि पहुंचाना नहीं चाहता। परन्तु उनका कथन है कि हमारी मूल समस्या यह नहीं है कि मनुष्य क्या चाहता है और क्या नहीं चाहता; हमारे समक्ष मूल प्रश्न यह है कि वह नैतिक दृ ष्टि से किस निर्णय का अनुमोदन करता है और किसे आपत्तिजनक मानता है। ये दोनों प्रश्न निश्चय ही एक–दूसरे से भिन्न हैं। हेयर के सिद्धान्त के विरुद्ध अपने इसी तर्क को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए वारनॉक कहते हैं कि "यदि मैं किसी ऐसे कर्म की प्रशंसा करता हूं अथवा उसे उचित कहता हूं जो दूसरे व्यक्ति के हितों को अत्यधिक हानि पहुंचाता है तो आपका मुझसे यह कहना निस्संदेह उचित होगा कि यदि मेरे हितों को इस प्रकार हानि पहुंचाई जाए तो मैं इसे पसंद नहीं करूंगा। परन्तु मैं इम बात को स्वीकार करते हुए भी यह कह सकता हूं कि यदि

हमारी स्थितियां उलट जाएं तो दूसरे व्यक्ति के लिए भी मेरे हितों को हानि पहुंचाना ठीक उसी प्रकार उचित होगा जिस प्रकार अब मैं उसके हितों को हानि पहुंचाना बाहता हूं।"59 इस प्रकार अपने उपर्युक्त तर्क द्वारा वारनॉक ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि हेयर का सार्वचौकिकता का नियम नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण के लिए पर्याप्त और संतोषप्रद आवार नहीं है।

मेरे विचार में विशुद्ध तार्किक दृष्टि से हेयर के सिद्धांत के विरुद्ध वारनॉक की उपर्युक्त बापत्ति उचित हो सकती है, किंतु मनुष्य की मूल आवश्यकताओं तथा उसके स्वभाव को ध्यान में रखते हुए हेयर के मत का समर्थन करना हो उचित प्रतीत होता है। सामान्य परिस्थितियों में कोई भी विवेकशील व्यक्ति अपने हितों को हानि नहीं पहुंचाना चाहता, अतः वह वास्तव में ऐसे किसी नैतिक निर्णय को सार्वलौकिक नहीं बनाना चाहेगा जो उसकी अपनी मूल आवश्यकताओं तया इच्छात्रों की पूति में बाधक सिद्ध हो। यदि कोई व्यक्ति ऐसे निर्णय को सार्वचौकिक बनाने की बात करता है तो यह अत्यन्त संदेहास्पद है कि वह उसे सचमुच सार्वलौकिक बनाना चाहता है। इस दृष्टि से कान्ट का अनुसरण करते हुए हेयर ने नैतिक निर्णयों के औचित्य अथवा प्रमाणीकरण के लिए सार्वलौकिकता संबंधी जो मानदंड प्रस्तुत किया है वह पर्याप्त सीमा तक संतोष– प्रद प्रतीत होता है।

हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि नैतिक निर्णयों के अर्थ और प्रमाणीकरण के विषय में नावलस्मिथ का मत हेयर के मत से अधिक भिन्न नहीं है, अतः हेयर के सिद्धांत की आलोचना के संदर्भ में ऊपर जो कुछ कहा गया है वह नावलस्मिथ के सिद्धांत पर भी लागू होता है। परन्तु कुछ दार्शनिक नावलस्मिथ के इस मत का समर्थन करते हैं कि नैतिक भाषा वर्णनात्मक, संवेगात्मक या परामर्शात्मक र होकर बहु–पक्षीय अथवा बहु–उद्देशीय होती है। उदाहरणार्थ वारनांक इस दृष्टि से नावलस्मिथ के सिद्धांत को हेयर के सिद्धांत की

अपेक्षा अधिक संतोषजनक मानते हैं। नावलस्मिथ के मत का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि विविध प्रसंगों में नैतिक भाषा भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य करती है, अतः उसे किसी एक ही कार्य तक सीमित कर देना अनुचित है। ७० परन्तु यहां यह मूल प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या नैतिक भाषा को 'बहु–पक्षीय' कह देने मात्र से वास्तव में उसके स्वरूप की ठीक–ठीक व्याख्या हो जाती है। मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर नकारा त्मक ही हो सकता है। यह कहना कि नैतिक भाषा के बहुत–से भिन्न–भिन्न कार्य हैं उसके वास्तविक स्वरूप के संबंध में हमें कोई स्पष्ट तथा निश्चित जानकारी प्रदान नहीं करता। हम यह जानना चाहते हैं कि नैतिक भाषा निर्देतिक भाषा से किस प्रकार भिन्न होती है। परन्तु जहां तक मुझे ज्ञात है, नावलस्मिथ इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और संतोषप्रद उत्तर नहीं देते। ऐसी स्थिति में इस दृष्टि से उनके सिद्धांत को हेयर के सिद्धांत की अपेक्षा अधिक संतोषजनक तथा युक्ति– संगत मानना बहुत कठिन है।

1मस्या का सामना करना पड़ता है। इस समस्या का समाधान करने के लिए कुछ दार्शनिक केवल उपयोगिता को और कुछ अन्य दार्शनिक केवल आदर्श को ही मानवीय कर्मों के औचित्य का आधार स्वीकार करते हैं। हेयर के उपर्युक्त विचारों में यह स्पष्ट है कि वे इन दोनों प्रकार के दार्शनिकों के मत को एकांगी मानते हैं। परन्तु वे इस कठिन समस्या का कोई संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके कि आदर्श तथा उपयोगिता में संघर्ष होने पर मनुष्य को इन दोनों में से रिस के अनुसार आचरण करना चाहिए। वस्तुतः मानव–स्वभाव की जटिलता और परिस्थितियों की विविधता को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि इस कठिन समस्या का कोई सर्वमान्य एवं पूर्णतः संतोषजनक समाधान प्रस्तुत करना संभव प्रतीत नहीं होता ।

3.4 सारांश

3.5 शब्दार्थ सूची

3.6 सन्दर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें

5. बी० जे० बारनांक, 'कन्टेम्प्रेरी मॉरल फिलॉसॉफी', १० 45

58. आर एम देवर, 'फोडम' ऐंड रोजन', पु० 193, 195

36. बी० के० बारगांड, 'कन्टेमोरी मॉरल प्रितिक्री', ५० 43

14. ए० ची मेकिस्टाबर का लेख, 'स्ट मरिनिटी इच नाट', बी० बेचेच तथा ए० डी०एम० नारद्वारा सम्पादित 'दि चिनिन निरिनिटी में संशित० 29–30

53. की दो करगर, 'हिरोइन कि यो पु० 148, 159, 166

50. जी० जे० बारलोक, 'कन्दैम्मेरी मॉरल फिलॉसॉफी', १५० 34–35

39. पी० एच० नावलस्मिथ, 'ऐधिक्त' पु० 141–142

27. पी० एच० नावलस्मिथ, 'ऐमिक्स', पृ० 277–278

,,,,. 'शीडम ऐंड रीजन', पु० 30, 32–33

21. दि संग्वेज ऑफ मॉरल्छ', पु० 69–70

11. 'दि लेग्वेज थ्रॉऊ मारल्छ', पृ० ३

,,०. 'कीडम ऐंड रीजन', पु० 68, 82, 84

6. आर० एम० हेयर, 'फ्रीडम ऐ जन', पृ० 7–8

1. आर० एम० हेयर, 'फीडम ऐंड रोजन', पृ० 97, 192

2. बार० एम० हेयर, 'दि लैंग्वेज ऑफ़ मॉरल्ल', पृ०

3.7 बोध प्रश्न